सूची-पत्र

विषय	पृ० सं०

विषय	पृ० सं०
अष्टछाप	२३३—२३४
अज्ञेय-दिनकर	२३४—२३५
प्रसाद	२३५—२३७
निराला	२३७—२३६
महादेवी वर्मा	२३६—२४०
मैथिलीशरण	२४०—२४१
रामचन्द्र शुक्ल	२४२—२४३
जैनेन्द्र	२४३—२४४
पन्त	२४५—२४६
बेनीपुरी	२४६—२४७
बच्चन	२४७—२४८

दो शब्द

छात्रों की प्रार्थना और मित्रों की प्रेरणा ने मुझे इस पुस्तक के प्रस्तुत संस्करण की रचना के लिए बाध्य किया। ठीक भी हुआ। यदि प्रेरित नहीं होता तो पुस्तक-रचना जैसा दुरूह, कठिन और कष्टसाध्य कार्य सम्भव नहीं होता। छात्रों का आत्मसंतोष मेरा लक्ष्य है, अतः इस प्रयास में विशेषत: उनके उद्देश्य की पूर्ति को ही मैंने अपना लक्ष्य बनाने का प्रयत्न किया है। इस कृति के सृजन में हमारे अन्तरंग मित्र लालबहादुर सिंह, किशोरी रमण तथा अन्य मित्रों ने पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है। इस सहयोग के लिये उन्हें धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता।

हिन्दी साहित्य कई वर्षों के अनुभव का सचित कोष है। सुदीर्घकालीन इतिहास को एक संक्षिप्त पुस्तक में सचित कर देना मेरा दुस्साहस ही है। यह दुस्साहस तभी साहस में परिणत हो सकेगा, जब पुस्तक अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल सिद्ध हो।

पुराने तथा नये खेमे के कुछ हिन्दी सेवियों के नाम इस पुस्तक में नहीं आ सके हैं, इसमें मेरी विवशता है, इसके लिये वे मुझे छमा करें।

अन्त में मैं उन सभी हिन्दी शिक्षकों एवम् विद्यालय-अधिकारियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मेरी सफलता में सहयोग प्रदान किया है और इस पुस्तक के तृतीय सस्करण के प्रकाशन के लिए उद्बोधित किया।

इस पुस्तक को विद्यार्थियों के लिए अधिकाधिक उपयोगी बनाने की चेष्टा की गई है। अगर विद्यार्थी समाज इससे लेश मात्र भी लाभान्वित हुआ तो मैं अपना परिश्रम सार्थक और सफल समझूँगा।

कलकत्ता
६-२-६७

अवनीश

काल विभाजन

प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की भावनाओं का सचित प्रतिबिम्ब है। मानव चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य की प्रवृत्तियों तथा उसके स्वरूप में भी परिवर्तन आते रहते हैं। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका मेल दिखलाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। हिन्दी साहित्य में भी मानव की विचार-धाराओं का प्रतिबिम्ब एकत्र है।

हिन्दी साहित्य का अधिकांश भाग सत्यम्, शिवम् एवम् सुन्दरम् से आविष्ट है। यह नाना प्रकार के भावों को एक साथ स्पष्ट करने में समर्थ है। पाश्चात्य भावों को पचाने और आत्मसात करने की भी कुशलता हिन्दी साहित्य में पाई जाती है।

हिन्दी साहित्य की काव्यधारा कला और भाव दोनों दृष्टियों से सफल, महान तथा श्रेष्ठ है। 'वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्' के आदर्श का पालन करने में यह पूर्ण समर्थ है। छन्दगत, अलंकारगत, शैलीगत सभी प्रकार की कलात्मक विशिष्टताएँ हिन्दी साहित्य की अमरता सिद्ध करने में समर्थ हैं। इसमें वर्णिक और मात्रिक छन्दों की जैसी विविधता है वैसी किसी विदेशी साहित्य में नहीं मिलती। छन्द-गत और अर्थगत संस्कारों का विवेचन तथा नायिका-भेद आदि इसकी अपनी मौलिकता है। संगीतमयता, व्यंजनात्मकता, कोमलता, मानवीकरण आदि इसकी शैलीगत विशेषताएँ हैं।

हिन्दी साहित्य की विविधता इसकी विशेषता है। विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल हमारा साहित्य विविध रूप में हमारे सामने आता है। गद्यात्मक स्वरूपों में नाटक, उपन्यास, कहानी, पत्र-पत्रिका, निबन्ध, आलोचना, रेखाचित्र आदि सभी रूपों का समुचित विकास इसे विश्व के विकसनशील साहित्य में महान बनाने में सफल है। काव्य के क्षेत्र में भक्तिधारा, छायावाद, रहस्यवाद, राष्ट्रीयधारा, प्रगतिवाद आदि धाराएँ इस साहित्य के विशेष स्वरूप हैं।

उपर्युक्त वर्णित हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने में हमारे प्रसिद्ध विद्वानों ने प्रशंसनीय चेष्टाएँ की हैं। इसमें गर्सांदतासी, शिवसिंह सेंगर, जार्ज ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, आ० शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, डा० वर्मा, डा० द्विवेदी, श्री कृष्णलाल आदि के नाम प्रमुख हैं।

हिन्दी साहित्य के अध्ययन एवम् अध्यापन की सुविधा के लिये इसके इतिहास को विभिन्न विद्वानों ने कई कालों में विभक्त किया है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने

हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालों में बाँटा है —

आदिकाल, (वीरगाथा काल—सम्वत् १०५०-१३७५ तक)
पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल—सम्वत् १३७५-१७०० तक)
उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल—सम्वत् १७००-१९०० तक)
आधुनिक काल (गद्यकाल—सम्वत् १९०० से आज तक)

डा० रामकुमार वर्मा का विभाजन निम्नलिखित प्रकार का है :—

सन्धि काल (सम्वत्—७५०-१००० तक)
चारण काल (सम्वत्—१०००-१३७५ तक)
भक्ति काल (सम्वत्—१३७५-१७०० तक)
रीति काल (सम्वत्—१७००-१९०० तक)
आधुनिक काल (सम्वत्— १९०० से आज तक)

डा० श्यामसुन्दर दास के अनुसार हिन्दी साहित्य का इतिहास आ० शुक्ल के कालों में ही बाँटा जा सकता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य को आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल के रूप में विभाजित किया है।

उपर्युक्त सभी विभाजन आ० शुक्ल के आधार पर ही किये गये हैं। अपने विभिन्न मतों को प्रस्तुत करते हुए भी उन्होंने उनके मत को ही प्रधानता दी है।

अब प्रश्न यह उठता है कि काल विभाजन क्यों होना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर गम्भीरतापूर्वक देना चाहिये।

संसार परिवर्तनशील है। विभिन्न परिवर्तनों के साथ सामाजिक मानवों के विचार भी बदलते रहते हैं। प्रत्येक युग के वैचारिक परिवर्तनों के साथ साथ उस युग के साहित्यरूप में भी परिवर्तन होते हैं। एक युग में वीरता प्रमुखता ग्रहण कर लेती है तो दूसरे युग में शृ गारिकता। इन सभी परिवर्तित चित्तवृत्तियों का अलग-अलग अध्ययन सभी छात्रों एवम् पाठकों के लिये आवश्यक है। यह आवश्यकता तभी पूर्ण हो सकती है जब हम सभी विचारधाराओं के साहित्य को अलग अलग रख कर देखें।

विश्व के सभी साहित्य के इतिहास को विभिन्न कालों में बाँटा गया है। पाश्चात्य इतिहासकारों ने अपने अपने विभाजन की सार्थकता भी बतलाई है। अंग्रेजी में भी चासर युग, विक्टोरिया युग, शेक्सपियर युग तथा एलिजबेथ, मिडियाभेल तथा माडर्न युग आदि के उल्लेख हुए हैं। ये सभी युग सामाजिक परिवर्तन और व्यक्तित्व की विशिष्टता के द्योतक हैं।

काल विभाजन की महत्ता तथा सार्थकता को हम एक वैज्ञानिक उदाहरण से व्यक्त कर सकते हैं। हवा में नाना प्रकार की गैसें होती हैं। सभी गैसों के

सम्मिश्रण को हम हवा कहते हैं, किन्तु जब इस हवा का विश्लेषणात्मक ज्ञान प्राप्त करना होता है तो अनुसन्धानशाला में हवा के विभिन्न अवयवों को अलग-अलग करके देखा जाता है। अनुसंधान तथा प्रयोग के पश्चात् बतलाया जाता है कि उसमें ऑक्सीजन गैस कितनी है, नाईट्रोजन कितनी है, कार्बन डाई आक्साइड कितनी है, जलवाष्प कितनी है आदि। इस प्रकार हवा का ज्ञान विभिन्न विभाजनों से पूर्ण होता है। इस प्रकार हिन्दी का विभाजन भी पूर्ण वैज्ञानिक एवम् सार्थक है। बिना विभाजन के हम इसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का सम्यक और समुचित ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते।

नामकरण

नामकरण के कारणों पर भी प्रकाश डाल देना चाहिये। नामकरण के प्रमुख चार सिद्धान्त या आधार बतलाये गये हैं :—

प्रवृत्ति, समय, व्यक्तित्व, शैली।

जिस युग में अधिकांशतः सभी कलाकारों की जो मुख्य प्रवृत्ति होती है उसी के आधार पर उसका नामकरण होता है। यह कहने का अभिप्राय यह नहीं कि इस विशेष युग में अन्य प्रवृत्तियाँ लक्षित नहीं होतीं, अन्य प्रवृत्तियाँ भी साथ-साथ चलती हैं, किन्तु इनका स्थान गौण होता है। (majoriy should be granted) के आधार पर प्रमुख प्रवृत्ति ही नामकरण का आधार बनती है। हिन्दी साहित्य के वीर-गाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल, छायावाद रहस्यवाद आदि युग प्रवृत्तिगत हैं।

समय के आधार पर भी साहित्य का इतिहास विभाजित किया जाता है। समय मुख्यतः तीन युगों में बाँटा जाता है—प्राचीन, मध्य और आधुनिक। इसी के अनुसार प्राचीन युग में रचित साहित्य को प्राचीनयुगीन साहित्य, मध्ययुग में लिखित साहित्य को मध्ययुगीन साहित्य और आधुनिक युग में लिखित साहित्य को आधुनिकयुगीन साहित्य कहते हैं।

नामकरण के आधार —
१—प्रवृत्ति
२—समय
३—व्यक्तित्व
४—शैली

किसी भी साहित्य के मुख्य कलाकार की प्रमुखता ग्रहण कर लेते हैं। विशिष्ट कलाकारों के आधार पर ही कुछ वर्षों तक उनके अनुसार साहित्य सृजन होता रहता है। जब तक उनके आदर्शों का पालन होता रहता है तब तक के साहित्य का नामकरण उनके नाम पर ही होता है। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु-युग द्विवेदी-युग, प्रसाद-युग, प्रेमचन्द-युग आदि नाम इसी मत का स्पष्टीकरण करते हैं। अंग्रेजी में भी शेक्सपीयर युग, विक्टोरिया युग आदि नाम इस सिद्धान्त की सार्थकता

सिद्ध करने में सफल हैं।

कभी-कभी साहित्य की किसी विधा पर भी किसी युग का नामकरण हो जाता है। जिस युग में जिस विधा या शैली की प्रमुखता होती है उस युग को तत्सम्बंधित नाम से सम्बन्धित कर देते हैं। हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में गद्यात्मक विधाओं की प्रमुखता है, अत इसका नामकरण हमारे आ० शुक्ल ने भी 'गद्यकाल' किया है।

नामकरण के उपर्युक्त सिद्धान्तों का विवेचन करने पर हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों के नामकरण की सार्थकता तथा उपयुक्तता पर भी दृष्टिपात कर लेना असगत नहीं होगा। हमारे साहित्य के इतिहासकारों ने प्राय सभी सिद्धान्तों का पालन करते हुए अपने साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन सभी सिद्धान्तो में प्रवृत्ति तीन युगों के नामकरण का माध्यम है और आधुनिक युग के साहित्यका सुविधाजनक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिये अन्य सभी सिद्धान्तों और आधारों का आश्रय ग्रहण किया गया है।

वीरगाथाकाल के अनेक नाम दिये गये हैं—आ० महावीर प्रसाद जी ने इसे बीज वपन-काल कहा, राहुलजी ने सिद्ध-सामन्त काल, एव श्री गणपति चन्द्रगुप्त ने प्रारम्भिक काल कहा है।

'वीरगाथा काल' नामकरण शौर्य और वीरता की प्रवृत्ति का प्रकाशन करता है। यह युग रासोयुग भी कहा जाता है क्योंकि इसमें लड़ाई-झगड़े की प्रमुखता है। 'रासो' का चाहे जो भी उत्पत्तिगत अर्थ लगाया गया हो, हमें तो यह 'रास' अर्थात् कलह' के अधिक निकट लगता है। 'कलह' 'युद्ध' 'वीरता' 'शौर्य' आदि सभी शब्द वीरगाथा काल की प्रवृत्ति की ओर सकेत करते हैं। वीरात्मक गाथाओं की मूल प्रवृत्ति, शौर्य के आधार पर इसका नाम वीरगाथा काल' अधिक तर्कसगत और उचित है। डा० रामकुमार वर्मा ने इसका नाम 'चारण-काल' रखा है। चारणो की प्रवृत्ति को देखते हुए यह नाम भी उपयुक्त ही है। चारणों की प्रवृत्ति अपने आश्रयदाताओं की वीरता का वर्णन करने की ओर थी, अत चारणकाल कहना भी प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। किन्तु वीरगाथा-काल नाम हिन्दी साहित्य के एक विशिष्ट प्रकार के साहित्य की अवहेलना करता है जिसे नाथ या सिद्ध साहित्य कहा गया है। इसी अवहेलना को सहानुभूति और उदारता में परिणत करने के लिये शायद हमारे प्रसिद्ध इतिहासकार डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस युग को आदियुग कहा है। आदियुग कहने से उस युग की सारी रचनाएँ—नाथ तथा सिद्ध साहित्य, वीर साहित्य तथा स्फुट साहित्य, इसके अन्तर्गत सम्मिलित हो जाती हैं।

भक्तिकाल निर्विवाद उपयुक्त और सर्वस्वीकृत नाम है। चारणो के पश्चात् भक्तिप्रधान विचारधारा की प्रमुखता रही और इसीलिये भक्तों की परम्परा में भक्तिप्रधान रचनाओ के एक युग को भक्तियुग कहा गया है। ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, रामभक्ति, कृष्णभक्ति आदि सभी धारायें भक्तिप्रधान भावो को संचित करती है, इसमें कोई संदेह नहीं, एतदर्थ वि० सं० १३७५ से १७०० तक के युग को भक्तियुग या भक्तिकाल कहना प्रवृत्ति के सिद्धान्त के औचित्य पर प्रकाश डालने में समर्थ है।

रीतिकाल भी प्रवृत्तिगत नाम है। इस नाम में लक्षणग्रन्थो की रचनाविधि की अविच्छिन्नता का पोषण होता है। प्राय दो सौ वर्षों तक लक्षण ग्रन्थों का बाहुल्य रहा, और इस प्रकार के लक्षण ग्रन्थो की रचना-विधि को संस्कृत में रीति कहा गया, अतः हिन्दी में भी इस रचना-पद्धति या विधान को रीति कहना तर्क सगत ही सिद्ध होता है। जिस युग में अधिकाशत' रीति प्रधान रचनाएँ होती रहीं, उसे रीतिकाल कहना प्रवृत्ति के आधार पर उपयुक्त और उचित है। आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस युग में अधिक शृङ्गारपूर्ण रचनाओ की प्रवृत्ति को देखते हुए इसे शृ गारकाल कहा है। यह भी प्रवृत्ति की ओर ही संकेत करता है।

आधुनिक युग विविध विचारधाराओं का युग है। नवीन सभ्यता, नवीन प्रकाश, नवीन संस्कृति तथा नवीन आदर्शो के आगमन से साहित्य में भी अनेक तथा बहुसंख्यक भावों ने प्रमुखता ग्रहण की। इन अनेक भावों का प्रतिनिधित्व कोई एक भाव नहीं कर सकता था। इसी सकट से बचने के लिए इस सम्पूर्ण युग को आधुनिक युग कहा गया। इसे गद्य-युग भी कहा गया है किन्तु गद्य-युग कहने का अर्थ पद्य को महत्व-हीन कर देना है। आधुनिक युग की पद्यात्मक धारा पर हम सब को गर्व है। पद्यात्मक साहित्य की भाव-गरिमा रस के मानस दल को खिला देती है। सन् १६२० से ४० तक का युग सब के अन्तर्मन को झकझोर देता है और सबमें राष्ट्रीयता, मोहकता, त्याग, दर्शन आनन्द आदि भावों का सृजन करता है। यह युग हमारे साहित्य का कलात्मक विकास और सुधार करने वाला है। इन कारणों से इस युग से गद्य को निकाल देने पर हमारा साहित्य अपूर्ण हो जायगा और यह कमना विदेशियों को ही नहीं हम भारतीयों को भी खलेगी, अतः इस युग का समग्र रूप से 'आधुनिक काल' नामकरण ही सार्थक है। इस सम्पूर्ण युग के भी-

युगों के नामकरण —
१—वीरगाथाकाल प्रवृत्तिके अनुसार
२—भक्तिकाल—प्रवृत्तिगत,
३—रीतिकाल—प्रवृत्तिगत
४—आधुनिककाल समयके अनुसार

कई भेद किये जा सकते हैं :—

(१) भारतेन्दु-युग, (२) द्विवेदी-युग, (३) प्रसाद या छायावाद-रहस्यवाद युग, (४) प्रगतिवाद—प्रयोगवाद युग।

उपर्युक्त सभी नामकरणों का संक्षिप्त वर्णन यही सिद्ध करता है कि हिन्दी-साहित्य अंग्रेजी, ग्रीक, रूसी आदि सम्य साहित्यों की भाँति विविध विचार-धाराओं का साहित्य है। इन विविध मोड़ोंवाले साहित्य का अध्ययन इसका इतिहास ही करा सकता है और इतिहास भी सफलतापूर्वक अध्ययन तभी प्रस्तुत कर सकता है जब इस सम्पूर्ण साहित्य को विभिन्न कालों या युगों में विभाजित कर दिया जाय।

सिद्ध एवम् नाथ साहित्य का परिचय

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक युग, वीरगाथा-युग, की चर्चा करने के पूर्व पृष्ठभूमि के रूप में इसके पूर्व साहित्य का ज्ञान कर लेना अधिक मान्य होगा। अधिकांश इतिहासकारों का यह विचार है कि इससे हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ स्वीकार करना अपने साहित्य का अपमान करना होगा। इस युग के पूर्व भी हिन्दी अपने अपभ्रंश रूप में पुष्पित और पल्लवित होती रही। राहुलजी ने हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ ही सिद्ध और जैन साहित्य से माना है। हम भी सिद्ध और जैन साहित्य से इसका प्रारम्भ मानते हैं, किन्तु अपनी सीमा के उल्लंघन के भय से इन इतिहास धाराओं का विशद विवेचन करने में असमर्थ हैं। फिर भी इसका संक्षिप्त उल्लेख कर देने से विषयान्तर दोष नहीं होगा।

सिद्ध साहित्य का प्रचलन वि० सं० ८१७ के आसपास हुआ। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में देश की बदली हुई परिस्थिति ने जिन नवीन भावनाओं की सृष्टि की, उन्हीं के परिणामस्वरूप सिद्ध साहित्य की रूप-रेखा तैयार हुई। मन्त्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने की युक्ति प्रचारित करने वाले साधक सिद्ध नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने वज्रयान धर्म का प्रचार किया। इन्होंने तन्त्र और हठयोग का अनुसरण किया। इन्होंने यह बतलाया कि प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन-यापन करना ही सिद्धि का सोपान है। सिद्ध कवियों का साधनातत्त्व संयम से प्रारम्भ होता है। इस संयम के सदाचार और मध्य मार्ग की अवस्था को 'महासुख' की अवस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। इनकी भाषा अपभ्रंश या सन्ध्या भाषा कहलाती है। सिद्ध साहित्य शृङ्गार तथा शान्त रस को दोहा-चौपाई आदि छन्दों में व्यक्त करता है। यह साहित्य दो रूपों में प्राप्त होता है—दोहा-कोश और चर्यापद।

सिद्धो की सख्या चौरासी बतलाई गई है। इनमें सरहपा, भूसुकपा आदि प्रसिद्ध है।

जैन साहित्य — हिन्दी साहित्य के आदिकाल में कुछ जैन सिद्धान्तवादियो ने भी अपनी साहित्य-सेवाओं के माध्यम से अपने विचारों का प्रचार किया। इन सहित्यकारो के भाव बड़े ही व्यापक है और इनकी शैली अत्यन्त विस्तृत है। इन्होने अपने साहित्य में तीर्थंकरो की जीवनियाँ प्रस्तुत की है और साथ ही साथ विश्व वर्णन, श्रावको का चित्रण तथा सासारिक वर्णन भी किया है। इन्होने 'जैन रामायण' 'हरिवश पुराण' में रामायण और महाभारत की एक विचित्र और प्रचलन से भिन्न कथा कही है। इस साहित्य में दार्शनिकता का वर्णन है। ससार की विविध वस्तुओ को विविध दृष्टिकोण से देखने से एक ऐसी उदार दृष्टि प्राप्त होती है जिससे विरोध की भावना हटती है और प्रेम का प्रसार होता है। मोक्ष इसका अन्तिम लक्ष्य है। मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग बतलाये गये है।

उपर्युक्त विचार जैन साहित्य में अपभ्रश भाषा में व्यक्त किए गये हैं। प्रेम-काव्य की रचना भी जैन साहित्यकारों ने की है। इनके प्रेम का भी लक्ष्य मोक्ष ही है। इस साधना के साहित्यकारो में स्वयभू देव तथा पुष्पदत का स्थान महत्व पूर्ण है। इनकी कृतियाँ भी उपयोगी हैं। भाषा की क्लिष्टता के कारण ये आज दुरुह है, नही तो भक्ति धाराओ में इनकी रचनाओ का आज भी अधिक महत्व होता।

नाथ सम्प्रदाय —सधिकाल के उत्तरार्द्ध में तथा वीरगाथाकाल के प्रारम्भ में वज्रयान की सहज साधना 'नाथ सम्प्रदाय' के रूप में पल्लवित हुई। यह सम्प्रदाय सिद्ध सम्प्रदाय का एक विकसित और शक्तिशाली रूप है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ माने जाते है। योगियों की इस शाखा में अश्लीलता और नग्नता नहीं आई, स्त्रियों का आगमन तो हुआ पर केवल परीक्षा के लिए। इसमें हठयोग की प्रधानता रही। वाह्य साधना का विरोध कर अन्त साधना का प्रचार करना इस साधना का मूल उद्देश्य रहा। यह योग ईश्वरवाद पर अवलम्बित है। नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थों में ईश्वरोपासना के वाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई है। घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर दिया गया है, वेदशास्त्र का अध्ययन व्यर्थ ठहरा कर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गई है, तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला साहित्य भक्तिमार्ग की ज्ञानाश्रयी शाखा के अधिक निकट है। 'नाद' और 'बिन्दु' शब्दों की व्याख्या से तथा परमात्मा की अनिर्वचनीयता की उक्ति से यह मत और स्पष्ट

हो गया है । इसकी भाषा का उदाहरण देखने पर भी यही सिद्ध होता है कि कबीर के सिद्धान्तों का आदि स्वरूप नाथ सिद्धान्त ही है ।

गंगा के नहाए कहो को नर तरिगे,
मछरी न तरी जाके पानी में घर है ॥

उपर्युक्त उदाहरण की भाषा कबीर की भाषा से कितनी निकट है, इसका हमें सहज अनुमान होता है ।

इस साहित्य के कवियों में गोरखनाथ या गोरक्षनाथ, चौरंगी नाथ आदि प्रमुख हैं ।

इस साहित्य ने राजनीति पर भी विचार किया है —

हिन्दू मुसलमान खुदाई के बन्दे,
हम जोगी न कोई किसी के छन्दे ॥

ढोलामारू —'ढोलामारू' की कथा राजस्थान की अत्यन्त प्रसिद्ध लोक-कथा है । यह कथा ऐतिहासिक आधार पर प्रतिष्ठित है । ढोला कछवाहा वंश के राजा नल का पुत्र था । मारवणी पूगल के राजा पिंगल की कन्या थी । इन्हीं ढोला और मारवणी के प्रेम का वर्णन बड़ी ही सुन्दर रीति से इस गाथा में किया गया है । यह कथा एक हजार वर्ष पुरानी है । इस पुस्तक में भी समय-समय पर परिवर्तन होते गये ।

'ढोला मारू रा दूहा' में प्रेम का बड़ा ही मनोहर दृश्य दिखलाया गया है । मारवणी का सन्देश, मारवणी का विरहवर्णन, प्रकृति का सजीव चित्रण आदि इस ग्रन्थ के कुछ रमणीय प्रसंग हैं, जो पाठकों के चित्त को आकृष्ट कर लेते हैं ।

'ढोलामारू रा दूहा, कुशल लाभ द्वारा रचित सरस कलाकृति है । इसकी भाषा सरल पश्चिमी हिन्दी है । इस भाषा में ब्रज-भाषा, गुजराती और राजस्थानी सभी की कुछ न कुछ विशेषताएँ मिलती हैं । इसकी शैली सहज प्रवाह-युक्त है । इसकी भाषा का अनुमान इस उदाहरण से लगाया जा सकता है '—

सोरठियो दूहो भलो, भलि मरवणी री बात ।
जोबन छाई घणभली, तारों छाई रात ॥

वीरगाथा काल

(सं० १०५०—१३७५ तक)

किसी भी युग का साहित्य उस युग की गतिविधियों से प्रभावित होकर ही चलता है। साहित्य पर युग की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। साहित्यकार जिस युग में पलता है, पुष्पित होता है उसका प्रभाव उस पर न पड़े, ऐसा आज तक न कभी हुआ है और न हो सकता है। हिन्दी साहित्य भी अपने देश की विविध परिस्थितियों से प्रभावित होता रहा है। हमारे वीरगाथाकालीन साहित्य को उत्पन्न होने में भी इस देश की राजनैतिक सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों का हाथ रहा है। इन परिस्थितियों के ज्ञान से परे रहकर इस युग के साहित्य का अध्ययन अधूरा रह जाएगा अतः उक्त परिस्थितियों का उल्लेख कर देना हमारा कर्तव्य है।

परिस्थितियाँ

राजनीतिक —राजनैतिक स्थिति की दृष्टि से भारतीय इतिहास में यह युग उथल-पुथल तथा अशान्ति का समय समझा जाता है। इस युग में मुसल्मानों के हमले उत्तर-पश्चिम की ओर से लगातार होते थे। इनके धक्के अधिकतर भारत के पश्चिम प्रान्त के निवासियों को सहने पड़ते थे, जहाँ हिन्दुओं के बड़े बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् राजपूतों के द्वेष एवम् संघर्ष से तथा मुसल्मानों के बर्बरतापूर्ण आक्रमणों से भारत की राजनैतिक एवम् सांस्कृतिक एकता नष्ट हो चुकी थी। कन्नौज, दिल्ली, अजमेर, अन्हलवाड़ आदि बड़ी-बड़ी राजधानियाँ स्वतंत्र एवम् स्वच्छन्द थीं। राठौर, पँवार, चन्देल, तोमर आदि वंशों का शासन था। ये राजे परस्पर युद्ध करने में सन्नद्ध थे। इनमें द्वेष, दर्प और मोहान्धता की इतनी अधिकता हो गयी थी कि कोई भी ऐसा वर्ष नहीं था जिसमें इन राजाओं में से किसी में पारस्परिक संघर्ष न होता हो। इस प्रकार परस्पर स्पर्द्धा एवम् द्वेष की दूषित भावनाओं के कारण ये स्वतंत्र राजे आपस में लड़-झगड़ कर अपनी राजनैतिक एकता को खोते जा रहे थे। लड़ाई किसी आवश्यकतावश नहीं होती थी। कभी-कभी तो शौर्य प्रदर्शन मात्र के लिये यों ही लड़ाई मोल ली जाती थी। इधर एक तरफ हिन्दू राजे आपस में कटते मरते थे तो दूसरी तरफ मुसल्मानों के आक्रमण भी हो रहे थे। काश्मीर और कन्नौज, कन्नौज तथा मगध, कन्नौज और गुर्जर आदि देशों में भीषण संघर्ष हुआ।

मुसलमानों ने उपर्युक्त परिस्थिति से भरपूर लाभ उठाया और भारत के अधिकांश उत्तरी राज्यों को अपने कब्जे में कर लिया। गजनी और गोरी ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपने आतंकों से व्याकुल कर दिया था। मुसल्मानों का आतंक अपनी निर्दयता और उच्छृङ्खलता के साथ अनेक रूप रखा करता था। अपनी मार्यादा और अपने गौरव की रक्षा के लिये युद्ध-वीर राजपूत युद्ध-दान के लिये सदैव प्रस्तुत रहा करते थे किन्तु एकता के अभाव में एवम् शक्ति के क्षीण हो जाने के कारण वे मुसलमानों के आक्रमण को रोकने में असमर्थ रहे। सम्पूर्ण देशों की शक्ति रक्त धारा में बहती जा रही थी। तोमर (अजमेर) का चौहान राजा दुर्लभराज मुसलमानों के साथ युद्ध करते में मारा गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस प्रथम युग में हमारे देश की राजनैतिक परिस्थिति अत्यन्त भयावह, अशान्त और संघर्षमयी थी। इस युग में इस दृष्टि से चारों ओर अराजकता, क्रूरता, अत्याचार, दुष्टता, निर्दयता, द्वेष, वैमनस्य आदि भावों का बोलबाला था।

सामाजिक —राजनीति का समाज पर कितना अधिक प्रभाव पड़ता है, यह हम सभी जानते हैं। भारत की राजनैतिक क्रान्तियों ने सदैव से भारत के समाज को विशृङ्खलित, अशान्त और दुःखपूर्ण बनाया है। वीरगाथा काल की भीषण संघर्षमयी राजनैतिक परिस्थिति ने भी समाज को अपनी लपेटों में लपेट लिया था। समाज नाना प्रकार के भेद-भाव, मत-मतान्तर, द्वेष, स्पर्द्धा, लोभ, घृणा आदि भावों के आगमन से त्रस्त था। राजपूतों में संगठन का अभाव था। उनके हृदय में दम्भ और दर्प ने घेरा डाल दिया था। देश के गौरव को रक्षित करने के लिये आपस में एकता और प्रेम का अभाव था। राजपूतों ने अन्य जातियों को अपने से कम महत्वपूर्ण समझना प्रारम्भ कर दिया। क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य सभी जातियाँ एक दूसरे से दूर थीं और उन सब में एक बहुत बड़ी खाई बन गयी थी। ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा कम हो गयी थी। इन सभी जातियों में उपजातियाँ भी बन गई थीं। अपने धर्म के प्रति रुचि कम हो रही थी और मुसल्मानियत की ओर लोगों का झुकाव हो रहा था। नये मुसलमानों से पुराने मुसल्मान भी जलते थे। इस प्रकार के भेद भाव से हमारा सामाजिक संगठन लुप्त हो गया।

उपर्युक्त भेदभाव और द्वेषपूर्ण वातावरण में स्वस्थ समाज की स्थापना कैसे और क्योंकर हो सकती था? मुसलमानों के आगमन के साथ-साथ हमारी परम्परा एवम् हमारे रीतिरिवाज में भी शिथिलता आ गयी। सामाजिक उन्नति के स्थान पर वैयक्तिक अवनति हो रही थी। दिन प्रतिदिन के संघर्षों के कारण सामान्य

जनता में भी चिन्ता व्याप्त थी। स्वतंत्र सम्राट् संघर्षों में तल्लीन रहने के कारण समाज की चिन्ता से विरत थे। जिन राज्यों पर मुसलमानों का अधिकार हो जाता था उन राज्यों के प्राणी उनसे सदैव भयभीत एवं प्रकम्पित रहते थे। इस प्रकार समाज का जीवन ही अशान्ति, भय तथा दुर्दशा से पीडित हो गया था। इन परिस्थितियों में कोई भी साहित्य कैसे उन्नत और समृद्ध हो सकता है? साहित्य में भी इन्हीं सामाजिक पतनोन्मुख चित्रों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलाई देता है।

धार्मिक :—हिन्दी साहित्य के इतिहास का वीरगाथा काल बौद्ध-धर्म के ह्रास का काल माना जा सकता है। हर्षवर्द्धन के शासनकाल में ही बौद्ध धर्म में दो शाखाएँ (हीनयान और महायान) हो गई थीं। हीनयान का अर्थ छोटी गाडी और महायान का अर्थ बडी गाडी के रूप में विद्वानों ने स्वीकृत किया है। इन दोनों का संघर्ष हर्ष की मृत्यु के पश्चात् बढ गया। महायान कुछ वर्षों तक जनप्रिय धर्म रहा किन्तु काल-क्रम से उसमें भी कई टुकडे हो गये। सबसे अन्तिम टुकडे है—वज्रयान और सहजयान, जो अपनी गाडी को सचमुच इतनी मजबूत और सहज बना सके कि उनमें कष्टपूर्ण व्रत-नियम आदि का कोई अंग रहा ही नहीं। अन्त में यह धर्म समाप्तप्राय हो गया।

इसी समय महावीर स्वामी द्वारा प्रचारित जैन धर्म के 'श्वेताम्बर' और 'दिगम्बर' नामक दो भेद हो गये। इनकी साधना-पद्धति में भी दोष आ गये थे। इनमें बाह्याचारों का समावेश हो गया। इस प्रकार बौद्ध और जैन धर्म के पतनोन्मुख होने पर केवल प्रान्त निवासी स्वामी शंकराचार्य ने बौद्ध तथा जैन जैसे अवैदिक धर्मों का उन्मूलन कर उनके स्थान पर वैदिक धर्म को महत्व दिया। शंकराचार्य ने बौद्ध और जैन दोनों धर्मों की आलोचना की, तत्कालीन हिन्दू धर्म के भिन्न-भिन्न प्रचलित सम्प्रदायों की भी कटु आलोचना की और अपना एक नवीन धर्म चलाया।

वज्रयान की नवीन शाखा ने नाथ सम्प्रदाय के नाम से अपने सिद्धान्तों और अपने साधना-पथ का भारत में प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार इस काल में हिन्दू धर्म में ही विभिन्न सम्प्रदाय और शाखाएँ दिखलाई देती हैं जो आपस में लडती और झगडती हैं। जैनी, शैव, शाक्त, वेदान्ती नाना प्रकार के सैद्धान्तिक दल एक दूसरे से होड़ लेते थे और धर्म के सहज रास्ते को दुरूह, अथवा अगम्य और कठिन बनाते थे।

इसी समय धर्म के क्षेत्र में मुसलमानी धर्म का भी प्रचार बढ़ता है। हिन्दू और मुसलमान धर्म तथा शिया और सुन्नी धर्मों में आपस में संघर्ष छिड़ जाता है।

साहित्यिक :—इस युग में साहित्यिक दृष्टि से संस्कृत साहित्य का पतन और अपभ्रंश तथा देश भाषा साहित्य का उत्थान हो जाता है। अपभ्रंश साहित्य में जैन साहित्य, सिद्ध साहित्य तथा नाथ साहित्य का प्रादुर्भाव होता है और देशभाषा साहित्य में रासो साहित्य या चारणसाहित्य का सृजन। सम्प्रदायवादी साहित्य में साहित्य के लक्षण न होकर साधना, धर्म और तपस्या के ही लक्षण पाये जाते हैं। यह साहित्य प्रचारार्थ लिखा जाता था। योगी और विभिन्न साधक घूम-घूम कर अपने सैद्धान्तिक विचारों को प्रचारित करते। दूसरी तरफ चारणों की अविच्छिन्न परम्परा द्वारा साहित्य सृजन हो रहा था। इनका ध्येय उच्च साहित्य-सृजन की ओर न होकर अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा की ओर अधिक रहा। देश और समाज को उन्नति-पथ पर लाने के उद्देश्य से साहित्य नहीं लिखा जाता था। अतिशय काल्पनिक तथा अतिशयोक्ति प्रधान शैलियों की प्रधानता रही।

परिस्थितियाँ
१ राजनीतिक—मुसल्मानों के आक्रमण, राजपूतों में द्वेष, युद्ध, अजमेर का दुर्लभराज मारा गया।
२ सामाजिक—भेद-भाव, अशांति।
३ धार्मिक—बौद्ध धर्म में भेद, जैन धर्म में दो धाराएँ, मुसल्मानी धर्म का प्रचार।
४ साहित्यिक—सिद्ध और नाथ साहित्य, चारण-साहित्य।

उपर्युक्त सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों में हमारे हिन्दी साहित्य का वीर गाथा साहित्य रचित हुआ।

इन परिस्थितियों का आकलन कर लेने के पश्चात् अपने वीरगाथा काल की सामान्य प्रवृत्तियों और विशेषताओं का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

प्रवृत्तियां

हिन्दी साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर विदित होता है कि इसके प्रत्येक युग की अपनी एक प्रमुख और विशिष्ट प्रवृत्ति है और प्रवृत्ति के आधार पर उक्त युग का नामकरण भी होता है। साथ ही साथ यह भी देखा जाता है कि प्रमुख प्रवृत्ति के अतिरिक्त और भी कुछ प्रवृत्तियाँ प्रत्येक युग में सक्रिय होती हैं। वीर-गाथा काल की भी अपनी निश्चित प्रवृत्तियाँ हैं। इस काल की प्रमुख और अन्य प्रवृत्तियों पर विचार करना आवश्यक है।

आलोच्य युग में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं —

(१) शौर्य प्रदर्शन (वीरता का प्रदर्शन)
(२) वीरता एवम् शृङ्गारिकता का मेल
(३) डिंगल भाषा का माध्यम

(४) वीर रस की प्रमुखता
(५) डिंगल भाषानुकूल छन्द

शौर्य प्रदर्शन :—'साहित्य समाज का दर्पण है', यह उक्ति सर्वथा सत्य है। वीरगाथा काल की राजनैतिक परिस्थिति का उल्लेख करते समय यह बतलाया गया है कि यह समय युद्धों एवम् मारकाट का था। यह परिस्थिति साहित्य में भी ज्यों की त्यों वर्णित हुई है। वीरगाथा काल की सभी रचनाएँ युद्धों और संघर्षों की कथाओं से परिपूर्ण हैं। इस युग के कविगण राज्याश्रित थे। वे राजाओं की वीरता तथा ऐश्वर्य की प्रशंसा करते थे। ये कवि स्वयम् भी युद्धों में जाया करते थे। राजे भी ऐसे थे कि सदैव युद्धों में ही अनुरक्त रहते थ। लड़ाई अपनी वीरता प्रदर्शित करने के लिये भी हुआ करती थी। ये सारी बातें वीरगाथाकालीन साहित्य में वर्णित हैं। प्रायः सभी काव्यों का वर्ण्य-विषय यही है। इसीलिए शौर्य प्रदर्शन इस युग की एक प्रमुख विशेषता है। पृथ्वीराजरासो में चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज के शौर्य तथा उनकी सेना की वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है, तो दौलत-विजय ने खुमान रासो में खुमान द्वितीय तथा उनकी सेना का।

वीरता एवम् शृंगारिता का मेल —इस युग की द्वितीय प्रवृत्ति है—वीरता के साथ शृङ्गारिता की सृष्टि। प्रत्येक कवि ने अपने काव्य-ग्रन्थ में अपने आश्रयदाताओं की बहादुरी का जीता-जागता चित्र खींचा है और साथ ही साथ बीच-बीच में किसी राजकुमारी का सौंदर्य वर्णित कर तथा विवाह आदि का चित्रण कर शृंगारिता की भी सृष्टि कर दी है। यद्यपि शृङ्गारिकता गौण रूप में मान्य है फिर भी यह एक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकृत है। यह भी समाज का ही प्रभाव है। समाज के यशस्वी शासक सदैव युद्धों में रत रहते थे। कभी-कभी वे सुन्दरियों से मोहित होकर उनके पाने की इच्छा प्रकट करते थे और दूतों से उनकी सुन्दरता का वर्णन सुनकर मन्त्रमुग्ध होते थे। इससे उनका मनोरंजन हो जाता था। मनोरंजन के पश्चात् वे वर्णित सुन्दरी को प्राप्त करने के लिए युद्ध भी करते थे। इससे उनके शौर्य की भी रक्षा हो जाती थी। इस प्रकार 'एक पथ दुइ काज' की कहावत चरितार्थ होती थी। भावना के क्षेत्र में वीरता तथा शृङ्गारिकता का सम्मिश्रण वीरगाथा काल की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति केवल समाज में ही नहीं, तत्कालीन साहित्य में भी पाई जाती है।

डिंगल भाषा का प्रयोग :—आलोच्य काल की प्रायः सभी रचनाएँ डिंगल भाषा में रची गई हैं। 'डिंगल' राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी। इसमें अपभ्रंश से निकली हुई राजस्थानी के स्वरूप मिलने हैं। यह वीररस के लिये बहुत

उपयुक्त थी, इसलिए इसका प्रयोग इस काल में सरलता से साथ हुआ। डिंगल भाषा में ड, ढ, ण और अनुस्वार का बाहुल्य होता है। वीरगाथा काल के कविगण अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा बहुत प्रभावक भाषा तथा तेजस्वी स्वर में करते थे। यह भाषा डिंगल ही थी। इसी डिंगल में उन कवियों ने अपनी कृतियाँ भी लिखीं। यह सर्वथा उचित ही था। इस भाषा का एक उदाहरण से आप को उसके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान हो जाएगा।

बज्जिय घोर निसान राज चौहान चहौं दिस।
उट्ठि राजा प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर नर।

वीररस की प्रमुखता —इस काल के साहित्य में वीररस की प्रमुखता है। अपने चरित्र नायकों के शौर्य और महत्व के वर्णन में वीररस की अधिक आवश्यकता पड़ती है। इस वीररस के साथ ही साथ शृंगारिक घटनाओं के अन्तराल में शृङ्गाररस की निष्पत्ति होती है। शृङ्गाररस के दोनों पक्षों के दर्शन इस साहित्य में होते हैं। वीभत्स रौद्र और करुण रस के चित्र भी इन काव्यों में पाए जाते हैं। इन सभी रसों के होते हुए भी प्रधानता वीररस की ही है। वीररस इतनी व्यापकता के साथ प्रारम्भ से अन्त तक इस युग के काव्य में मिलता है कि हमें 'वीर रस' को इस युग की एक साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है।

डिंगल भाषानुकूल छन्द —प्रस्तुत युग के काव्य में डिंगल भाषा के उपयुक्त ही छन्द भी आये हैं। वीरतापूर्ण भावों की अभिव्यक्ति प्रभावक ढंग में जिन छन्दों में हो सकती थी उन्हीं छन्दों में इस युग की काव्य कृतियाँ सृजित हैं। पद्धडी छन्द इस युग का एक प्रमुख छन्द है। इसे पाधड़ी छन्द भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त दूहा तथा कवित्त आदि में भी रचनाएँ हुई हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में छन्द भी ऐसे चुने गये हैं जिनसे वीररस की भावना को प्रश्रय मिलता है।

वीरगाथा काल की अन्य विशेषतायें

वीरगाथा काल में वर्णित प्रवृत्तियाँ इस युग के साहित्य की विशेषताओं के अन्तर्गत ही सम्मिलित हैं। प्रवृत्तियों में प्रमुख विचारधाराओं का वर्णन होता है और विशेषताओं में इसके अतिरिक्त और भी जितनी विचारधाराएँ होतीं हैं उन सब का भी वर्णन होता है।

सभी युग अपनी अपनी विशेषताओं में पाठकों के सम्मुख आते हैं। ठीक उसी प्रकार हमारा यह साहित्य भी अपनी निश्चित विशेषताओं को धारण हुये हमारे सामने आया। ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

(१) अप्रामाणिक रचनाएँ :—वीरगाथा काल की अधिकतर रचनाएँ प्रमाणिकता की दृष्टि से संदिग्ध हैं। इस युग में उपलब्ध सभी रासो-ग्रन्थ भाषा काल और विषयवस्तु की दृष्टि से अप्रामाणिक सिद्ध होते है। हिन्दी साहित्य के प्रथम युग की रचना में यदि १६ वी और १७ वीं शताब्दी की घटनाएँ और शब्द मिलें तो किसी भी साधारण बुद्धिवाले व्यक्ति के मन में भी यह सन्देह होगा कि ये रचनाएँ १० वीं शताब्दी की हैं या १६ वीं शताब्दी की। ये ग्रन्थ कब लिखे गये और इनकी आधुनिक प्रतियाँ कब की है आदि प्रश्नों के उत्तर आज तक भी नही दिये जा सके हैं। एक ही पुस्तक की भिन्न-भिन्न प्रतियो की काल-भिन्नता यह सिद्ध करती है कि वह अप्रामाणिक ग्रन्थ है। यही दुर्भाग्य प्राय सभी प्रबन्धकाव्यो के साथ है।

(२) ऐतिहासिकता का अभाव —वीरगाथा काल की रचनाएँ अनैतिहासिक तथ्य या आधारों पर लिखित है। इनके नायक इतिहास प्रसिद्ध चरित्र है किन्तु वर्णन इतिहास से मेल नही खाते। पृथ्वीराज चौहान, खुमाण आदि सभी उस युग के प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इनके नाम के आधार पर ही कवियो ने विशाल काव्यो की रचना की है, इन ग्रन्थो में पूर्ण काल्पनिक घटनाएँ एवम् कथानक हैं। अनैतिहासिक तत्वों का अभाव इसी से सिद्ध हो सकता है कि एक राजे का वर्णन करते समय उसके बाद के सम्राटो को भी उसके अधीन बतलाया गया है, अर्थात् पृथ्वीराज का वर्णन करते समय यह बतलाया *गया है कि अपने बाद के आने वाले राजाओं पर भी उन्होंने विजय प्राप्त की* थी। यद्यपि इनका वर्णन शुद्ध इतिहास की कसोटी पर खरा नही उतरता फिर भी बहुत से इतिहासकारों ने इन काव्यो में ऐतिहासिकता का अंश देखा है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन कवियों का उद्देश्य इतिहास की रक्षा करना नहीं होकर अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा ही अधिक था। सम्बतो, तिथियो एवम् घटनाओं में ये ग्रन्थ इतिहास से मेल नहीं खाते किन्तु उस युग के ऐतिहासीक नाम और वातावरण को प्रस्तुत करने में ये जितने सफल हैं शायद और किसी युग के ग्रन्थ नहीं।

(३) युद्धों का सजीव वर्णन :—युद्धों के सजीव वर्णन में वीरगाथा-कालीन ग्रन्थों का बहुत बड़ा महत्व है। युद्धों का जैसा प्रभावक वर्णन इन काव्यों में हुआ है वैसा आज के किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। डा० श्यामसुन्दर दास ने भी युद्धों के सजीव वर्णन के लिये इन्हें आज के युग में राष्ट्रीयता का प्रचार करने में समर्थ ग्रंथ माना है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उस युग के कवि केवल लेखनीधारी ही नहीं बल्कि तलवारधारी भी थे।

(४) प्रकृति चित्रण :—इस साहित्य में प्रकृति का सुन्दर चित्रण मिलता है। नगर, वन, पर्वत आदि का वर्णन बड़ा ही हृदयग्राही हुआ है। प्रकृति चित्रण विशेषतः उद्दीपनगत ही हुआ है। संस्कृत साहित्य की भांति स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण जहाँ हुआ है वहाँ नीरसता आ गयी है। कविगण प्रकृति-चित्रण भी बढ़ा-चढ़ाकर करने में तल्लीन हो जाते हैं, इसी कारण इनके प्रकृति-चित्रण में नीरसता आ गई है।

(५) रासो ग्रन्थों की रचना —इस युग के अधिकांश ग्रन्थों के नाम 'रासो' शब्द से जुड़े हुये हैं। 'रासो' शब्द के कई अर्थ बतलाये गये हैं। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'रासायण' से लगाया है, कुछ ने 'रासा' से और कुछ ने रासक से। 'रास का चाहे जो भी अर्थ लगाया जाय, पर यह निस्संदिग्ध है कि वीरगाथा काल के प्रायः प्रबन्ध काव्य रासो काव्य कहलाते हैं, क्योंकि कवियों ने ही स्वयम् अपनी रचनाओं को 'रासो' कहा है। 'पृथ्वीराज रासो', 'विजयपाल रासो', 'खुमान रासो', 'हम्मीर रासो' आदि नाम इसकी पुष्टि करते हैं। कुछ ग्रन्थों के ही नाम ऐसे हैं जिनमें 'रासो' शब्द नहीं जुड़ा है। इन ग्रन्थों में 'आल्हखण्ड', 'जय मयंक जस चन्द्रिका' आदि आते हैं।

(६) प्रबन्ध काव्यों की रचना —वीरगाथायें विशेषतः प्रबंध रूप में ही प्राप्त हैं। इनमें किसी नायक के सम्पूर्ण जीवन की कथा विविध सर्गों में कही गयी है। प्रबंधकाव्यों की प्रमुखता के साथ साथ कुछ मुक्तक रूप में भी वीर-चरित्रों का चरित्र वर्णित है। 'बीसलदेव रासो' को बहुत से विद्वानों ने मुक्तक रूप में स्वीकार किया है, किन्तु इसमें भी एक दूसरे अध्याय से संबंध है, अतः इसे प्रबंधकाव्य की कोटि में रखना अधिक उचित है। डा० श्यामसुन्दर दास ने भी इसे प्रबंध रूप में नहीं स्वीकार किया है और इसीलिये उन्होंने अपने निबन्ध 'वीरगाथा काल का प्रबंध' में इसकी चर्चा नहीं की है। इसकी कथा चार भागों में बटी है। चारों में चार घटनाएँ हैं, किन्तु सबका संबंध बीसलदेव और उसकी पत्नी से है, अतः इसे भी प्रबन्ध ही मानना चाहिये। अमीर खुसरो की मुकरियों में मुक्तक रूप है। इन दो कवियों की रचनाओं को छोड़ कर अन्य सभी कवियों की रचनाएं प्रबंध रूप में हैं। इसे सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है।

(७) जन जीवन से अलग काव्य :—वीरगाथा कालीन काव्यों में जन-मानस की किसी घटना या किसी परिस्थिति का वर्णन नहीं हुआ है। जिस प्रकार आज का साहित्य जीवन से घनिष्ट संबंध रखता है उस प्रकार उस युग का साहित्य सामान्य जीवन का साहित्य नहीं है। राजाओं और महाराजाओं का जीवन भी यथार्थ रूप में वर्णित नहीं होता था। उनके युद्धों का वर्णन ही प्रधान

विषय था। उनके अनुरंजन के लिये ही किसी रमणी के सौन्दर्य का वर्णन कविगण कर दिया करते थे। साधारण जीवन में किस प्रकार का परिवर्तन हो रहा है, यह बतलाना उस युग के कवियों का लक्ष्य नहीं था। 'स्वामिन सुखाय' लिखित काव्य में जन-जीवन की झलक मिल भी कैसे सकती थी?

(८) विविध छन्दों का प्रयोग:—रासो साहित्य के छन्दों में काफी विविधता देखी जाती है। छन्दों की विविधता हिन्दी साहित्य के प्रथम युग में ही इतनी कैसे हो गई, यह जानना असम्भव है। दोहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, गाथा, पद्धडी, उल्लाला आदि छन्दों का प्रयोग सभी रासो काव्यों में हुआ है। प्रत्येक छन्द भावानुकूल एवं विषयानुकूल है। छन्दों का परिवर्तन कहीं भी खलता नहीं है।

प्रवृत्तियाँ एवं विशेषताएँ—

१ वीररस का वर्णन
२ वीरता एव शृङ्गारिकताका मेल
३ डिंगल भाषा में रचना
४ वीररस की अधिकता
५ डिंगल भाषा के अनुकूल रचना
६ अप्रामाणिक रचनाएँ
७ ऐतिहासिकता का अभाव
८ युद्धों का सजीव वर्णन
९ प्रकृति चित्रण
१० रासो-ग्रन्थ
११ प्रबन्ध काव्य
१२ जीवन से अलग काव्य
१३ अनेक छन्द

उपर्युक्त विशेषताओं से सुशोभित होकर हमारा वीरसाहित्य, साहित्यजगत् में आया। इन विशेषताओं में ही कुछ आलोचकों को वीरगाथाकालीन साहित्य की कमजोरी भी लक्षित होती है, किन्तु सभी आलोचक वीरगाथा काल के साहित्यिक महत्व को एक स्वर तथा एक मत से स्वीकार करते हैं। 'कर्कश पदावली के बीच वीर भावों से भरी हिन्दी के आदि युग की यह कविता सारे हिन्दी साहित्य में अपनी समता नहीं रखती', ऐसा हिन्दी के आलोचकों ने भी कहा है। इसी से इस युग के साहित्य का महत्व भी निर्धारित हो जाता है।

युग की कृतियाँ एवं साहित्यकार—

खुमान रासो—वीरगाथा काल में लिखित प्रथम काव्य खुमान रासो माना जाता है। इसका मूल लेखक कौन है? इस प्रश्न का उत्तर निश्चय पूर्वक नहीं दिया जा सकता है। एक स्थान पर इसके लेखक का नाम दलपति विजय बतलाया गया है। यही नाम कहीं-कहीं दौलत विजय के रूप में भी मिलता है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि खुमान रासो की रचना दलपति विजय या दौलत विजय नामक किसी कवि ने की। इस पुस्तक में चित्तौड के राणा खुमान द्वितीय के युद्धों का वर्णन हुआ है। इस पुस्तक में बगदाद के खलीफ़ा

अल्लामू के चित्तौड़ पर किए गये आक्रमणों का उल्लेख है। जिस खुमान ने अल्लामू को पराजित किया, वह कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर हमारे विद्वानों तथा इतिहासकारों ने दिया है। चित्तौड़ में तीन खुमान नामक शासक हुए। इन तीनों खुमानों में अल्लामू (८१२-८३३ ई०) का समकालीन खुमान द्वितीय ही था। अतः इस घटना से यह सिद्ध होता है कि खुमान रासो में चित्तौड़ के खुमान द्वितीय के युद्धों का वर्णन है। डा० हजारी प्रसाद इसमें परवर्ती घटनाओं तथा सम्वत को देखते हुए इसे वीरगाथाकालीन काव्य नहीं मानते। इस पुस्तक में प्रताप तक के चरित्र का वर्णन है और भाषा भी १७ वीं शताब्दी की है। इस प्रकार इसे प्राचीन ग्रन्थ मानने में हमारे विद्वानों को भी संकोच हो रहा है। अगरचन्द नाहटा ने भी इसका निर्माण काल सं० १७३०-१७६० के मध्य ही ठहराया है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने भी उपर्युक्त तथ्यों को देखते हुए यह कहा है कि—"यह नहीं कहा जा सकता कि दलपति विजय असली खुमान रासो का रचयिता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ट का"। इसमें राणा प्रताप और राजसिंह तक की घटनाओं का उल्लेख भी इसे अप्रामाणिक सिद्ध करता है। चारण परम्परा पर विचार करने पर भी यह सत्य ठहरता है कि इसमें समय समय पर परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे होंगे। इसी परम्परा की रक्षा करने में शायद इसके मूल स्वरूप की रक्षा नहीं हो सकी।

बीसलदेव रासो —बीसलदेव रासो आलोच्य युग में लिखित एक गेय काव्य है। अन्य ग्रन्थों की ही भाँति ग्रन्थ के रचनाकाल, रचयिता और चरित नायक आदि विषय विवादास्पद हैं।

बीसलदेव रासो का रचनाकाल सं० १२१२ बतलाया जाता है। इसका आधार बीसलदेव का यह पद है —

> बारह सौ बहोत्तरां मझारि, जेठ बदी नवमी बुधवार।
> नाल्ह रसायन आरंभई, सारदा तुठी ब्रह्म कुमारि॥

इस तथ्य की पुष्टि बीसलदेव के सं० १२१० से १२२० तक उपलब्ध होने वाले शिलालेखों से भी हो जाती है।

बीसलदेव में वर्णित घटनाओं के आधार पर उक्त रचनाकाल गलत सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ में बतलाया गया है कि बीसलदेव का विवाह राजा भोज की पुत्री से हुआ था किन्तु राजा भोज की पुत्री का देहान्त लगभग सौ वर्ष पहले ही हुआ था। बीसलदेव एक पराक्रमी राजा था, उसके पराक्रम का बीसलदेव में कोई वर्णन नहीं है। इन आधारों पर बीसलदेव रासो को भी एक अप्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है। किन्तु उस युग की चारण परम्परा पर दृष्टि करते

हुए यह भी कहा जा सकता है कि नरपति नाल्ह ने वीसलदेव के नाम पर कालानिकता का पुट देकर इसकी रचना की हो।

वीसलदेव रासो का नायक विग्रहराज चतुर्थ है। इसका विवाह राजमती से हुआ हो, यह भी सम्भव है। राजमती जैसलमेर के रावल भोज की पुत्री थी। इस रावल का शासन काल १२०५ से आरम्भ होता है।

वीसल देव रासो की कथा चार भागों में विभक्त है :—

(१) मालवा के राजा भोज परमार की पुत्री राजमती से साँभर के वीसलदेव का विवाह होना।

(२) वीसल देव का राजमती से रूठकर उड़ीसा की ओर प्रस्थान करना तथा वहाँ एक वर्ष रहना।

(३) राजमती का विरहवर्णन तथा वीसल देव का उड़ीसा से लौटना।

(४) भोज का अपनी पुत्री को घर लिवा ले जाना तथा वीसलदेव का वहाँ जाकर राजमती को फिर चित्तौड़ लाना।

पृथ्वीराज रासो (चन्दवरदाई)

२५०० पृष्ट के ६६ सर्ग वाले महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' के रचयिता चन्द दिल्ली के चौहान राजा पृथ्वीराज के राज-दरबारी कवि होने के अतिरिक्त घनिष्ट मित्र, सामन्त तथा परामर्श-दाता थे। एक किंवदन्ति के अनुसार चन्द तथा पृथ्वीराज ने एक ही दिन जन्म लिया था और इनका स्वर्गवास भी एक ही दिन हुआ था। चन्द लाहौर के रहने वाले थे और बाद में हिन्दू नरेश पृथ्वीराज के पास चले गये थे। इसके अन्तिम खण्ड को चन्द के पुत्र जल्हण ने पूरा किया। यह प्राप्त रासो से प्रमाणित होता है।

पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज ॥

पृथ्वीराज रासो के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान बूलर, मारिसन गौरीशंकर, हीराचन्द ओझा, मुंशी देवीप्रसाद जी, प० विष्णु प्रसाद पाण्ड्या तथा महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री परस्पर विरोधी बातें कहते हैं। इसमें जो कथावस्तु दी गई है वह आबू के यज्ञ कुण्ड से चार क्षत्रीय कुलों की उत्पत्ति से लेकर दिल्ली के अन्तिम सम्राट पृथ्वीराज के कैद होने तक की है। सयुक्त और पृथ्वीराज की सुप्रसिद्ध गाथा भी इसमें वर्णित है। इस ग्रन्थ में चंगेज, तैमूर आदि के आक्रमणों का भी वर्णन है। इसके अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राज सोमेश्वर के पुत्र और अर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के सम्राट अनगपाल की कन्या कमला से हुआ था। अनगपाल ने पृथ्वीराज को गोद ले लिया था। जयचन्द कन्नौज के विजयपाल का पुत्र और पृथ्वीराज का मौसेरा भाई था। जयचन्द अपने नाना के व्यवहार से

दुष्ट था अतः उसका बदला पृथ्वीराज से लेना चाहा। उसने अपनी पुत्री संयुक्ता का स्वयम्वर रचा और पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति द्वारपाल के रूप में द्वार पर रखवा दी। संयोगिता ने इस स्वर्णमूर्ति को ही जयमाला पहना दी। संयोगिता के इस व्यवहार से नाराज होकर जयचन्द ने उसे घर से निकाल दिया। पृथ्वीराज ने उससे गन्धर्व विवाह किया और उसे हर लिया। इसे जयचन्द से रास्ते में युद्ध करना पड़ा किन्तु पृथ्वीराज विजयी हुआ।

पृथ्वीराज संयोगिता के प्रेम में इतना भूल गए कि उन्हें राज्य का ध्यान ही नहीं रहा। इसी अवसर पर शहाबुद्दीन चढ़ आया पर हार गया और पकड़ा गया। पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया। वह बार-बार चढ़ाई करता रहा। अन्त में पृथ्वीराज पकड़ कर गजनी भेज दिये गये। कुछ काल के पीछे चन्द भी गजनी पहुँचे। एक दिन चन्द के इशारे पर पृथ्वीराजने शब्दवेधी बाण द्वारा शहाबुद्दीन को मारा और फिर दोनों एक दूसरे को मार कर मर गये। इस युद्ध का कारण गजनी से एक स्त्री का भाग कर पृथ्वीराज के दरबार में आना बतलाया जाता है। उसके साथ साथ उसका प्रेमी भी आया था। शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के यहाँ कहला भेजा कि वे दोनों को अपने यहाँ से निकाल दें। हिन्दू धर्म के कट्टर समर्थक सम्राट ने शरणागतोंकी रक्षा की। शहाबुद्दीन ने इससे चिढ़ कर पृथ्वीराज पर आक्रमण किया। इस प्रधानकथा के अतिरिक्त पृथ्वीराज के अन्य युद्धों तथा अनेक कन्याओं के साथ उनके विवाह की कथा भी रासो में वर्णित है।

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता

पृथ्वीराज रासो प्रामाणिक रचना है या अप्रामाणिक, यह हिन्दी साहित्य का एक विवादग्रस्त प्रश्न है। इस प्रश्न को सुलझाने की चेष्टा हमारे हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वानों ने की, किन्तु आज भी यह प्रश्न एक समस्या के सदृश्य ही हमारे सामने उपस्थित है। इस प्रश्न को लेकर हिन्दी साहित्य के विद्वानों में कई वर्ग बन गये हैं। एक वर्ग इसे प्रामाणिक मानता है तो दूसरा अप्रामाणिक। एक वर्ग ऐसा भी है जो इसे अर्द्धप्रामाणिक मानता है। आ० रामचन्द्र शुक्ल इसे अप्रामाणिक रचना मानते हैं। इसके कई कारण बतलाये गये हैं।

पृथ्वीराज रासो में बहुत-सी अनऐतिहासिक बातें मिलती हैं। शिलालेखों से तथा पृथ्वीराजविजय से यह ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज सोमेश्वर तथा कर्पूर देवी के पुत्र थे। पृथ्वीराज रासो के अनुसार वे दिल्ली के राजा अनंगपाल के लड़के थे। इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी अनैतिहासिक बातें पृथ्वीराज रासो में मिलती हैं :—

(१) आबू के पहाड़ के राजा जेत और सलक बताये गए है किन्तु उस समय आबू पर राज्य करने वाले परमार थे।

(२) गुजरात का राजा भीमसेन 'रासो' के अनुसार पृथ्वीराज के हाथों मारा गया था, पर शिला लेखों के अध्ययन से इतिहासकारों ने बताया है कि वह पृथ्वीराज के बाद तक भी जीवित रहा।

(३) शहाबुद्दीन इस पुस्तक के आधार पर पृथ्वीराज के शब्दवेधी बाण से मारा गया किन्तु इतिहास से यह बात ज्ञात है कि वह गक्खड़ो के हाथों मारा गया।

(४) पृथ्वीराज की बहन पृथाकुँवरि रासो के अनुसार चित्तौड़ के राजा समरसिंह से ब्याही गयी थी जो इतिहास-सम्मत नहीं है, क्योंकि समरसिंह पृथ्वीराज के बहुत बाद के राजा थे, यह अभिलेखो से ज्ञात हुआ है।

(५) रासो में दिये गये प्राय सभी सम्वत् गलत हैं। उदाहरणार्थ रासो के अनुसार शहाबुद्दीन तथा पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध सं० ११५८ में हुआ किन्तु शिलालेखो तथा ताम्रपत्रो के आधार पर इसका समय १२४८ ठहरता है। रासो के अनुसार शहाबुद्दीन गोरी सम्वत् ११३९ में पृथ्वीराज द्वारा मारा गया था परन्तु इतिहास के अनुसार सम्वत् १२६३ में गक्खड़ों द्वारा उसका वध हुआ था।

(६) इन ग्रन्थो में कहीं-कहीं पर परवर्ती राजाओं के नाम भी लिखे गए हैं जिससे यह प्रतीत होने लगता है कि अवश्य ही यह पृथ्वीराज के राज्यकाल के बहुत बाद की रचना है। उदाहरणार्थ चन्द के काव्य में चगेज तथा तैमूर का नाम आना असंगत प्रतीत होता है।

(७) कही कही शब्दावली तथा वाक्य-रचना इस प्रकार की है कि पाठक इसे परवर्ती रचना समझने के लिये बाध्य हो जाते हैं। इसमें क्रियाएँ प्राय: नए रूप की हैं। फारसी और अरबी शब्दों की बहुलता है। इन्हीं आधारों पर श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी पृथ्वीराज रासो को अनैतिहासिक सिद्ध किया है। आ० शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा, हीराचन्दजी ओझा भी इसे अप्रामाणिक मानते हैं।

अप्रामाणिकता सिद्ध करने का अर्थ यह नहीं है कि इस ग्रन्थ में प्रामाणिक

एक था अतः उसका बदला पृथ्वीराज से लेना चाहा। उसने अपनी पुत्री संयुक्ता का स्वयम्बर रचा और पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति द्वारपाल के रूप में द्वार पर रखवा दी। संयोगिता ने इस स्वर्णमूर्ति को ही जयमाला पहना दी। संयोगिता के इस व्यवहार से नाराज होकर जयचन्द ने उसे घर से निकाल दिया। पृथ्वीराज ने उससे गन्धर्व विवाह किया और उसे हर लिया। इसी ज्यचन्द से रास्ते में युद्ध करना पड़ा किन्तु पृथ्वीराज विजयी हुआ।

पृथ्वीराज संयोगिता के प्रेम में इतना भूल गए कि उन्हें राज्य का ध्यान ही नहीं रहा। इसी अवसर पर शहाबुद्दीन चढ़ आया पर हार गया और पकड़ा गया। पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया। वह बार-बार चढ़ाई करता रहा। अन्त में पृथ्वीराज पकड़ कर गजनी भेज दिये गये। कुछ काल के पीछे चन्द भी गजनी पहुँचे। एक दिन चन्द के इशारे पर पृथ्वीराजने शब्दवेधी बाण द्वारा शहाबुद्दीन को मारा और फिर दोनों एक दूसरे को मार कर मर गये। इस युद्ध का कारण गजनी से एक स्त्री का भाग कर पृथ्वीराज के दरबार में आना बतलाया जाता है। उसके साथ साथ उसका प्रेमी भी आया था। शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के यहाँ कहला भेजा कि वे दोनों को अपने यहाँ से निकाल दें। हिन्दू धर्म के कट्टर समर्थक सम्राट ने शरणागतोंकी रक्षा की। शहाबुद्दीन ने इससे चिढ़ कर पृथ्वीराज पर आक्रमण किया। इस प्रधानकथा के अतिरिक्त पृथ्वीराज के अन्य युद्धों तथा अनेक कन्याओं के साथ उनके विवाह की कथा भी रासो में वर्णित है।

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता

पृथ्वीराज रासो प्रामाणिक रचना है या अप्रामाणिक, यह हिन्दी साहित्य का एक विवादग्रस्त प्रश्न है। इस प्रश्न को सुलझाने की चेष्टा हमारे हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वानों ने की, किन्तु आज भी यह प्रश्न एक समस्या के सदृश्य ही हमारे सामने उपस्थित है। इस प्रश्न को लेकर हिन्दी साहित्य के विद्वानों में कई वर्ग बन गये हैं। एक वर्ग इसे प्रामाणित मानता है तो दूसरा अप्रामाणिक। एक वर्ग ऐसा भी है जो इसे अर्द्धप्रामाणिक मानता है। आ० रामचन्द्र शुक्ल इसे अप्रामाणिक रचना मानते हैं। इसके कई कारण बतलाये गये हैं।

'पृथ्वीराज विजय' की एक खण्डित प्रति को वर्णित घटनाओं को देखकर डा० बूलर ने पृथ्वीराज विजय को इतिहास की दृष्टि से अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है और पृथ्वीराज रासो को अत्यन्त अप्रामाणिक।

पृथ्वीराज रासो में बहुत-सी अनऐतिहासिक बातें मिलती है। शिलालेखों से तथा पृथ्वीराजविजय से यह ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज सोमेश्वर तथा कर्पूर देवी के पुत्र थे। पृथ्वीराज रासो के अनुसार ये दिल्ली के राजा अनंगपाल के लड़के थे। इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी अनैतिहासिक बातें पृथ्वीराज रासो में मिलती है :—

(१) आबू के पहाड़ के राजा जैत और सलक बताये गए है किन्तु उस समय आबू पर राज्य करने वाले परमार थे।

(२) गुजरात का राजा भीमसेन 'रासो' के अनुसार पृथ्वीराज के हाथों मारा गया था, पर शिला लेखों के अध्ययन से इतिहासकारों ने बताया है कि वह पृथ्वीराज के बाद तक भी जीवित रहा।

(३) शहाबुद्दीन इस पुस्तक के आधार पर पृथ्वीराज के शब्दबेधी बाण से मारा गया किन्तु इतिहास से यह बात ज्ञात है कि वह गक्कड़ों के हाथों मारा गया।

(४) पृथ्वीराज की बहन पृथाकुँवरि रासो के अनुसार चित्तौड़ के राजा समरसिंह से ब्याही गयी थी जो इतिहास-सम्मत नही है, क्योंकि समरसिंह पृथ्वीराज के बहुत बाद के राजा थे, यह अभिलेखों से ज्ञात हुआ है।

(५) रासो में दिये गये प्राय: सभी सम्वत् गलत है। उदाहरणार्थ रासो के अनुसार शहाबुद्दीन तथा पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध सं० ११५८ में हुआ किन्तु शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों के आधार पर इसका समय १२४८ ठहरता है। रासो के अनुसार शहाबुद्दीन गोरी सम्वत् ११३९ में पृथ्वीराज द्वारा मारा गया था परन्तु इतिहास के अनुसार सम्वत् १२६३ में गक्कड़ों द्वारा उसका वध हुआ था।

(६) इन ग्रन्थो में कहीं-कहीं पर परवर्ती राजाओं के नाम भी लिखे गए हैं जिससे यह प्रतीत होने लगता है कि अवश्य ही यह पृथ्वीराज के राज्यकाल के बहुत बाद की रचना है। उदाहरणार्थ चन्द के काव्य में चंगेज तथा तैमूर का नाम आना असंगत प्रतीत होता है।

(७) कहीं-कहीं शब्दावली तथा वाक्य-रचना इस प्रकार की है कि पाठक इसे परवर्ती रचना समझने के लिये बाध्य हो जाते हैं। इनमें क्रियाएँ प्रायः नए रूप की हैं। फारसी और अरबी शब्दों की बहुलता है। इन्हीं आधारों पर श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी पृथ्वीराज रासो को अनैतिहासिक सिद्ध किया है। आ० शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा, हीराचन्दजी ओझा भी इसे अप्रामाणिक मानते हैं।

महोवा में दो वीर चरित्रों, आल्हा और ऊदल का वीरात्मक शैलीमें चित्रण किया है। इसका प्रचार उत्तर प्रदेश और विहार में लोकगीतों के रूप में शुरू हुआ। यह गेयशैली में लिखा गया है। यह भी एक अर्द्ध प्रामाणिक रचना है। १२ वीं शताब्दी में रचित होनेपर भी इसमें 'बन्दूक' और 'पिस्तौल' आदि शब्द आ गये हैं।

इस ग्रन्थ की कोई हस्तलिखित प्रति प्राप्त नहीं है। इसमें मोहोवे के दो देश प्रसिद्ध वीरों—'आल्हा' और ऊदल' के वीर चरित्र का विस्तृत वर्णन है। यह वीरकाव्य वीरगीतों का संचित आगार है। ये वीरगीत उत्तर भारत में बहुत प्रचलित हुए। आज भी उत्तर प्रदेश और विहार के कुछ प्रान्तों में 'आल्हा' वीर के गीत गाये जाते हैं।

आल्हा खण्ड संगीत रूप में था। आज इसकी प्रति नहीं मिलती। इसके छन्द गाये अवश्य जाते है। इन छन्दों में आज भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से परिवर्तन हो गया है। इन गीतों का सग्रह सर्वप्रथम चार्ल्स इलियट ने सन् १८६५ में कराया। इस ग्रन्थ में अनेक दोष है फिर भी यह रचना वीरत्व की मनोरम कथा है। यह जनसमूह की निधि है और इसलिये इसका बहुत बडा महत्व है।

हम्मीर रासो :—इस ग्रन्थ के लिखने वाले कविवर सारङ्गधर बतलाये जाते हैं। इसमें रणथम्भौर के राजा हम्मीर के युद्धों का वर्णन है। अलाउद्दीन के साथ इन्होंने कैसी वीरता दिखलाई, इसका इसमें सुन्दर चित्रण है। वीरता के वर्णन में इस कवि को बडी सफलता मिली है। इसका रचना-काल इतिहासकारों ने चौदहवीं शताब्दी स्वीकार किया है। यह रचना भी अप्रामाणिक है।

इनके अतिरिक्त इस प्रकार की रचनाओं में नल्ह सिंह द्वारा लिखित 'विजयपाल रासो', मधुकर कृत 'जयमयक जस चन्द्रिका, भट्ट केदार द्वारा लिखित 'जय चन्द प्रकाश' आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

इस युग में वीर-गाथा-परम्परा से भिन्न रचनाएँ भी हुई। इन रचनाओं में विद्यापति की 'कीर्तिलता' 'कीर्तिपताका' तथा अमीर खुसरो की पहेलियाँ तथा मुकरियाँ आती हैं।

अमीर खुसरो —इनका जन्म एटा जिले के पटियाला गाँव में स० १३१० में हुआ था। ये निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे। ये फारसी के विद्वान और अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। ये बडे विनोदी, हास्यप्रिय और सहृदय थे। इनका असली नाम अबुलहसन था। इनकी रचनाएँ हिन्दी की बोल-

चाल की भाषा में भी मिलती हैं। उनकी मुकरियाँ तथा पहेलियाँ हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। उदाहरण स्वरूप देखिये —'सितार क्यों न बजा ? औरत क्यों न नहाई ? उ०—परदा न था।

एक नार को दो ले बैठी। टेढ़ी होके बिल में पैठी॥
जिसके पैठे उसे सुहाय। खुसरो उसके बल बल जाय॥

उ०—पायजामा

एक थाल मोती से भरा।
सबके सिर पर औंधा धरा॥
चारों ओर वह थाली फिरे।
मोती उससे एक न गिरे॥ (आकाश)

इनकी रचनाओं में दिल्ली के आस-पास की खड़ी बोली का रूप भी मिलता है। जैसे —

बीसों का सिर काट लिया।
ना मारा ना खून किया॥

विद्यापति :—वीरगाथा काल में विद्यापति का एक अपना अलग व्यक्तित्व है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी गणना अपभ्रंश साहित्य तथा वीर गाथा-काल के फुटकर साहित्यकारों में की है। इसका प्रधान कारण यह है कि रासो ग्रन्थों की परम्परा में इन्होंने रासो ग्रन्थ नहीं लिखा। इतना होनेपर भी इनका महत्व वीरगाथा काल के कवियों से बहुत अधिक है। इनका जन्म स्थान मिथिला का बिसपी ग्राम था। इनके पिता का नाम गणपति ठाकुर था। इनका जन्म स० १४१७ में हुआ था और इनकी मृत्यु सं० १५०५ में हुई। विद्यापति जी का परिवार प्रारम्भ से ही विद्यानुरागी था। इनके पिताजी ने 'गंगाभक्ति तरंगणि' नामक ग्रन्थ लिखा था। पारिवारिक विद्याभक्ति का अमिट प्रभाव मैथिल कवि 'विद्यापति कोकिल' पर भी पड़ा।

हिन्दी साहित्य में इनकी रचनाएं तीन भाषाओं में मिलती है—संस्कृत, अपभ्रंश और मैथिली। इनकी रचनाओं में कीर्तिलता, कीर्तिपताका, विद्यापति पदावली आदि प्रमुख हैं। संस्कृत भाषा में लिखित ग्रन्थ इनकी धार्मिक भावना में आते है। भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से ये वीरगाथा काल की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन ग्रन्थों में कीर्तिसिंह और शिवसिंह की वीरता का वर्णन है। इनमें ऐतिहासिक तथ्यों का आधार ग्रहण किया गया है। यह वीर परम्परा से भिन्न प्रवृति है।

विद्यापति जी की लोक प्रियता और प्रसिद्धि 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' नामक पुस्तकों के लिये नहीं हुई। इनकी कीर्ति का आधार इनका पदावली-

काव्य है। यह बोलचाल की मैथिली भाषा में लिखित है। इसमें 'राधा-कृष्ण' के प्रेम की कथा वर्णित है। इनकी शृङ्गारिकता बहुत ही प्रसिद्ध है। कुछ विद्वानों ने विद्यापति को भक्तिभावना का कवि माना है, किन्तु आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इन्हें एक शृङ्गारिक कवि ही माना है। ये भक्ति परम्परा में नहीं आते। इनकी भाषा बड़ी ही मधुर है। डा० शुक्ल ने भी लिखा है :—

"विद्यापति के पद अधिकतर शृङ्गार के ही हैं..........।"

"सरस बसन्त समय भल पावलि, दछिन पवन बहु धीरे," में इनकी भाषा की विशेषता निहित है।

साधारणतः वीरगाथा काल महाराज हम्मीर के समय तक ही समझा जाता है। उसके उपरान्त जनता की चित्तवृत्ति बदलने लगी और विचारधारा दूसरी ओर चली। इसी परिवर्तित विचार धारा का विवरण आगे दिया जायेगा।

वीरगाथाकाल की आलोचना विविध ढंग से की गई है, पर इस युग के साहित्य के महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। यदि यह युग नहीं होता तो आज के इस युग की चर्चा भी सम्भव नहीं होती। डा० नामवर ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर विचार करते समय यह न भूलना चाहिए कि वह काव्य-ग्रन्थ है, इतिहास नहीं। इससे सिद्ध होता है कि इस युग के काव्यों में अनैतिहासिक घटनाओं का समावेश अवश्य है, पर इन ग्रन्थों के काव्यत्व पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

नाना प्रकार के कथानकों, कवि-समय आदि के चित्रण द्वारा रासोकार प्राचीन भारतीय काव्य परम्परा का पालन करते हुए नवीन काव्य-परम्परा के प्रेरक रहे हैं। युद्धों और विवाहों के चित्रण द्वारा रासो के कर्त्ताओं ने समाज का सच्चा सामाजिक इतिहास प्रस्तुत किया है।

इनमें इतिहास की तिथियाँ और घटनाएँ भले ही शुद्ध रूप में न प्राप्त हों, पर समाज की झाँकी,—जीवन की आलोचना—तो मिल ही जाती है। इन ग्रन्थों में राष्ट्रीयता के जैसे सुन्दर भाव व्यक्त हुए हैं वैसा अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है। यदि इन ग्रन्थों के मूल स्वरूप पर विशेष खोज की जाय तो ये ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे। अतः इन ग्रन्थों के काव्यगत महत्त्व को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।

भक्तिकाल

(संम्वत् १३७५—१७००)

करीब स० १३६२ के पश्चात् वीरगाथाकालीन प्रवृतियो के बीच में अब धीरे-धीरे एक दूसरी विचार-धारा झांकने लगी। समाज, राजनीति और धर्म की परिवर्तित दिशाने साहित्य के रूप को भी अपने प्रभाव में समेट लिया और साहित्य भी नवीन मोड लेने लगा। शौर्य और शृंगार की प्रवृत्तियो को भक्ति-प्रधान विचारों ने ओझल कर दिया।

इसी नवीन भक्ति-प्रधान विचार-धारा के संचित कोष का नाम भक्ति-साहित्य पड़ा। यह तो निर्विवाद सत्य है कि युग की परिस्थितियाँ ही युग के साहित्य को जन्म देती हैं। इस सत्य को स्वीकार करने पर यह स्वीकार करने में लेशमात्र भी हिचक नहीं होनी चाहिये कि भक्ति साहित्य के मूल में भी कुछ परिस्थितियों का भी हाथ रहा। वे परिस्थितियाँ क्या थीं ? इस प्रश्न का उत्तर देना भी विषयानुकूल और प्रासगिक है।

किसी युग विशेष में राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ ही साहित्य को प्रभावित करती है। भक्ति-कालीन साहित्य को भी इन परिस्थितियो का सामना करना पडा था, अत इनका विस्तृत विवेचना आवश्यक ही है।

राजनीतिक परिस्थिति —भक्तिकाल की आलोच्य परिस्थिति संकटापन्न, भयावह और डवाडोल थी। सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर मुसलमानो का अधिकार हो गया था।

अलाउद्दीन खिलजी ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अधिकार कर लिया था। दक्षिण भारत भी उसके प्रभाव से अछूता नही रहा। देवगिरि के यादव राजा रामचन्द्र को पराजित कर उसने एलिचपुर को अपने राज्य में मिला लिया। वारंगल और होयसिल के राजा को भी उसका अधिपत्य स्वीकार करना पडा। महाराष्ट्र और कर्नाटक दो प्रमुख राष्ट्र थे। इन दोनो राष्ट्रो को भी उसकी अधीनता स्वीकार करनी पडी। अलाउद्दीन के सहायक मल्लिक काफूर की राज्यलिप्सा इतनी बढ़ गयी थी कि उसने हिन्दू राजों का कत्ल करने में संकोच नहीं किया। अधिकांश हिन्दू सम्राट मुसलमानो की इस बढती हुई शक्ति से भयभीत होकर उनका आधिपत्य स्वीकार कर लेते थे, किन्तु कुछ स्वाभिमानी और महात्वाकांक्षी सम्राट अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये कठिन प्रयास भी कर रहे थे। मुसलमानों का आतंक और अत्याचार इतना बढ गया था कि हिन्दुओं में अब उनकी प्रगति को रोकने का साहस ही नहीं रह गया था। कुछ स्वतन्त्र राज्य अवश्य

थे। किन्तु इनमें भी परस्पर कलह हुआ करते थे। विजयनगर और बहमनी दक्षिण के दो प्रमुख राज्य थे। ये दोनों अपने साम्राज्य विस्तार के लिये बराबर एक दूसरे से उलझते रहते थे।

देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिये अवकाश न रह गया। उनके सामने ही देव-मन्दिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं, और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते। इस प्रकार खिलजी वंश के शासनकाल से तैमूरलंग के शासनकाल तक सम्पूर्ण भारत इतना पद्दलित हो गया था कि उसमें उठने की शक्ति नहीं रह गयी। ऐसी ही संकटापन्न राज-नैतिक परिस्थिति में हमारा भक्ति साहित्य अपना सिर उठाने लगा।

धार्मिक परिस्थिति —धर्म के क्षेत्र में और भी धांधली थी। वज्रयानी सिद्ध और नाथ-पंथी योगी अर्थशून्य बाहरी विधि-विधान, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि की निस्सारता का प्रचार कर रहे थे। ये जनता को कर्मक्षेत्र से हटाकर अलग एक तंग गड्ढे में गिरा रहे थे। इनकी अन्त साधना में भक्ति, प्रेम आदि स्वाभाविक भावों का कोई स्थान नहीं था। मन्त्र और तन्त्र से धर्म का क्षेत्र संकीर्ण और कंटकाकीर्ण हो गया था। स्वाभाविक और सत्य धार्मिक भावना से जनता को अलग हटाकर एक विषम और दुरूह धार्मिक साधना की ओर जनता को मोड़ा जाना क्या न्यायसंगत और उचित हो सकता है? इसका उत्तर आप स्वयं दे सकते हैं।

धर्म के तीन सोपान बनाये गये हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। इन तीनों सोपानों के सामञ्जस्य से धर्म की भावना पुष्ट, सबल और सार्थक हो पाती है। भक्ति-काल की प्रारम्भिक अवस्था में इन तीनों तत्वों का समन्वय नहीं था। धर्म का स्वाभाविक विकास महान क्रियाओं में होता है। इस युग में कर्म बड़ा ही संकुचित घेरे से गुजर रहा था। योगियों तथा नाथों ने कर्म को प्रकृति धर्म के खुले क्षेत्र में लाने के अतिरिक्त एकबारगी किनारे ढकेल दिया। सच्चे कर्मों से लोगों को हटाकर योग साधना आदि निरर्थक कर्मों में लगाया जा रहा था। भागवत पुराण से चली आने वाली भक्ति-भावना का लोप होने लगा था। भक्ति का नाथपंथियों की साधना में कोई महत्व ही नहीं था। धर्म के तीसरे सोपान ज्ञान को भी सत्य और व्यापक अर्थ में नहीं ग्रहण किया गया था।

तुलसीदास ने उपर्युक्त धार्मिक परिस्थिति को इस प्रकार व्यक्त किया है—

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।

सारांश यह कि जिस समय मुसलमान भारत में आये उस समय सच्चे धर्म भाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था।

एक तरफ धर्म की यह अवस्था थी तो दूसरी तरफ मुसलमान धर्म का प्रभाव भी हिन्दू धर्म पर पडता जा रहा था। मुस्लिम धर्म का प्रचार भारत की मूल धार्मिक भावना को मन्द और लुप्त करने में सहयोग दे रहा था। मन्दिरो के स्थान पर मस्जिदें बनाई जा रही थी। इन मस्जिदो का प्रभाव हमारी धार्मिक भावना पर पडना स्वाभाविक ही था। धर्म के प्रचारार्थ आये मुसलमानों का उद्देश्य भी यही था। इस प्रकार हमारी धार्मिक परिस्थिति बडी ही खतरनाक हो गयी थी।

सामाजिक परिस्थिति:—राजनैतिक और धार्मिक परिस्थिति का वर्णन पढकर यह कहने में किसी भी पाठक को सकोच नही होगा कि भक्तिकाल के प्रारम्भ में सामाजिक परिस्थिति भी चिन्ताजनक ही थी। समाज, राजनीति और धर्म से अछूता रह जाय, यह असम्भव है। मुसलमानों के आतंक से भारतीय समाज ही भयभीत और आतंकित था। आपसी संघर्ष, द्वेष, आदि मनोभावों का साम्राज्य था। सबसे भयानक बात यह थी कि समाज ऊँच-नीच, जाति-पाँति, हिन्दू-मुसलमान के भेदभाव से त्रस्त था। समाज की एकता नष्ट हो चुकी थी। समाज को विकास पथ पर लाने के न तो सामुदायिक प्रयास होते थे और न व्यक्तिगत। चारो तरफ अज्ञान फैला हुआ था। बडों के प्रति अश्रद्धा, गुरुओं के प्रति उदासीनता, ईश्वर के प्रति उपेक्षा आदि की भावना से समाज जर्जरित हो रहा था।

स्वार्थपरता समाज को पतन के गर्त में ढकेलनेवाला दुर्गुण है। इसके विद्यमान रहने पर कोई भी व्यक्ति उन्नति नही कर सकता। भक्तिकाल के प्रारम्भिक क्षणों में सम्पूर्ण मानवता इस विकराल दुर्गुण से त्रस्त हो गयी थी।

> **परिस्थितियाँ**
> १ राजनीतिक—खिलजी का प्रभाव, मल्लिक काफूर का अत्याचार, स्वतंत्र हिन्दू राज्यों में संघर्ष, पददलित भारत।
> २ धार्मिक—सिद्धों और नाथों के मन्त्र-तन्त्र का प्रभाव, कठिन तपस्या, सत्यभक्ति का लोप।
> ३ सामाजिक—आपसी संघर्ष द्वेष, भय का युग, भेद-भाव का साम्राज्य, उदण्ड समाज, कुरीतियों का प्रचार।

अब मुसलमानो के प्रभाव में पड कर हिन्दुओं के रीति-रिवाज में भी परिवर्तन आ गये थे। बाल विवाह का प्रचलन बढने लगा। अन्तर्जातीय विवाह भी होने लगे। समाज इतना परिवर्तित हो गया कि उनके खान पान में भी परिवर्तन देखा जाने लगा। अज्ञानान्धकार में सम्पूर्ण समाज विकार ग्रस्त, रूढिग्रस्त, एवम् अनाचार का अड्डा बन गया। बुरे कर्मों के प्रति लोगों में प्रेम बढता आ रहा था। नारी का समाज में महत्व ही नही रह गया। समाज के

इसी विषादग्रस्त परिस्थिति में हमारा भक्ति साहित्य पनपने लगा।

उपर्युक्त विवेचन करने पर हम इसी तथ्य पर पहुँचते हैं कि भक्ति-काल के प्रारम्भिक युग में भारत की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक तीनों प्रकार की परिस्थितियाँ असन्तोषजनक ही नहीं बल्कि चिन्ताजनक थीं।

भक्ति भावना का प्रारम्भ :—

अब प्रश्न उठता है कि हिन्दी साहित्याकाश में भक्तिरेखा क्यों मुसकाने लगी? कुछ विद्वानों तथा इतिहासकारों का ऐसा मत है कि हिन्दी साहित्य में भक्ति धारा का प्रवाह हिन्दुओं में निराशा का परिणाम है और यह धारा बिजली की चमक की भाँति एकाएक हिन्दी जगत् में प्रवाहित हुई। हिन्दी साहित्य के आदि इतिहासकार जार्ज ग्रियर्सन ने ये विचार अपने इतिहास ग्रन्थ में व्यक्त किये हैं। इनके विचारों को संक्षेप में सामने रखने पर हम कह सकते हैं कि इनके अनुसार भक्ति साहित्य का प्रारम्भ एकाएक वि० सं० १२७५ से हुआ और हिन्दू जाति के पराजय के कारण हिन्दी साहित्य में भक्ति साहित्य का प्रवर्त्तन हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से छानबीन करने पर ये दोनों मत भ्रमात्मक और असत्य सिद्ध होते हैं।

कोई भी साहित्य एक या दो दिनों का परिणाम नहीं हो सकता। साहित्य वह प्रवाह है जो कहीं तीव्र गति से प्रवाहित होता है और कहीं मन्द गति से। *समुद्र का स्रोत सूख जाय यह असम्भव है। साहित्य भी एक महान सागर है।* इस सागर की धारायें भी स्थान विशेष में तीव्र और मन्द गति से बहती है। हिन्दी साहित्य की भक्ति-भावना भी साहित्यिक समुद्र की एक धारा है। परिस्थिति और स्थानविशेष के अनुसार यह कहीं मन्द होती रही और कहीं तीव्र। भक्ति जैसे सबल, पुष्ट और भाव प्रधान साहित्य को यदि हम एक दिन की देन कहें तो नादानी ही होगी। ऐसे साहित्य के लिये कई वर्षों से भूमिका तैयार होती रही होगी। इतिहास इसका साक्षी है कि भारत में भक्ति-भावना वेदों और पुराणों से चली आती है। भक्तिकाल के पूर्व भी भक्ति-भावना का प्रचार था। स्मार्त-वैष्णव, सिद्ध तथा नाथसन्त अपनी भक्तिपूर्ण विचार-धारा को ही व्यक्त करते थे। मुसल्मानों के आतंक में भी भागवत पुराण की विचार-धारायें कुछ भक्तों में विद्यमान थीं, किन्तु वे परिस्थिति के विपरीत होने के कारण उन्हें व्यक्त नहीं करते थे, अत ऐसे साहित्य को बिजली की चमक की तरह एक दिन का परिणाम नहीं कहा जा सकता।

वेबर, कीथ, ग्रियर्सन इत्यादि अग्रेज विचारकोंने इस आन्दोलन को ईसाईयत की देन माना है। ग्रियर्सन के अनुसार कुछ ईसाई सन्त ईसवी सन् की दूसरी

तीसरी शती के आस-पास मद्रास में आकर बसे थे और उन्हीं के प्रभाव से भक्ति विकसित हुई। इसी प्रकार कुछ ने कृष्ण का सम्बन्ध क्राइस्ट से जोड़ा और भागवत धर्म को ईसाई धर्म का परिवर्तित रूप कहा। किन्तु इस गलत मत का खण्डन श्री तिलक, डा० एच० एन० राय चौधरी इत्यादि विद्वानों ने कर दिया है।

भक्ति-धारा हिन्दुओं की निराशा का द्योतक है, ऐसा भी कुछ इतिहासकारों का मत है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है—'अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की भक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जानेके अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?' इससे सिद्ध होता है कि आ० शुक्ल भी भक्ति का प्रारम्भ हिन्दुओं की निराशा के कारण ही मानते हैं। किन्तु यह मत कहाँ तक सत्य है, इसकी परीक्षा नीचे के तर्क करेंगे।

भक्ति-साहित्य यदि हिन्दुओं की निराशा का परिणाम होता तो इस धारा को सबसे पहले सिन्ध प्रदेश से प्रारम्भ होना चाहिये, क्योंकि सबसे पहले सिन्ध से ही मुसलमानों का आक्रमण प्रारम्भ होता है, पर ऐसा न होकर यह धारा दक्षिण भारत में फली, फूली और तत्-पश्चात् इसने उत्तर भारत में जनता को भक्ति-भावना से ओत प्रोत किया।

जब मुसल्मानों के अत्याचार हो रहे थे तब भी भक्ति की धारा सूखी नहीं थी, मन्द गति से बह रही थी। यह कुछ वैष्णव भक्त उस समय भी थे जिनके हृदय में भक्ति की अग्नि भड़क रही थी। यह तो केवल उत्तर-भारत की ही दशा थी, दक्षिण भारत में आड़वार भक्तों की एक परम्परा कई वर्षों से जनता को भक्ति-भावना से विभोर कर रही थी। तामिल के आड़वार भक्तों ने वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर अनेक गीत लिखे जो 'प्रबन्धम्' में संग्रहीत हैं। इन आड़वार भक्तों की धर्म-भावना वैष्णव धर्म से प्रभावित थी। इस धर्म भावना के आधार को ग्रहण कर दक्षिण में कई आचार्यों का जन्म हुआ जिन्होंने धर्म का प्रचार किया। इन अचार्यों में नाथमुनी, यामुनाचार्य तथा भास्कराचार्य के नाम उल्लेखनीय हैं। बाद में चलकर तो रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्ठा-द्वैती सम्प्रदाय, निम्बार्काचार्य ने अद्वैताद्वैतवादी तथा मध्वाचार्य ने द्वैतवादी सम्प्रदाय की नींव डाली। बल्लभाचार्य ने एक अलग मार्ग चलाया, जिसका नाम पुष्टिमार्ग पड़ा। इन्हीं आचार्यों की शिष्य परम्परा ने सम्पूर्ण भारत में भक्ति की नदी बहायी, जिसकी पवित्र धारा ने सबको मोक्ष प्रदान किया। यह मोक्ष जीवन की सफलता का मोक्ष था। सबका जीवन भक्ति के प्रभाव से मंगलमय और आनन्दमय हो गया। इससे सिद्ध होता है कि भक्ति-भावना का प्रारम्भ न तो निराशा का-

परिणाम है और न तो बिजली की चमक के समान एका-एक कौंधने वाली साहित्यधारा ही है। भक्ति का जो स्रोत दक्षिण की ओर से चला आ रहा था, उसे राजनैतिक परिवर्तन ने शून्य पड़ने हुए जनमानस में फैलने के लिये पूरा स्थान दिया। यही भक्ति धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत में फैल गई।

मुसलमानों के आक्रमण के समय ही नाथ-पंथियों ने जिस धार्मिक भावना का विकास किया था, उसका सम्बन्ध एकेश्वरवाद से था। भारतीय धर्मभावना की दृष्टि से उनका कोई नवीन मतवाद नहीं था, पर देश की नयी परिस्थिति में उसे विशेष प्रोत्साहन मिला। हिन्दू और मुसलमान दोनों उसकी ओर आकृष्ट हुए और आगे चलकर हिन्दी साहित्य में वही निर्गुण-धारा के रूप में परिवर्तित हो गया।

दक्षिण में जिस सगुणवाद का प्रचार हो रहा था उसी वाद ने उत्तर-भारत में सगुण धारा को जन्म दिया। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, यामुनाचार्य, आदि ने इस भक्ति-धारा का प्रचार किया और राम-भक्ति तथा कृष्ण-भक्ति को जन्म दिया। इस भक्ति-धारा ने सम्पूर्ण जनता को रसमग्न कर दिया।

उपर्युक्त धार्मिक तथा भक्ति सम्बन्धी विकास क्रम को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि हिन्दी साहित्य में भक्ति साहित्य का प्रादुर्भाव न तो ईसाईत की देन है और न हिन्दुओं की निराशा का परिणाम। इसका प्रारम्भ और विकास परम स्वाभाविक और क्रमागत है।

भक्तिकाव्य का सामान्य परिचय :—पूर्व वर्णित राजनतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों से उद्भूत भक्तिधारा की प्रवृत्तियाँ किन रूपों में साहित्य में आयी? इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक ही नहीं वरन् उचित भी है। अन्य युगों की भाँति भक्ति साहित्य भी हमारे सम्मुख अपनी निश्चित प्रवृत्तियों के साथ उपस्थित होता है। इन्हें हम निम्न रूपों में प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) मुसल्मानों के एकेश्वरवाद और हिन्दुओं के सर्वेश्वरवाद का मेल।
(२) *सूफीमत के आधार पर धर्म का नया रूप प्रदान करना।*
(३) सगुण भक्ति का प्रचार और प्रसार।

समाज में जातिगत और धर्मगत भेदभाव को देखते हुए कबीर तथा अन्य सन्त कवियों ने एक नवीन सम्प्रदाय का प्रचलन किया। इस सम्प्रदाय को ज्ञान-मार्ग या सन्तमत के नाम से हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने ग्रहण किया। इस सम्प्रदाय ने ईश्वर के निर्गुण स्वरूप को स्वीकार किया और ईश्वर को हिन्दू और मुसलमान दोनों के घट में विद्यमान बतलाया। सन्तों ने हिन्दू धर्म को ऐसा

रूप प्रदान किया कि हिन्दूधर्म ने मुसलमान धर्म के सिद्धान्त को भी अपने में समन्वित कर लिया। ईश्वर से साक्षात्कार का एक ही रास्ता बतलाया गया और वह था—ज्ञान। इसमें एक ऐसे ईश्वर को माना गया जिसका कोई रूप नहीं है, जो सर्वव्यापक और सर्व शक्तिमान है। इस मत के अग्रगण्य कबीर थे।

ईश्वर को अपने प्रेम-पात्र के रूप में मानकर कुछ कवियों ने एक नवीन भक्ति मत का प्रचार किया। सूफियों तथा हिन्दुओं की धर्म-साधना के आधार पर इन कवियों ने ईश्वर को प्राप्त करने का एक नवीन मार्ग बतलाया। प्रेम को महत्व देने की एक परम्परा ही हिन्दी काव्य में चल पड़ी और यही परम्परा भक्ति की एक प्रमुख प्रवृत्ति बन गयी।

बिना आधार के ईश्वर की भक्ति पूर्ण नहीं होती, भक्ति के इस गूढ़ रहस्य से परिचित कुछ कवियों ने सगुण ईश्वर का गुणगान किया। इन्होंने राम और कृष्ण को ईश्वर का प्रतिरूप माना और उन्हीं के प्रति अपने भक्ति-भावों को व्यक्त किया। फलत. भक्तिकाव्य में सगुण भक्ति-धारा का आविर्भाव हुआ।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भक्ति साहित्य निम्न शाखाओं में अभिव्यक्त हुआ—

(१) ज्ञान मार्गी शाखा (२) प्रेम मार्गी शाखा

(३) कृष्ण भक्ति शाखा (४) राम भक्ति शाखा

ये चार शाखाएँ मूलत निर्गुण भक्ति तथा सगुण भक्ति की उपशाखाएँ है। भक्तिकी काव्य-धारा को समझने के लिए निम्नाङ्कित चित्र को ध्यान में रखना चाहिए —

भक्ति काव्य

(१) निर्गुण भक्ति
- (१) ज्ञानाश्रयी शाखा (सन्त मत)
- (२) प्रेमाश्रयी शाखा (सूफी मत)

(२) सगुण भक्ति
- (१) रामभक्ति शाखा
- (२) कृष्ण भक्ति शाखा

इन सभी धाराओं का अलग-अलग वर्णन आवश्यक है, किन्तु इनका स्वतंत्र और अलग विवेचन करने के पूर्व इन सब धाराओं में समान रूप से पायी जाने वाली प्रवृत्तियों एवं इस युग की विशेषताओं का भी उल्लेख हो जाना चाहिये।
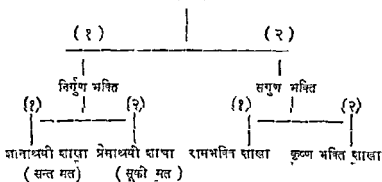
चारों शाखाओं की समान भावनायें—भक्तिकाल में चार शाखायें अवश्य थीं, किन्तु इन सभी धाराओं में कुछ समान भावनायें भी परिलक्षित होती हैं और इसीलिये इन सबके समन्वित रूप को भक्ति युग कहा गया है। ये भावनायें निम्नलिखित हैं :—

१—नाम की महत्ता, २—स्वान्त सुखाय रचना, ३—गुरु के महत्व को स्वीकार करना, ४—भक्ति भावना की प्रधानता, ५—व्यक्तिगत अनुभव पर विशेष बल, ६—अहंकार का त्याग, ७—साधु सङ्गति की महत्ता।

भक्तिकाल की सभी धाराओं में कुछ ऐसी भावनायें व्यक्त हुयी हैं जो सभी धाराओं के काव्य में समान रूप से पायी जाती है। निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के काव्य तथा इनकी उपधाराओं में भी उपर्युक्त विचार वर्णित हैं।

(१) नाम की महत्ता—ईश्वर के नाम का स्मरण, जप, कीर्तन आदि पद्धतियों से करना भक्तिकाल की समान विशेषता है। निर्गुण पथ के कवियों ने भी अपने ज्ञानमार्गी तथा प्रेममार्गी काव्य में सर्वव्यापक और सर्व अलौकिक सत्ता के नाम-जप का महत्व प्रदर्शित किया है। महात्मा कबीर, नाम को सभी रसायनों में उत्तम समझते है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि—'सभी रसायन हम करी नहीं नाम सम कोय।' जायसी ने भी सुमिरन का समर्थन किया है। अराध्य देव को स्मरण करना नाम की महत्ता ही सिद्ध करता है। पद्मावत में उन्होंने पदमावती के नाम का स्थान स्थान पर स्मरण किया है। 'सुमिरौं आदि एक करतारू—की उक्ति यह सिद्ध करती है कि जायसी अपने अलौकिक ब्रह्म का सुमिरन करने की ओर झुके हैं। तुलसी तथा सूरदास ने भी नाम को महत्व दिया है। 'राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार' कहकर कविवर तुलसी ने नाम की अलौकिक महिमा का गुणगान किया है। सूरदास जी को नाम का भरोसा है।

(२) स्वान्त सुखाय रचनाः—काव्य-रचना के कई उद्देश्य और लक्ष्य बतलाये गये हैं। हिन्दी साहित्य के वीरगाथाकालीन साहित्य का मूल उद्देश्य आश्रयदाताओं की प्रशंसा कर अपनी जीविका उपार्जन करना था। रीतिकालीन काव्य का भी यह उद्देश्य था। आधुनिक काल में भी अर्थोपार्जन या यशोपार्जन काव्य रचना का उद्देश्य है। भक्तिकाल के सभी कवि स्वतंत्र स्वाभिमानी और निस्पृह थे। उन्होंने अपनी काव्य रचना का उद्देश्य स्वान्त सुखाय', बतलाया है। तुलसी ने रामचरित मानस' की भूमिका में लिखा है—'स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा। कबीर ने हिंदू और मुसलमान सबकी बुराइयों को साफ-साफ बतलाया है और उन बुराइयों की निंदा भी की है। उन्होंने कहीं भी

किसी की झूठी प्रशंसा नहीं की। मुसलमान शासकों के धर्म की निंदा करने में भी कबीरदास को संकोच नहीं हुआ। अष्टछाप के कवियों ने 'संतन कहा सीकरी सों काम' के कथन में राज्याश्रय को ठुकराया। जायसी ने मसनवी शैली की परम्परा को निभाने के लिए तत्कालीन बादशाहों की स्तुति अवश्य की किंतु उन्होंने कहीं बीच में किसी की प्रशंसा नहीं की। 'सीयाराम मय सब जग जानी' का प्रचार करने वाला कवि अपने आत्मिक आनन्द से बढ़कर और किसी आनन्द को महत्व कैसे दे सकता था ? सबने अपने ब्रह्म की उपासना और वंदना की, और साधारण जनता ने भी उनकी साधना-पद्धति से आनन्द प्राप्त किया।

(३) गुरू की महत्ता:—गुरू के द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। भक्ति-पथ में ज्ञान का बड़ा महत्व है। तब ज्ञान देनेवालों का कितना महत्व हो सकता है, यह सहज ही ज्ञातव्य है।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पांय।
बलिहारी ताहि गुरु की, गोविन्द दियो बताय॥

कबीर का उक्त दोहा गुरु की अपरम्पार महत्ता को ज्ञापित करता है। जायसी ने भी अपने काव्य में तोता को गुरु माना है और उसकी स्तुति की है। उनका भी ऐसा विचार है कि गुरू के बिना ब्रह्म तक नहीं पहुचा जा सकता है। 'गुरु बिनु होहि न ज्ञाना' के सिद्धांत को सगुण भक्ति के कवि तुलसी और सूर ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। तुलसी ने गुरू की वंदना से ही अपना काव्य प्रारम्भ किया है। सूर ने भी 'गुरु की छटा के बिना सम्पूर्ण जगत् में अंधकार ही व्याप्त है' की बात कही है। इन साधकों की ये उक्तियां गुरू की महत्ता को पुष्ट ही नहीं प्रतिपादित एवं समर्थित भी करती हैं।

(४) भक्ति भावना की प्रधानता :—भक्तिभाव की प्रधानता को लक्ष्य करते हुए ही विद्वानों तथा इतिहासकारों ने इस युग का नाम भक्तियुग या भक्ति-काल रखा है। ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, रामभक्ति, तथा कृष्णभक्ति, शाखाओं में भक्ति की प्रधानता है। कबीर जैसे निर्गुण कविने भी ज्ञान-प्राप्ति में भक्ति को प्रमुखता दी है। उन्होंने कहा भी है 'हरि भक्ति जाने बिना बूडि मुआ ससार।' जायसी का प्रेममार्ग भक्ति का सोपान है। भक्ति में प्रेम का बड़ा महत्व है। प्रेमतत्व की सूफीमत में प्रधानता है। सूफीमत की शरीकत आदि अवस्थायें भक्तिमार्ग की विभिन्न अवस्थाओं से समता रखती हैं। सूर और तुलसी का काव्य तो भक्ति-रस और भक्ति-भाव की खान ही है। उसके काव्य में कोई भी चरण ऐसा नहीं होगा जो भक्ति के प्रचार में सहायक न हो। सूरदास जी तो बार-बार कहते हैं—'बार-बार यह बचन निवारों,

भक्ति विरोधी ज्ञान विहारो ।' तुलसी दास ने ज्ञान और भक्ति दोनों का बड़ा सुन्दर समन्वय किया है । 'ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा', वाला तथ्य तुलसी के इस विचार को पुष्ट करता है। भक्ति और ज्ञान दोनों का समन्वय करते हुए भी तुलसीदास ने भक्ति को प्रमुखता दी है।

(५) व्यक्तिगत अनुभव पर बल —भक्तिकाल के सभी कवियों ने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर अपनी काव्यधारा बहाई। तुलसीदास को छोड़कर कोई भी कवि साक्षर नहीं था। तुलसीदास ने कुछ अध्ययन अवश्य किया था किन्तु इनके काव्य में कहीं पुस्तकीय या अर्जित अनुभव का विवरण नहीं मिलता। 'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गह्यो नहीं हाथ' के द्वारा

> भक्तियुग के समान गुण — (१) नाम की महत्ता (२) स्वान्तः सुखाय रचना (३) गुरु का महत्व (४) भक्तिभावना की प्रमुखता (५) व्यक्तिगत अनुभव (६) अहंकार त्याग (७) साधु संगति

भक्त कवियों के व्यक्तिगत अनुभव का ज्ञान प्राप्त होता है। 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय' में कबीर ने अपनी स्वानुभूति और अनुभव अधिकता का परिचय दिया है। तुलसी पढ़े लिखे थे, किन्तु उन्होंने भी वाक्य-ज्ञान की निन्दा की है। सूर सागर में भी व्यक्तिगत अनुभव को महत्व दिया गया है। सूर की गोपिकाएँ प्रेम के सम्बंध में स्वज्ञान और स्वानुभव को महत्व देती हैं।

भक्ति युग के कवि संत एवम् भक्त थे। इनका घूमना प्रमुख कार्य था। स्थान स्थान तथा देश देश का भ्रमण कर इन्होंने नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त किये और उन्हीं अनुभवों को काव्य में व्यक्त किया।

(६) अहंकार का त्याग :—अहङ्कार का त्याग भक्तिमार्ग में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बतलाया गया है। भक्ति रस का आनन्द तभी मिल सकता है जब भक्त अपने दर्प को छोड़कर अपने आराध्यदेव को ही सब कुछ समझे। भक्त कवियों ने अहङ्कार का त्याग किया है और इसे छोड़ने की शिक्षा भी दी है। कबीर ने कहा है—'जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं।' इससे उनकी महानता और उनके अहङ्कार त्याग का भाव ज्ञात होता है। 'प्रभु हौं सब पतितन को टीको' के द्वारा तुलसी ने तथा 'सूर हरि की सरन आयो राखि ले भगवान' के माध्यम से सूरदास जी ने अपने अहङ्कार को त्याग कर अपनी दीनता और नम्रता का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

(७) साधु संगति की महिमा —निर्गुण और सगुण दोनों पक्षों के मार्गियों ने सतसंगति और साधु समागम की महिमा का गान किया है।

इस सङ्गति से मनुष्य के विकार दूर होते हैं और उनके विचार शुद्ध होते हैं। कबीर का यह दोहा सं-सगति और साधु-समागम के महत्त्व को पाठकों के सम्मुख रखता है—

कबिरा सगति साधु की, ज्योगधी की बास !

सूरदास ने भी कहा है—'तजो रे मन हरि बिमुखन को संग।' तुलसी ने भी 'सुधा सुरा सम साधु-असाधु' आदि उदाहरणों में साधु की महत्ता और असाधु की निन्दा का भाव प्रकट किया है।

भक्ति-साहित्य की विशेषताएँ :—भक्ति काल हिन्दी-साहित्य का गौरव काल है। इसे गौरवान्वित करने में निम्नलिखित विशेषताओं ने सक्रिय योग दिया :—

(१) भक्तिभावना की प्रधानता :—वीरगाथाकाल में सृजित साहित्य ने जन-मानस में शौर्य और वीरत्व का भाव भरा। इस युग की परिस्थितियों ने भागवत पुराण से चली आने वाली पवित्र और शुद्ध भक्तिधारा को विकसित नहीं होने दिया। भक्तिकाल तक आते-आते युग परिस्थितियाँ बदल जाती हैं और तद-नुकूल भक्ति में प्रेम का भाव जनता के हृदय में घर करने लगता है। दक्षिण के प्रभाव तथा उत्तर की प्रेरणा ने साहित्य में भी भक्ति को जन्म दिया। ईश्वर की स्मृति, उनकी अराधना और उनकी प्राप्ति के लिए विकलता के भाव काव्य में आने वाले निर्गुण और सगुण दोनों शाखाओं के काव्य में भक्तिभाव की ही प्रधानता रही। यह प्रधानता इतनी शक्तिशालिनी सिद्ध हुई कि सम्पूर्ण भारत ही 'सियाराम' मय बन गया। प्रेम, मिलन और जप, अराधना के स्वर से सम्पूर्ण हिन्दी काव्य गूँज उठा।

(२) हिन्दू और मुसलमानों में एकता —भक्ति साहित्य की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि इसने हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाई को पाटने का सफल प्रयत्न किया। 'घट-घट में वह साईं रमता' का अमृतमंत्र सबको एकता का पाठ पढ़ाने लगा। सन्त मत ने इस एकता की स्थापना में बहुत बल दिया।

(३) जाति-पाति के कलुष का अन्त :—भक्ति काव्य ने केवल हिन्दू और मुसलमान के भेद को ही नहीं समाप्त किया, पर देश में व्याप्त जाति-पाति के विकराल भेद का भी मूलोच्छेदन किया। समाज में उभरे हुए संघर्ष को शान्त कर इस काव्य ने प्रेम, स्नेह और दया का पाठ पढ़ाया। कबीर ने सभी जाति-पाति के भेदभाव को समाप्त करने का सन्देश दिया, जायसी ने सभी भेद-भाव को मिटा-कर प्रेम को अमरत्व प्रदान किया, तुलसी ने सबमें राम को देखा और सबको

भाँति राम का देवी रूप उपदेश दिया, और कृष्णभक्तों ने कृष्ण के लोकरंजन और लोकमंगल रूप का प्रस्तुत कर समाज को एकता के सूत्र में बाँधने के लिये प्रयत्न किया । इस प्रकार भक्ति काव्य से तत्कालीन समाज का बहुत बड़ा कल्याण हुआ ।

(४) आदर्श की स्थापना :—इस युग ने हमें भक्ति और धर्म के द्वारा एक आदर्श पाठ पढ़ाया । राम और कृष्ण तथा तत्कालीन निर्गुण ब्रह्म का भक्ति काव्य ने हमें आदर्श रूप में दिया । राम जैसे दशरथ नन्दन, त्रिभुवन, मानव-उद्धारक, दया के सागर चरित्र का मर्यादापुरुषोत्तम और अवतार के रूप में चित्रण तथा कृष्ण जैसा पाप संहारक, लोकरंजक लीला-पुरुषोत्तम के अवतारी रूप की क्रीड़ाओं का वर्णन कर भक्ति काव्य ने हमें आदर्श का पाठ पढ़ाया ।

(५) ईश्वर-भक्ति का प्रसार —भारतवर्ष अपनी धार्मिकता और आध्यात्मिकता के लिये वैदिक युग से ही प्रसिद्ध है । स्वार्थ, संघर्ष और कलह में पड़कर हमारी यह भावना कुन्द हो गयी थी । मुसलमानों के अत्याचार ने ईश्वर तथा ईश्वर-भक्ति से हमें उदासीन कर दिया था । कबीर की वाणी ने पुन इस मन्द ईश्वर भक्ति को धारा दिया और सूर तथा तुलसी की कविता ने इस विचारधारा को गंगा की लहरों की भाँति प्रवाह दिया । अब आध्यात्मिकता की गंगा बिना बाधा और अवरोध के प्रवाहित होने लगी । यह विशेषता भक्तिकाल की सबसे बड़ी विशेषता है ।

(६) भक्ति का एक सरल मार्ग दिखलाना —योगमार्गियों ने भक्ति को साधनात्मक रूप दिया । साधारण जनता कठिन मार्ग पर चलने में सर्वथा असमर्थ थी । नाड़ियों को ऊपर उठाने की क्रिया बड़ी कठिन थी । इस कठिन क्रिया को भक्त कवियों ने बहुत सरल और सुगम बना दिया । ईश्वर का नाम ले लेने से ही भक्ति की पूर्ति और मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, ऐसा कहकर संतों एवम् भक्तों ने एक सीधे मार्ग को जनता के लिये खोल दिया । जायसी ने तो लौकिक प्रेम के द्वारा ही ईश्वर मिलन की परम्परा चलाई । उन्होंने प्रत्येक प्रेमिका में ईश्वर का आरोपण किया ।

(७) सत्यं शिवम् और सुन्दरम् का संयोग —भक्त कवियों ने वही चित्र खींचा जो समाज के लिये श्रेष्ठ, महान, कल्याणप्रद और मंगलदायक था । इस युग में वही तथ्य निरूपित हुआ है जिससे सबका मंगल हो । कविवर तुलसी ने सबसे पहले रामचरितमानस में इसी भाव को रखा है । संसार में मंगल के आकांक्षी तुलसी मंगलदायिनी सरस्वती की सर्व-

प्रथम प्रार्थना करते हैं। यह श्लोक—'मंङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ,' तुलसी के मंगल-प्रेम को सिद्ध करता है। इसी प्रकार सूरदास जी ने कृष्ण के जीवन से उदाहरण प्रस्तुत कर संसार के कल्याण की अभिलाषा व्यक्त की है। कंस को दुष्ट के रूप में, रावण को खल, अत्याचारी और दानव के रूप में चित्रित कर तथा राम तथा कृष्ण को देश-रक्षक समाज-उद्धारक के रूप में रख कर भक्त कवियों ने सत्यं, शिवम् और सुन्दरम् का सम्मिलित रूप ही काव्य में प्रस्तुत किया है।

(८) भावों की अभिव्यंजना और सरसता :—किसी भी कवि की सफलता भावों की गम्भीरता, अभिव्यञ्जना तथा काव्य की रसात्मकता पर निर्भर करती है। कवि के हृदय के भाव ज्यों के त्यों पाठकों तक पहुंच जांय और पाठक उन भावों से तन्मय होकर तद्नुकूल व्यापार में रत हो जांय तो काव्य की सफलता असन्दिग्ध हो जाती है। भक्ति काव्य के भाव बड़े ही प्रभावक और सरस हैं। कबीर ने संसार के भूलेभटके प्राणियों को प्रेम में बांधा, जायसी ने संयोग और शृङ्गार रस का चित्रण किया, तुलसी ने मानव के सभी भावों का स्पष्टीकरण किया और सूर ने कृष्ण की *लीलाओं* का सरस वर्णन किया। सूरदास की भाव-प्रमुखता को देखकर *आ० रामचन्द्र शुक्ल को कहना पड़ा था कि 'सूर ने माँ और बच्चे के हृदय के कोने-कोने को झाँक लिया था।'* जायसी का वियोग चित्र तथा तुलसी का संयोगचित्र जितना प्रभावक है शायद वैसा प्रभावक चित्र और किसी साहित्य के काव्य में नहीं मिल सकता। जायसी की नागमती की निश्छल तथा सरस विरहानुभूतियां अत्यन्त हृदय विदारक हैं—

रहौं अकेलि गहे एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी।

❀ ❀ ❀ ❀

चहूँ खंड लागै अंधियारा। जौ घर नाहीं कंत पियारा॥

तुलसी दासजी ने अपने मानस के प्रत्येक दल में विविध भावों की अभिव्यंजना अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढंग से की है।

(९) भाषा की सरलता :—किसी भी काव्य को सरस और प्रभावक बनाने में भाषा का बहुत अधिक महत्त्व होता है। यदि भाषा कठिन है तो श्रेष्ठ भाव भी अस्पष्ट और अप्रभावक हो जाते हैं। भाषा की दुरूहता के कारण ही वीरगाथाकालीन काव्य जनप्रिय काव्य नहीं बन सका। भाषा की क्लिष्टता ने ही छायावाद को लांछित किया। भक्तिकाल का यह गौरव है कि यह भाषा की क्लिष्टता के दोष से मुक्त रहा। इसके कवियों की भाषा सधुक्कड़ी, ब्रजभाषा और अवधी थी। कबीर की भाषा तो आज भी जनप्रिय भाषा है। इसे भारत के

किसी भी अंचल के लोग आसानी से समझ सकते हैं। सूर और तुलसी की ब्रज-भाषा तथा अवधी भाषा में साधारण और प्रचलित शब्दों का प्रयोग है। तुलसी की भाषा तो इतनी सरल है कि इनकी पुस्तक रामचरितमानस को अपढ़ व्यक्ति भी समझ लेते हैं।

> शिव द्रोही मम दास कहावा,
> सो नर मोहि सपनेहु नहिं भावा।

उपर्युक्त भाषा में कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जिसका अर्थ एक साधारण मनुष्य तक को भी ज्ञात न हो। भाषा की सरलता ने ही 'सियाराम मय सब जग जानी, करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी', के संदेश को भारत की कुटिया तक भी पहुँचा दिया।

(१०) प्रचलित छन्दों का प्रयोगः—दोहा, कवित्त, सवैया, पद तथा चौपाई आदि छन्द सुगमतापूर्वक भावों को व्यक्त करते हैं। ये हिन्दी जगत् में प्रचलित थे। इनमें भाव-बोध कराने की शक्ति पाई जाती है। भक्त कवियों ने अपने मतों का प्रचार इन्हीं छन्दों में किया।

(११) रहस्यात्मकता का चित्रण—सन्त काव्य तथा प्रेम-काव्य में अलौकिक प्रेम की अभिव्यञ्जना हुई है। इसे रहस्यवाद की भी संज्ञा दी गई है। साधना के क्षेत्र में जो ब्रह्म है, साहित्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। कबीर ने रहस्यवाद की अन्तिम अवस्था का इस दोहे में बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

> जल में कुम्भ कुम्भ में जल है,
> भीतर बाहर पानी।
> फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना,
> यह तत कही गयानी॥

सन्तों का रहस्यवाद भारतीय परम्परा के अनुकूल है। सूफी कवियों ने अपने प्रेम-कथानकों की प्रेमिका को परमात्मा का प्रतीक माना है और प्रेमी को आत्मा। जायसी ने भी पद्मावत को परमात्मा और रत्नसेन को आत्मा के रूप में कल्पित करके अनेक लौकिक प्रसगों से अलौकिक पक्ष का संकेत किया है। जायसी के काव्य में समस्त प्रकृति उस प्रियतम के समागम के लिए उत्कंठित दिखाई पड़ती है। पद्मावत का प्रेमखंड रहस्यवाद का सुन्दर उदाहरण है। इस

भक्तिकाल-विशेषताएँ

१—भक्ति भावना की प्रधानता, २—हिन्दू और मुसलमानों में एकता, ३—जाति-पांति के कलुष का अन्त, ४—आदर्श की स्थापना, ५—ईश्वर-भक्ति का प्रसार, ६—भक्ति का सरल मार्ग, ७—सत्य, शिव-सुन्दर का योग, ८—भावों की सरसता, ९—भाषा की सरलता, १०—प्रचलित छन्दों का प्रयोग, ११—रहस्य वर्णन, १२—रूपोपासना।

प्रकार अलौकिक ब्रह्म की तथा आत्मा-परमात्मा की जहाँ अभिव्यक्ति हुई है वहाँ साधनात्मक और भावात्मक दोनों प्रकारके रहस्य का सुन्दर चित्रण हुआ है।

(१२) रूपोपासनाः—सगुण भक्ति में रूपोपासना का विशिष्ट स्थान है। इसमें भगवान के नाम और रूप-आनन्द के अक्षयकोष हैं। कृष्ण और राम के रूप ही सगुण भक्ति के साधन हैं। राम भक्ति और कृष्ण भक्ति, दोनों शाखाओं के कवियों ने रूपोपासना को प्रधानता दी है। ये भक्त कवि इन रूपों की स्मृति में तथा इनके चिन्तन में इतने तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें सिद्धि प्राप्ति के लिए सांसारिक साधना की आवश्यकता ही नहीं होती।

भक्ति युग की प्रवृत्तियों और विशेषताओं का परिचय प्राप्त कर लेने के उपरान्त निर्गुण तथा सगुण भक्ति और उनकी उपधाराओं का अलग-अलग ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि भक्ति धारा प्रमुखतः दो रूपों में प्रवाहित हुई—निर्गुण और सगुण भक्ति-धारा। हमारे छात्रों ने यह सूचना पा ली है कि आगे चलकर निर्गुण और सगुण धाराएँ दो-दो धाराओं में बँट गयीं। निर्गुण-भक्ति, ज्ञानाश्रयी या सन्तमत तथा प्रेमाश्रयी या सूफीमत में विभाजित हो गयी। सगुण-भक्ति भी राम भक्ति और कृष्ण भक्ति में बँट गयी।

निर्गुण भक्ति—यह एक साहित्यिक धारा का नाम है। इस धारा की विचारधारा सन्त कवियों की रचनाओं तथा सूफी कवियों की प्रेमगाथाओं में भी पायी जाती है। स्वामी रामानन्द और उनके गुरु राघवानन्द की रचनाओं में ऐसी बातें मिलती है जिन्हें निर्गुण भक्ति के बीच रूपमें माना जा सकता है।

भक्ति की इस धारा के कवियों ने ईश्वर को निराकार और निर्विकल्प माना। इन्होंने ब्रह्म को घट-घट में देखा और उसे साधना द्वारा प्राप्त करने का उपदेश दिया। आत्मा और परमात्मा के मिलन को ही इन कवियों ने अलौकिक आनन्द समझा। ईश्वर का अनुभव और ज्ञान प्राप्त करने के लिये इन्होंने योग और साधना पद्धति के अतिरिक्त नाम, जप, स्मरण, भजन आदि को श्रेष्ठता प्रदान की। इसी निर्गुण शाखा के दो भेद हुए—सन्तमत या ज्ञानाश्रयी-शाखा और सूफीमत तथा प्रेममार्गी शाखा।

ज्ञानाश्रयी शाखा या सन्तमतः—इस शाखा के प्रतिष्ठापक और व्यवस्थापक दोनों कबीरदास ही माने जाते है। इस मत में ऐसे ईश्वर की भावना मानी गई, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों के धर्म में समान रूप से स्वीकृत हो सके। यह ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक और अखण्ड ज्योतिस्वरूप है। उसको जानने के लिए आत्मज्ञान की आवश्यकता है। इस भक्ति ने बाह्याडम्बर का बहिष्कार किया है। यह मार्ग अधिकतर साधु और वैरागियों के द्वारा धर्म-

प्रचार का एक सरल मार्ग था। सतगत सगुणवाद का खण्डन भी करता है, इसलिए जनता का अधिकांश समुदाय इसे ग्रहण भी नहीं कर सका। जनता के अशिक्षित और साधारण वर्ग को सन्त काव्य ने अधिक प्रभावित किया। इसका धार्मिक क्षेत्र में अधिक महत्व है। इस सम्प्रदाय को गोरखनाथ से प्रेरणा और शक्ति मिली। यह धारा अपनी कुछ विशेषताओं को लेकर हमारे सामने आती है। इसकी विशेषताएं निम्नलिखित हैं —

(१) निर्गुण ईश्वर में विश्वासः—निर्गुण-ईश्वर में विश्वास सभी सन्त कवियों की विशेषता है। इनका निर्गुण ब्रह्म एकमात्र ज्ञानगम्य है। वह अविगत है। वेद, पुराण तथा स्मृतियाँ वहाँ तक नहीं पहुच सकतीं। 'निर्गुण राम जपहु रे भाई' के प्रस्तुतकर्त्ता ईश्वर को अजन्मा और निर्विकार मानते हैं। कबीर ने इस निर्गुण ब्रह्म को घट-घट में रमनेवाला बतलाया है। पुष्प की सुरभि और मृग की कस्तूरी की भाँति निर्गुण ब्रह्म भी सबके भीतर विराजमान है, उसे बाहर ढूँढ़ना व्यर्थ है। ऐसा प्रायः सभी सन्त कवियों ने कहा है।

(२) एकेश्वरवाद का समर्थन—आलोच्यधारा के कवियों ने अवतार-वाद और बहुदेववाद का खण्डन कर एकेश्वरवाद को माना है। हिन्दू-मुस्लिम एकता की तत्कालीन युग में बड़ी आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति एकेश्वरवाद की चर्चा से ही हो सकती थी। यही कारण है कि कबीर आदि कवियों ने एकेश्वरवाद को ही प्रधानता दी है। 'अलख पुरुष इक पेड़ है' के कथन में एकेश्वरवाद का मत पुष्ट होता है।

(३) गुरु-महत्व—'गुरु बिन होहिं न ज्ञाना' का विश्वास भारतीयों की अपनी विशेषता है। यही विशेषता सन्त कवियों की वाणी में भी पायी जाती है। इनका विश्वास है कि राम की भी कृपा तभी होती है जब गुरु की कृपा होती है। इन्होंने गुरु को परमेश्वर तक मान लिया है। कबीर का यह दोहा उनकी गुरु भक्ति और गुरु महत्ता में विश्वास का उदाहरण है —

> गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागूँ पाई।
> बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताई॥

(४) जाति पाँति का विरोध—भक्ति काल के पूर्व और उसके अविर्भाव काल में समाज में जाति पाँति का बहुत बड़ा भेद था। इस भेदभाव से भारत कई भागों में बँट गया था। समाज कल्याणवादी कवि कबीर तथा उनके मित्रों ने समाज को इस संकट से बचाना चाहा और इस भेद-भाव को आमूल नष्ट करने के लिए इस रूढ़ि का विरोध किया। विरोध ही नहीं बल्कि इन कवियों ने इसकी निस्सारता का वर्णन किया। कबीर के द्वारा रचित काव्य में स्थान-

स्थान पर जाति-पाँति का खण्डन किया गया है।

जाति-पाँति पूछे नहिं कोई,
हरि को भजे सो हरि का होई।

सन्त कवियों ने व्यंगात्मक ढंग से बड़ी कठोर ध्वनि में जाति-भेद के भावों का खण्डन किया है। 'हिन्दुअन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई' आदि वाक्य प्रहारों से सन्त भक्तों ने इस भीषण विकार से समाज की रक्षा की।

(५) **वाह्याडम्बर का विरोध**—जब हिन्दी साहित्य में सन्त कवियों का आगमन हुआ उस समय भारतीय धर्म तथा कर्म में आडम्बर का बोलबाला था। निर्गुण-सन्त कवियों ने मूर्ति-पूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, तीर्थ, व्रत आदि का खुलकर विरोध किया।

पत्थर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चक्की भली पीस खाय ससार।
कांकर-पाथर जोरि के, मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, बहिरा हुआ खुदाय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर आदि भक्त कवियों ने बाह्य विधि, विधान तथा मूर्ति-पूजा आदि को आडम्बर माना है और इसे मुक्ति पथ में निरर्थक बतलाया है।

(६) **रहस्यवादका चित्रणः**—सत कवियों की वाणियों में अव्यक्त ईश्वर तथा आत्मा के सम्बन्ध का विश्लेषणात्मक वर्णन पाया जाता है। आत्मा परमात्मा से अपना निश्छल प्रेम-सम्बन्ध जोड़ने के लिए व्याकुल रहती है। आत्मा और परमात्मा का मिलन विभिन्न अवस्थाओं से होता है। इसको अन्तिम अवस्था में पहुच कर दोनों एकाकार हो जाते है।

'जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, भीतर बाहर पानी' में कबीर दास का रहस्यात्मक भाव निखर उठा है। कबीर का रहस्यवाद बहुत ही भावमय है। इसमें परमात्मा के लिए अविचल प्रेम है। विरह और मिलन दोनों दशाओं में कबीर ने अपने रहस्यवाद को चित्रित किया है। उन्होंने परमात्मा को पति माना है और आत्मा को पत्नी। परमात्मा के मिलने पर उन्हें बहुत प्रसन्नता होती है। यह भाव उनके इस दोहे से पुष्ट होता है—

दुलहिनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आये हो राजाराम भतार॥

कबीर दास में सूफियों के रहस्यवाद की भी झलक पाई जाती है। 'मुझको क्या तू ढूंढे बन्दे मैं तो तेरे पास में, जैसी उक्तियों में कबीर का भावात्मक

रहस्यवाद झलक रहा है। कबीर की उलटबांसियों में भी उनका रहस्यात्मक भाव दिखलायी देता है। 'नैया बिच नदिया डूबनि जाय' में इनका योगात्मक रहस्यवाद स्पष्ट हुआ है।

(७) नाम की महत्ता:—नाम की महत्ता भक्ति शास्त्र की सामान्य विशेषता है। सन्तमत में भी इस महत्ता को स्वीकार किया गया है। इन्होंने ईश्वर को अव्यक्त और निराकार माना है और यह कहा है कि यह ईश्वर भी नाम-जप तथा भजन से अनुभूत किया जा सकता है। ईश्वर का ध्यान ही धर्म है, ऐसा सन्तों का मत है। नानक की इस उक्ति में नाम-जप का महत्व बतलाया गया है—

एहि जग में राम नाम, सो तो नहीं सुन्यो कान।

कबीर का यह दोहा—'पोथि पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोय, ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होय', स्मरण-भजन की ओर ही संकेत करता है।

(८) विरह की अभिव्यंजना:—सन्त काव्य में शृङ्गार तथा शान्त रस का अधिक चित्रण हुआ है। शृङ्गार की दोनों अवस्थाओं—संयोग और वियोग का अत्यन्त कलात्मक वर्णन हुआ है। ईश्वर के अनुभव की प्राप्ति के अभाव में आत्मा तड़पती है। जीव का विरह वर्णन बड़ी सरसता के साथ इस धारा के कवियों ने किया है। दुलहिन सदा दूल्हा से मिलने के लिए उत्सुक रहती है।

जियरा यों ही लेहुगो, विरह तपाइ तपाइ॥

उपर्युक्त उदाहरण से विरहाकुलता का भाव व्यक्त होता है। यह कथन भी विरह की मार्मिक अभिव्यंजना करने में सचमुच बड़ा सिद्ध हुआ है—

एक शब्द कहि पीव का कबरे मिलैंगे आइ॥

पीव के मिलने की उत्कण्ठा विरहिणी को सदैव व्याकुल करती रहती है। इस प्रकार की विरह अभिव्यंजना सन्त काव्य की विशेषता है।

(९) समाज सुधार:—सन्तों की साधना में वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। इन्होंने आत्म-शुद्धि पर बहुत बल दिया है किन्तु वह भी समाज को दृष्टि में रखकर चली है। सभी सन्त समाज सुधारक हैं। इसीलिये कबीर को कुछ आलोचकों ने अपने युग का गांधी कहा है। समाज में फैली हुई बुराइयों का वर्णन कर संत भक्तों ने समाज के मानवों को उन विकृतियों से दूर हटने का उपदेश दिया। सत्संगति, गुरु-भक्ति, सत्य प्रेम, ज्ञान आदि की ओर लोगों को ले जाने में इस सम्प्रदाय ने बहुत बड़ा कार्य किया। जातिगत तथा वर्णगत भेदभाव को दूर कर इन कवियों ने समाज को मङ्गल द्वार पर खड़ा किया। बाह्याडम्बरों से भारतीय समाज रोगग्रस्त हो गया था। कबीर ने 'जप,

छापा, माला, तिलक, सबकी निरर्थकता सिद्ध की। शुद्ध प्रेम का संदेश देकर इन भक्तों ने अपना जातीय कर्तव्य निभाया।

(१०) माया का विरोध—माया को सत कवियों ने एक प्रधान विकार बतलाया है। इसे ठगिन तक की भी लोगों ने संज्ञा दे डाली है। यह जीवों को ज्ञान प्राप्त करने से रोकती है। नश्वर संसार के नश्वर आकर्षण की ओर यह माया भक्तों को अनायास खींच लेती है। यह भगवान से मिलने के मार्ग में सबसे बडी बाधा है। कबीर की वाणी में माया का यही स्वरूप वर्णित है :—

विशेषतायें
(१) निर्गुण ईश्वर में विश्वास (२) एकेश्वरवाद का समर्थन (३) गुरु का महत्त्व स्वीकार करना, (४) जाति-पाँति का विरोध (५) बाह्य-डम्बरका विरोध, (६) रहस्यवाद का चित्रण, (७) नाम की महत्ता, (८) विरह की अभिव्यञ्जना (९) समाजिकता का आधिक्य (१०) माया का विरोध (११) सधुक्कड़ी भाषा तथा गेय मुक्त शैली का प्रयोग।

'माया महा ठगिनी हम जानी।'

ऐसा कहकर कबीर ने माया से सावधान रहने का उपदेश दिया है। यह माया मधुर वाणी बोलती है किन्तु तिरगुन लेकर सदैव घूमती रहती है। इस तिरगुन फाँस से वह जीवों को बांध लेती है। इस प्रकार के कथन से ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों ने माया का विरोध किया है और ज्ञान-पथ में इसे अवरोधक और बाधक बतलाया है।

(११) सधुक्कड़ी भाषा तथा गेय मुक्त-शैली का प्रयोग :—सन्त कवियों के काव्य में मुख्यत गेय मुक्त शैली का प्रयोग हुआ है। गीत काव्य के सभी तत्व-भावात्मकता, सगीतात्मकता, सूक्ष्मता तथा भाषा की सरलता इस काव्य की विशेषता है। इनकी भाषा भी सीधी है। उलटबाँसियों में भाषा कठिन अवश्य है पर उसके रहस्य को समझने पर अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इनकी भाषा में प्रान्तीय बोलियों का अधिक पुट है। ये कवि अशिक्षित थे अत. साहित्यिक भाषा के प्रयोग में असमर्थ थे।

इनकी यह विशेषता इनके दोहों तथा साखियों से स्पष्ट होती है। आज भी इनकी वाणियाँ फक्कड साधुओं द्वारा गायी जाती हैं।

सन्त काव्य की परम्परा और विकास :—यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि बौद्ध धर्म की दो शाखाएँ—हीनयान और वज्रयान हुई। इसी वज्रयान शाखा से नाथ सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ। नाथ सम्प्रदाय के प्रमुख कवि

गोरखनाथ ने अपने नाथ-सिद्धान्त का प्रचार किया। ऐसे सम्प्रदाय से सन्त मत प्रभावित हुआ। रामानन्द की शिष्यपरम्परा में कबीर का आविर्भाव हुआ। कबीर ने ही सन्तमत का सर्वप्रथम हिन्दी में संचालन किया।

रामानन्द की शिष्य-परम्परा में कबीर, पीपा, रैदास, धना, दादू, मलूकदास, सुन्दरदास आदि सन्त कवि प्रसिद्ध हैं। इन सब कवियों में कबीर का नाम प्रमुख है। धर्मदास और गुरुनानक का साहित्यिक महत्व भी कुछ कम नहीं है।

सुन्दरदास दादूदयाल के शिष्य थे। सन्त काव्य परम्परा में केवल ये ही एक ऐसे कवि थे जो पढ़े-लिखे थे। इन्होंने शास्त्रीय काव्य-परम्परा में काव्य रचना की। मध्ययुग की समाप्ति के साथ ही सन्त मत की महत्ता भी जाती रही। बाद में यह धारा अवरुद्ध और निष्प्राण हो गई।

ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि

कबीर :—ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर माने जाते हैं। इनके जन्म-स्थान, कुल तथा व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में असंदिग्ध रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इनके जीवन के सम्बन्ध में प्राप्त किंवदन्तियों के कारण ही इनके सम्बन्ध में ठीक-ठीक बातों का पता लगाना असंभव हो जाता है। इनके जन्म तथा मरण के सम्बन्ध में भी अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। ऐसा कहा जाता है कि कबीर का जन्म विधवा ब्राह्मणी के घर हुआ था। लोक-लाज के भय से उस ब्राह्मणी ने इनको फेंक दिया और नीरू तथा नीमा नामक जुलाहा-परिवार ने इनका पालन-पोषण किया। जुलाहा होने की बात कबीर ने स्वयम् कही है—'तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा'। कबीर पंथ के समर्थकों के अनुसार कबीर का जन्म नहीं हुआ, वे तो कमल में उत्पन्न ब्रह्म स्वरूप ज्योति थे। कबीरदास जी जुगी जाति के थे। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हें इसी जाति से सम्बन्धित माना है।

कबीर के जन्म सम्वत् के विषय में भी मतभेद है। आ० शुक्ल के अनुसार इनका जन्म सम्वत्, १४५६ और निधन सम्वत् १५७५ है। डा० हंटर के अनुसार इनका जन्म सम्वत् १३१५ में हुआ और इनकी मृत्यु, सम्वत् १४७० हुई। इसी प्रकार इनके जन्म सम्वत् के विषय में मतमतान्तर प्रस्तुत किये जाते हैं। अधिकांश इतिहासकारों ने आ० शुक्ल के मत को स्वीकार करके इनका जन्म १४५५-५६ में तथा निधन १५७६ में माना है।

कबीर गृहस्थ थे। इनकी पत्नी का नाम लोई तथा पुत्र का नाम कमाल और इनकी पुत्री का नाम कमाली था। इनका पारिवारिक जीवन दुःखमय था ऐसा इनकी साखियों से ज्ञात होता है। "सांई इतना दीजिये जामे

कुटुम्ब समाय," दोहा यह बतलाता है कि ये सुखी नहीं थे।

कबीर मस्त-मौला लापरवाह एवं फक्कड़ फकीर थे। वे सिर से पैर तक मस्तमौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचण्ड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर थे। इनमें युगावतार की शक्ति थी। अस्पृश्य होकर ये कर्मों से महान थे।

इन्होंने माया का विरोध किया है, गुरू को गोविन्द से अधिक महत्त्व दिया है, सूफी-मत की प्रेम-भावना को भी अपनाया है और ईश्वर को एक माना। यह ईश्वर घट-घट वासी और सर्वव्यापक है। इनके काव्य में रहस्यवाद का सुन्दर चित्रण हुआ। इनके अतिरिक्त मानवों को सन्देश देने के लिये कबीर ने नीति के दोहे भी लिखे। समाज का कल्याण करने में उनको सफलता मिली है। इनके गुरू रामानन्द जी थे। 'रामानन्द चितायो', से भी यही सिद्ध होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार इनके गुरु शेखतकी थे।

ग्रन्थ'—बीजक कबीर की वाणी का संग्रहीत रूप है। बीजक के तीन भाग किये गये हैं—रमैनी, साखी और शब्द। यह कबीर के उपदेशों का संकलन है। कुछ विद्वानों ने कबीर के नाम पर ५७ से ६१ तक पुस्तकों की सख्या गिनाई है। प्रामाणिकता केवल बीजक की ही सिद्ध हो सकी है।

कबीरका महत्व '—कबीर के आविर्भाव के समय भारत के धर्म की, समाज की तथा राजनीति की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। साहित्य भी इन परिस्थितियों से प्रभावित होकर चलता है अत उस युग के काव्य पर भी इन्हीं परिस्थितियों का प्रभाव था। साहित्य भी इन्ही के अनुरूप सृजित हुआ। कबीर ने अपनी उपदेशात्मक शिक्षा से जनता का बहुत बडा कल्याण किया। सामाजिक उन्नति, धार्मिक विकास तथा काव्यात्मक श्रेष्ठता में कबीर का बहुत बड़ा महत्व है।

कबीर ने हिन्दी काव्य में एक नयी परम्परा चलाई जिसे सन्त काव्य या ज्ञानाश्रयी शाखा कहा गया। इस युग के काव्य का जनता के लिये बहुत महत्व है। जाति पाँति के भेदभाव तथा प्रेमाभाव को दूर करने का उन्होंने प्रयास किया तथा सत्संगति का प्रचार तथा गुरुभक्ति का उपदेश देकर बहुत-से भूले-भटके मानवों को सचमुच मानव बना दिया।

जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।

इसे गा-गाकर इन्होंने जनता को ऊँच-नीच, जाति-पाँति के भेदभावों से अलग रखने की चेष्टा की। इन्होंने इस प्रकार समाज को आगे बढ़ाया है।

योगियों तथा कवियों ने धर्म को संकरा, जटिल और दुरुह बना दिया था। योग की साधना में सभी सिद्ध नहीं हो सकते थे। कबीरदास के आविर्भाव काल के समय धर्म में भी हिन्दू धर्म और मुसलमान धर्म का संघर्ष चल रहा था। धर्म की इस परिस्थिति में कबीर का आगमन हिन्दुओं के लिए एक श्रेष्ठ वरदान सिद्ध हुआ। इन्होंने एक निर्गुन ब्रह्म की उपासना का एक सीधा मार्ग बताया। इस सर्वव्यापक सत्ता को गुरु की कृपा से प्राप्त करने की शिक्षा देकर तथा हिन्दू धर्म और मुसलिम धर्म दोनों के आडम्बरों का विरोध कर इस सन्त कवि ने सबको एक सीधे मार्ग पर ला दिया। भागवत पुराण की भक्तिधारा पुनः गति प्राप्त करने लगी। कबीर ने ईश्वर प्रेम तथा एकेश्वरवाद के अमर संदेश से समाज के वैमनस्य को दूर कर दिया। कबीर ने इन सभी धाराओं को आत्मसात करके सर्वसाधारण जनता के लिये एक सामान्य मार्ग का निर्देशन किया :—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय॥

डा० हजारी प्रसाद जी ने ठीक ही कहा है कि 'कबीर एक ऐसे मिलन बिन्दु पर खड़े थे जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है और दूसरी ओर योग मार्ग।'

काव्यगत विशेषता :—कबीर सन्त पहले हैं कवि बाद में। उनकी वाणी में धार्मिक विचारधारा की लीक चौड़ी है और काव्य की विचारधारा की लीक संकरी और पतली। कवि कर्म भी उनका अपना कर्म नहीं था। उन्होंने तो 'मसि कागद छुयो नहिं', स्वयं कह दिया है। इतना होने पर भी कबीर ने जो काव्य किया है वह सरस और जीवन को मंगलमय बनाने में समर्थ है।

स्पष्टता और अनुभूति की गहराई किसी भी कवि की विशेषता है। उन्होंने सरल और सीधे ढंग से जीवन की अनुभूतियों को व्यक्त किया है। विरह वर्णन में तो ये अनुभूतियां बहुत ही सरल हैं—

जियरा मोही लेहुगे,
विरह तपाइ तपाइ॥

केवल विरह ही नहीं, मिलन की भी बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति इनमें मिलती है :—

सुपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आँख न खोलूँ डरपता मति सपना हो जाय॥

इनके नीति परक दोहों में भी जीवन को गतिवान करने की अजस्र शक्ति है—

माली आवत देखि के कलियाँ करी पुकार।
फूली फूली चुन लिया काल्हि हमारी बार॥

मानव जीवन की नश्वरता का इसमें कितना सुन्दर वर्णन हुआ है ?

इस प्रकार हम देखते है कि कबीर का भाव-पक्ष यद्यपि सूर-तुलसी जैसा नहीं है परन्तु जो कुछ उन्होने कहा है उसके आधार पर उन्हे कवि कहा जा सकता है।

कलापक्ष में अलंकारों की योजना कबीर ने नही की फिर भी रूपक अलंकार में ये महान हैं :—

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाइ।
पलकों की चिक डारि के पिय को लिया रिझाइ॥

कबीर की शैली मुक्तक है। उन्होने दोहे छन्द में अपनी काव्य-कला की धारा प्रवाहित की। व्यंग्यात्मकता और अक्खड़पन आदि इनकी शैली की विशेषताएँ है। इनकी भाषा एक ऐसी भाषा है जिसमें भारत के सभी प्रान्तों के शब्द हैं। इस भाषा को सधुक्कड़ी या खिचड़ी भाषा कहा गया है। यह सधुक्कड़ी भाषा अपनी सरलता के लिए महत्वपूर्ण है।

कबीर का रहस्यवाद इनके भावात्मक पक्ष को पुष्ट करता है। जिस रहस्यवाद के भावों को व्यक्त करने के लिए छायावादी कवियो का काव्य स्वर्ण जैसा सिद्ध हुआ उसी रहस्यभाव के जन्मदाता कबीर हे। हिन्दी काव्य मे एक नवीन धारा के ये जनक भी हैं।

इस प्रकार हम कह सकते है कि जिस कवि में एक ही साथ सन्त, भक्त, धार्मिक, सामाजिक नेता और कवि की विशेषताएँ हो उसका काव्य में बहुत बडा महत्व होना ही चाहिए। कबीर ने जीवन और काव्य दोनों को जिलाया ही नही वरन् जीवन भी दिया। अत काव्य में उनके महत्व को हम किसी अन्द कवि से कम नही कर सकते है। जीवन और काव्य दोनों को उन्होने समान रूप से सौन्दर्यमय बनाया, इसका उदाहरण निम्नलिखित दोहा है :—

कबीर कूता राम का मुतियाँ मेरा नाऊँ।
गले राम की जेवडी जित खैंची तित जाऊँ॥

रैदास :—रैदास का दूसरा नाम रविदास भी है। ये रामानन्द के प्रमुख शिष्यों में से थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में भी अनेक अलौकिक कथाएँ कही जाती हैं, पर वे सब मान्य नहीं। ये चमार जाति के थे। इसका प्रमाण इनकी यह उक्ति है :—

(१) 'कह रैदास खलास चमारा'
(२) ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारं॥

ऐसा कहा जाता है कि इनके कुटुम्ब के लोग बनारस के आसपास ही ढोर ढोने का काम किया करते थे। आप काशी में रहा करते थे। इन्होंने अपना

में डूबे रहते थे। इन्हें पंजाबी, हिन्दी, उर्दू तथा संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। देश-देश में घूम-घूमकर, सन्तों से मिलकर कबीर की ही भाँति नानक ने भी बाह्याडम्बर का विरोध किया है और जाति-भेद को दूर करने के लिए तथा ब्रह्म-प्राप्ति के लिए सीधे-सादे उपदेश दिये हैं। ये निराकार ब्रह्म के उपासक थे। 'गुरुग्रन्थ साहब' में इनके पद संग्रहित है। इन पदों में इनके मधुर विनय के भाव बडी ही सरल भाषा में व्यक्त हुए हैं। इनकी वाणियाँ आत्मबल तथा प्रेरणा देने में पूर्ण समर्थ हैं। इनमें एक अद्‌भुत प्रेरणादायिनी शक्ति है।

नानक की भाषा में घुमाव या जटिलता नहीं है। इनकी शैली भी निर्मल तथा प्रभावक है। इनकी भाषा, इनके निरीह आत्मनिवेदन तथा उपदेशात्मक भावों को साधारण पाठकों तक भी पहुँचा देती है। यह उदाहरण उनकी भाषा तथा भावों की श्रेष्ठता को सिद्ध करता है—

रैन गवाई सोयके दिवसु गवाया खाय।
हीरे जैसा जन्म है, कउडी बदले जाय॥

इस नमूने को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर ही हमें इस प्रकार का उपदेश दे रहे हैं।

जीवन की सार्थकता, इनके अनुसार नाम-स्मरण और निरन्तर ध्यान में है। ईश्वर को उन्होंने परम सत्य माना है। इसे प्राप्त करने पर संसार की बाधाएँ, तथा इनके संघर्ष दूर हो जाते हैं।

सुन्दरदास—सुन्दरदास दादू के शिष्यों में सर्वाधिक शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न महात्मा थे। इनका जन्म सं० १५६६ में जयपुर की राजधानी द्यौसा नगर में हुआ था। इनकी शिक्षा काशी में पूर्ण हुई। दर्शन, साहित्य, वेदान्त तथा व्याकरण के ये पण्डित थे। ये भ्रमणशील थे। इनकी मृत्यु स० १६८६ में हुई। ये जाति से वैश्य थे।

सुन्दरदास के नाम पर ४२ ग्रन्थों की सूचना मिलती है। सभी रचनाएँ 'सुन्दर-ग्रन्थावली' के नाम से संग्रहीत हैं। 'सुन्दर विलास,' वेदविचार, ज्ञान-झूलना आदि इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। ये शास्त्रीय ढंग के एक मात्र निर्गुणियाँ कवि है। इनके ग्रन्थों में अनेक प्रकार का काव्य-कौशल रसादि की भाँति सजा हुआ है। इनमें कहीं रसनिरूपण है तो कहीं अलकारों की सृष्टि।

सुन्दरदासजी शृङ्गाररस के विरोधी और हास्यरस के समर्थक थे। काव्य के बाह्यरूपों का जितना विकास इनकी रचनाओं में हुआ है उतना भाव का नहीं। सांख्य-ज्ञान और अद्वैत-ज्ञान आदि का निरूपण भी इन्होंने किया है। आत्म-अनुभव इनकी निजी सम्पत्ति है।

जाने पर ब्रह्म में मिल जाता है। यही सूफी दर्शन की पराकाष्ठा है। ईश्वर-प्राप्ति का साधन एक मात्र प्रेम है।

उपर्युक्त सिद्धान्त को मानकर चलने वाले मत को सूफीमत कहा गया। सूफी कवियों ने कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेममार्ग का महत्त्व दिखाया है। इन साधक कवियों ने अलौकिक प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्व' का आभास दिया जो प्रियतम, ईश्वर से मिलानेवाला है। इन प्रेम कहानियों का विषय तो वही साधारण होता है अर्थात् किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी के अलौकिक सौंदर्य की बात सुनकर उसके प्रेम में पागल होना और घरबार छोडकर निकल पडना तथा अनेक कष्ट और आपत्तियाँ झेलकर अन्त में उस राजकुमारी को प्राप्त करना। इस प्रेम की अभिव्यञ्जना अलौकिक ढग से हुई है। ऐसी कहानियों के आधार हिन्दू हैं। हिन्दुओं के घरों में ऐसी कहानियाँ बहुत प्राचीन युग से कही जाती थीं। सूफी फकीरों ने अपनी इन प्रेमकथाओं द्वारा हिन्दू और मुसलिम हृदयों के अजनबीपन को मनोवैज्ञानिक ढग से दूर किया और साथ-साथ खण्डनात्मकता के स्थान पर दोनों संस्कृतियों का सुन्दर मेल प्रस्तुत किया।

सूफी प्रेम काव्य हिन्दी काव्यधारा की एक विशेष शाखा है। इसके कुछ अपने गुण एवम् अपनी विशेषताएँ हैं :—

विशेषताएँ :—

(१) प्रबन्ध कल्पना :—सूफी कवियोंने प्रेमिकाओं के आधार पर प्रेम-काव्य लिखा है। लौकिक प्रेम के आधार पर अलौकिक प्रेम की अभिव्यञ्जना इस काव्य में हुई है। किसी प्रेमिका का सौन्दर्य वर्णन, उसकी प्राप्ति की चेष्टा, नाना प्रकार के प्रासङ्गिक वर्णन, संघर्ष का चित्रण तथा प्राप्ति का आनन्द आदि कथानकों में इनके प्रेम-प्रबन्धकाव्य आगे बढते हैं। प्रबन्धात्मकता इस युग की प्रथम और प्रमुख विशेषता है। सूफी कवियों ने अपनी प्रेमाभिव्यक्ति पूर्वापर सम्बन्ध से की है। यही प्रबन्धात्मकता है। इस युग में प्रबन्ध के अतिरिक्त और किसी प्रकार का काव्य नहीं रचा गया। साधारण से साधारण और अमीर से अमीर सभी प्रकार की प्रेमिकाओं की जीवन-कथा ये कवि सूत्रबद्ध और क्रमबद्ध रूप में कहते हैं। मुक्तक काव्य इसमें युग में सम्भवत नहीं लिखा गया। जायसी का 'पद्मावत' ग्रन्थ प्रबन्ध काव्य है। इस प्रबन्धकाव्य की सारी विशेषताएँ पाई जाती हैं।

(२) प्रवाह और गति का अभाव :—प्रबन्ध काव्य में जिस प्रवाह और गति की आवश्यकता है, वह प्रेमकाव्य में नहीं पाई जाती है। इसमें चित्र पुराने हैं अतः पढ़ने में मन नहीं लगता। नदी, वन आदि सभी चित्र जाने पहचाने

हैं अतः इनसे वस्तुकथा-वृद्धि में कोई सहायता नहीं मिलती। नगरों का वर्णन करते समय वहाँ के घाटों, झरोखों, वाटिकाओं, चित्रशालाओं आदि का सविस्तार वर्णन कर दिया गया है। इन विस्तारपूर्ण चित्रों तथा सूचियों की अधिकता में गति और प्रवाह की रक्षा कैसे हो सकती थी? यद्यपि यही रोचक है, किन्तु अप्रासङ्गिक वर्णन उस रोचकता को समाप्त कर देते हैं।

(३) प्रेमतत्त्व की प्रधानता :—सूफियों का मुख्य आधार प्रेम है। प्रेम के वियोग पक्ष को इन्होंने बहुत महत्व दिया है। कवियों ने प्रेमिकाओं के वियोग, उसकी अवधि में झेले जाने वाले कष्टों तथा अन्त करने के लिए किये गये विविध प्रयत्नों का जितना सुन्दर वर्णन किया है उतना मिलन का नहीं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि प्रेम की सुन्दर निष्पत्ति विरह में ही होती है।

विरह वर्णन में सूफी कवियों ने बारहमासे के वर्णन को भी महत्व दिया है। प्रेम में बारहमासे का वर्णन भारतीय परम्परा के अनुकूल है। कहीं-कहीं फारसी-परम्परा का भी अनुसरण किया गया है। विरहिणियाँ इस पद्धति में रक्त के आँसू रोती हैं।

संयोग अवस्था का वर्णन कभी-कभी कवियों ने अश्लीलावस्था में कर दिया है। मिलन के समय प्रेमी और प्रेमिका में जितना आनन्द उत्पन्न होता है, इसका चित्रण कम हुआ है। प्रेम का वर्णन करते समय ही सौन्दर्य और रूप का भी वर्णन हुआ है। प्रसंगानुकूल अन्य भावों का दिग्दर्शन भी कहीं-कहीं पर कराया गया है जैसे द्वेष, क्रोध, कपट, दया, सहृदयता आदि।

(४) चरित्र चित्रण में विविधता का अभाव :—चरित्रों के विविध भावों का चित्रण सूफी काव्य में नहीं हुआ है। सभी पात्र प्रेमी के रूप में दिखलाये गये हैं। एक प्रमुख पात्र नायक मान लिया जाता है और उसे श्रेष्ठ प्रेमी मानकर कवि चलता है। उनमें प्रेम की प्राप्ति के लिए कष्ट सहिष्णुता, बंधनों का त्याग, गुरुआज्ञा का पालन आदि गुणों को भर दिया गया है। नायिकाओं के जीवन में विविध घात प्रतिघात भी नहीं दिखलाये गये हैं। संस्कृत साहित्य के समान इनके नायक सामन्ती वातावरण से सम्बद्ध हैं। वे राजकुमार होने के नाते पराक्रमशील भी हैं और प्रेम के टेढे मेढे रास्तों को पार करते हुए अपने लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं। गौण पात्रों में कुछ ऐतिहासिक तथा काल्पनिक है। ये सभी पात्र नायक की प्रेम प्राप्ति में सहायक बनकर ही आये हैं। सभी पात्रों पर भारतीय रङ्ग चढ़ाया गया है। चरित्रों के विविध भावों तथा कार्यों के अनुसार स्वाभाविक चित्रण इनमें नहीं हुआ है। काल्पनिकता में सब चरित्र अस्वाभाविक और गढ़े हुए लगते हैं।

(५) लोक जीवन तथा भारतीय संस्कृति का चित्रण :—सूफी काव्य में वैयक्तिकता के साथ-साथ समष्टि भाव का चित्रण है। सर्वसाधारण का अन्धविश्वास, "जादू-टोना" लोकोत्सव, डायनों की करतूतें, मन्त्र-तन्त्र प्रयोग, तीर्थ-व्रत आदि लोक पक्षों का वर्णन इस काव्य को लोक जीवन से सम्बन्धित कर देता है।

सूफियों को हिन्दू-संस्कृति एवं धर्म का साधारण ज्ञान था। इन्होंने हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों, रहन-सहन, आचार-विचार का सुन्दर वर्णन किया है। पद्मावत में रत्नसेन के घर छोड़ने के समय भारतीय रुदन और विलाप का चित्र जायसी ने उपस्थित किया है। प्रसंगानुसार भारतीय ज्योतिषशास्त्र का भी उल्लेख मिलता है। पुराणों का उल्लेख कर इन्होंने अपने भारतीय-संस्कृति ज्ञान को स्पष्ट किया है। पौराणिक पात्रों में सैरन्ध्री, गांगेय, पारथ, कुबेर आदि का वर्णन जायसी ने किया है।

(६) शैतान को माया के समान मानना :—सूफी कवियों ने शैतान को माया की तरह,साधक को प्रेम के मार्ग से भ्रष्ट तथा अलग करने वाला माना है। इस शैतान की माया से बचने का एकमात्र उपाय गुरु-कृपा है। पद्मावत के राघव और चेतन शैतान है। सूफी कवियों ने सन्तों की भाँति शैतान को हेय सिद्ध किया है। शैतान के रहने पर ही साधक की परीक्षा होती है। शैतान के रहने पर सत्य और दृढ़ प्रेम का परिचय मिलता है।

(७) खण्डन तथा विरोध पद्धति का अभाव :—सूफी सम्प्रदाय के काव्य में दूसरों के सिद्धान्तों का खण्डन नहीं मिलता। ये सूफी कवि मुलायम स्वभाव के थे अतः इन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के समन्वय पर ध्यान दिया। दोनों जातियों में एकता स्थापित करने में उनकी उदारताका विशेष हाथ रहा। सूफियों की इस प्रवृत्ति का उल्लेख आ० रामचन्द्र शुक्ल ने भी किया है। उन्होंने लिखा है—"प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर सूफी कवियों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।"

(८) परमात्मा का स्त्री-रूप में चित्रण :—सूफी मत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें नारी को ही प्रेम का आधार और साधन माना गया है। नारी परमात्मा का प्रतीक है। वह प्रेम-साधना का लक्ष्य है। वह अलौकिक गुणों से युक्त है। इसके साक्षात्कार के लिए बहुत बड़ा त्याग करना पड़ता है और जीवन के संघर्षों तथा बाधाओं से संघर्ष करना पड़ता है। विपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करने के उपरान्त एक दिन ऐसा आता है

कि उस परम ब्रह्म स्वरूपिणी नारी से मिलन हो जाता है। यही आत्मा और परमात्मा का मिलन है और यही साधना की सिद्धि है।

(९) शृंगार रस की व्यञ्जना :—इन प्रेमाख्यानों में मुख्यतः शृङ्गार रस का व्यञ्जना और निष्पत्ति हुई है। सर्वप्रथम नायक नायिकाओं के सौन्दर्य तथा गुण की चर्चा सुनकर उनमें आकर्षित होते हैं। आलम्बन रूपमें गुण-कथन, चित्रदर्शन, उद्दीपन विभाव के रूप में वन, उपवन, ऋतु परिवर्तन आदि का वर्णन हुआ है। अनुभावों का भी वर्णन और चित्रण हुआ है। संयोग शृङ्गार में इन कवियों को उतनी सफलता नहीं मिली है जितनी वियोग में।

शृङ्गार के अतिरिक्त गौण रसों में वीर रस के भी दर्शन होते हैं। पद्मावत में गोरा बादल के युद्धप्रसंग में वीर रस की सुन्दर निष्पत्ति हुई है। प्रेमाख्यानों में करुण, शान्त एवं वीभत्सरस की भी किंचित अभिव्यक्ति हुई है।

(१०) मसनवी शैली का प्रयोग :—हिन्दी के बहुत विद्वानों ने इनकी शैली को मसनवी कहा है। मसनवी पद्धति के आधार पर कथा-आरम्भ के पूर्व ईश्वर वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा तथा आत्म परिचय आदि दिया जाता है। यद्यपि यह शैली मसनवी कही जाती है फिर भी प्रेम काव्यकारों ने अपने कथानकों पर भारतीय शैली और पद्धति का रंग चढ़ाने की भरसक कोशिश की है। हिन्दी के जैन-चरित-काव्यों में भी इसी प्रकार की वंदना, स्तुति आदि पद्धति मिलती है। हो सकता है कि प्रेम काव्य के कवियों ने जैन चरित की शैली का ही अनुकरण किया हो। मसनवी शैली के अतिरिक्त प्रबन्ध और मुक्तक-शैलियों का प्रयोग भी सूफी काव्य में हुआ है।

सूफीमत : विशेषताएँ —

(१) प्रबन्ध कल्पना, (२) गति का अभाव, (३) प्रेम की प्रधानता, (४) चरित्र-चित्रण में अनेकरूपता का अभाव, (५) लोक जीवन का चित्रण (६) शैतान को माया के रूप में मानना। (७) खण्डन तथा विरोध पद्धति का अभाव, (८) परमात्मा को प्रेमिका मानना, (९) शृङ्गार रस का वर्णन, (१०) मसनवी शैली का प्रयोग, (११) अवधी भाषा का प्रयोग, (१२) दोहा-चौपाई का प्रयोग, (१३) विविध अलंकारों का प्रयोग।

(११) अवधी भाषा का प्रयोग :—इस सिद्धान्त के काव्य-ग्रन्थों की भाषा अवधी है। इन कवियों ने अवधी भाषा में तद्भव शब्दों का बहुत प्रयोग किया है। अवधी भाषा के मुहावरों और लोकोक्तियों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। जायसी की अवधी में स्वाभाविकता तथा भावमयता है।

अवधी के अतिरिक्त कहीं-कहीं अरबी और फारसी के शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग स्वाभाविक भी था। फारस के सिद्धान्तों से प्रभावित काव्य में फारसी और अरबी शब्दों का आना स्वाभाविक है।

(१२) **दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग** :—सूफी कवियों ने दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग किया है। प्रायः कवियों ने इसी छन्द-शैली का अनुसरण किया है। सोरठे, सवैये, बरवै आदि छन्दों का प्रयोग भी कभी-कभी कर लिया जाता है। कहीं-कहीं पर फारसी के बहरों का भी प्रयोग हुआ है।

(१३) **उपमा-समासोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग** :—अलंकार की दिशा में कवियों ने भारतीय क्षेत्र से उपमानादि को ग्रहण किया है। उपमा के अतिरिक्त समासोक्ति अलकार का प्रयोग भी दिखलाई देता है। उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त विशेषताओं में सूफीमत या प्रेमाश्रयी शाखा हिन्दी जगत् में आती है।

सन्त और सूफी मतों की तुलना :—

सन्त और सूफी दोनो मत निर्गुण शाखा के भेद है। एक ही धारा से सम्बन्धित होने के नाते ये दोनों काव्य-धाराएँ एक दूसरे से कुछ आधार पर मिलती-जुलती हैं। दोनों में समता तो है, पर कुछ विषमता भी है। दोनों की समानता के आधार निम्नलिखित हैं :—

समता

(१) दोनो में गुरु को महत्व दिया गया है। गुरु के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा दोनों का विचार है। गुरु माया और शैतान के आघातों से साधक को बचाता है और ब्रह्म का सकेत तथा वहाँ तक पहुचने का मार्ग-दर्शन भी वही करता है।

(२) निराकार प्रेम दोनों काव्य-धाराओं की विशेषता है। सन्तो का प्रेम, साधना पर तथा सूफियो का प्रेम लौकिक सत्य और अलौकिकता पर टिका है।

(३) माया-शैतान दोनों मनुष्य के विकार हैं। सन्तों ने माया को तो एकदम त्याज्य माना है, किन्तु सूफियों ने इसे बाधा स्वरूप मानकर भी, आवश्यक माना है।

(४) दोनो ने अव्यक्त सत्ता की प्राप्ति का संकेत किया है अत. दोनों रहस्यवादी हैं। रहस्यमय सत्ता को प्राप्त करने के लिए सन्तों तथा सूफियों ने चेष्टा की है।

(५) विरह दशा का दोनों धाराओं में बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है।

(६) दोनों साधक हैं। इनका साधना-पथ विविध प्रभावों से प्रभावित है।

(७) ईश्वर-प्राप्ति में जाति-पाँति और ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं है, दोनों ने ऐसा ही मत व्यक्त किया है।

विषमता

उपर्युक्त समता के अतिरिक्त दोनों धाराओं में निम्नलिखित विषमता भी पायी जाती है :—

(१) सन्तों का पन्थ विशुद्ध भारतीय है और सूफियों की धारा भारतीयता से प्रभावित होकर भी फारसी साहित्य से प्रभावित है।

(२) सन्तों ने आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति के रूप में चित्रित किया है तो सूफियों ने आत्मा को प्रियतम और परमात्मा को प्रियतमा के रूप में।

(३) कबीर आदि ने हिन्दू-मुसलिम एकता की पूर्ति धार्मिक एकता द्वारा सम्पन्न की तो सूफियों ने सांस्कृतिक एकता द्वारा।

(४) सन्तों में अक्खड़पन है तो सूफियों में सरलता। सन्तों में अहंभाव है किन्तु प्रेम-पथ के कवियों में गम्भीरता।

(५) कबीर आदि सन्तों ने समाज सुधार और धार्मिक एकता स्थापित करने के लिए खडन-मडन का आश्रय ग्रहण किया है, सूफियों ने किसी का खंडन नहीं किया बल्कि हिन्दू-घरों की प्रेम-कहानियों के द्वारा मुसलिम पद्धति और सिद्धान्तों का वर्णन किया। सुधार लाने में यह पद्धति काफी सहायक हुई। हिन्दू और मुसलिम दोनों ने इसे स्वीकार किया।

(६) सन्तों ने अपने मतों का प्रचार मुक्तक काव्य शैली में किया। इन्होंने दोहे की शैली में ही अपनी उपदेशात्मक वाणियों को संकलित किया या कराया, किन्तु सूफियों का काव्य प्रबन्धात्मक शैली में लिखित है। पद्मावत, मधुमालती आदि प्रबन्ध काव्य की कोटि में आते हैं।

(७) सन्तों का पथ ज्ञान-पथ है तो सूफियों का प्रेम-पथ। दोनों ने ज्ञान और प्रेम को माना है पर प्रधानता एक ने ज्ञान को दी है तो दूसरे ने प्रेम को।

(८) कबीर आदि सन्तों ने प्रकृति से उदासीनता प्रकट की है, पर सूफियों ने प्रकृति से भावात्मक सम्बन्ध स्थापित किया है। 'पद्मावत' आदि काव्यों में यह दिखलाया गया है कि प्रकृति विरहिणियों तथा प्रेमियों के विरह में शामिल होती है।

(९) सन्तों के काव्य में उलटवासियों का उल्लेख है अर्थात् इन्होंने 'बरिसि कम्बल भीजै पानी' आदि जैसी उल्टी बातें कही हैं। साधना में तथा रहस्य में इनका अर्थ अवश्य है पर जनसाधारण इससे अपरिचित ही है। सूफी काव्यधारा में इस प्रकार की कहीं भी उल्टी बात नहीं कही गई है।

(१०) सन्त केवल साधक हैं। कवि-कर्म उनका गौण कर्म है। सूफी साधक हैं और कवि भी। इनका कविस्वरूप बहुत ही निखर कर सामने आया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही निर्गुण धारा की दोनो शाखाओं में साम्य से कहीं अधिक विषमता ही है। यदि दोनों में साम्य ही रहता तो इस धारा को अलग करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

सूफी साहित्यकार —सूफी कवियों में प्रमुख स्थान जायसी का है। हिन्दी काव्य में सबसे पहले जायसी ने ही विकसित सूफी काव्य परम्परा चलाई, अतः हमें भी इस युग के कवियों में सबसे पहले उन्हीं का उल्लेख करना चाहिए।

मलिक मुहम्मद जायसी :—ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य थे और जायस में रहते थे। "आखिरी कलाम" में स्वयं जायसी ने अपने जन्म के सम्बन्ध में लिखा है —

भो अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी॥

इसका अर्थ यह कि जन्मकाल ९०० हिजरी है तो वे इसके ३० वर्ष बाद कविता करने लगे। इसी छन्द की तरह एक और छन्द इस प्रकार मिलता है —

'सन् नव सौ सत्ताइस अहा। कथा आरम्भ बैन कवि कहा॥' ९२७ हिजरी का अर्थ हुआ सन् १५२०। इन्होंने पद्मावत में शेरशाह की प्रशंसा की है। प्रारम्भ में ही प्रशंसा की गई है अतः इससे सिद्ध होता है कि यह पुस्तक १५४० के करीब लिखी गयी। आ० शुक्ल ने अनुमान लगाया है कि सन् १५२० में शायद पुस्तक आरम्भ कर दी गई हो और १५४० में पूर्ण की गई हो। इनके जन्म के सम्बन्ध में निश्चित ढंग से कुछ नहीं बतलाया जा सकता। अनुमान से ही प्रायः इतिहासकारों ने इनका जन्मकाल बतलाया है। डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने इनका जन्म हिजरी ९०६ माना है। हिजरी ९०६ का अर्थ सन् १४९९ है।

बचपन में ही इनके माता-पिता का देहान्त हो गया, इसलिए इन्हें साधुओं और फकीरों के साथ घूमना पड़ा। इनके गुरु सैय्यद अशरफ पीर थे। इन्होंने शेखबुरहान को भी अपना गुरु माना है। जायसी का कहना है कि ये काने और कुरूप थे। एक बार इनको देखकर शेरशाह हँस पड़ा। जायसी ने इसका उत्तर बहुत सुन्दर ढंग से दिया—

'मोहिको हँससि कि कोहरहि।' इसका अर्थ है—मेरे ऊपर हँसते हो या मुझे बनाने वाले पर? इस प्रश्न से शेरशाह बहुत लज्जित हुआ।

जायसी का निवास स्थान जायस नगर था। जायसी ने स्वयं कहा है—

'जायस नगर धरम स्थानू'

कुछ लोगों का अनुमान है कि ये गाजीपुर से जायस स्थान पर कहीं से आकर बस गये। इनकी मृत्यु सन् १५४२ में बताई जाती है।

जायसी की रचनाएं :—'आखिरी कलाम', 'पद्मावत' और 'अखरावट' नामक तीन रचनाएं जायसीकृत मानी जाती हैं। आखिरी कलाम और अखरावट का विशेष साहित्यिक महत्व नहीं है। जायसी की रचना 'पद्मावत' का ही साहित्यिक महत्व है और इसी काव्य पर जायसी का भी हिन्दी साहित्य में महत्व है।

पद्मावत —पद्मावत हिन्दी साहित्य की एक श्रेष्ठ रचना है। इसमें सिंहल देश की राजकुमारी पद्मावती और चित्तौड़ के राजा रत्नसेन का प्रेम वर्णित है। पद्मावती की रूप-कथा शुक से सुनकर रत्नसेन उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है। रत्नसेन की पत्नी नागमती विरहाकुल होकर अपनी हार्दिक बेचैनी व्यक्त करती है। रत्नसेन अनेक राजकुमारों के साथ योगी का रूप धारण करके, मार्ग में अनेक कष्ट झेलते हुए सिंहलद्वीप पहुंचता है। देवालय में पद्मावती की झलक मिलते ही रत्नसेन बेहोश हो गया। पद्मावती उसके हृदय पर सन्देश लिखकर चली गई। सचेत होने पर राजा निरन्तर विरहाकुल रहने लगा। महादेव की कृपा से वह सिंहलगढ़ में घुसने का साहस कर सका, किन्तु प्रवेश करते समय ही पकड़ लिया गया। गन्धर्वसेनने चिढ़कर योगियों पर आक्रमण कर दिया। योगियों की रक्षा देवताओं ने की। गन्धर्वसेनने बाद में अपनी गल्ती स्वीकार की। रत्नसेन का विवाह पद्मावती से कर दिया गया। नागमती का वियोग सुनकर रत्नसेन पद्मावती के साथ चित्तौड़ की ओर चल पड़ा। बीच में अपने साथियों से अलग हो गया, फिर मिला और किसी प्रकार चित्तौड़ पहुंच गया। राघव नामक पंडित की कुमन्त्रणा से वह अलाउद्दीन के आक्रमण का शिकार बना और वीरगति प्राप्त की। उसके साथ ही साथ दोनों रानियाँ भी सती हो गईं।

'पद्मावत' के इस लौकिक प्रेम में अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की गई है। पद्मावती ब्रह्म के रूप में चित्रित की गई है तो रत्नसेन जीवात्मा के रूप में। 'पद्मावत' की कथा का एक भाग ऐतिहासिक है।

जायसी तथा उनकी प्रमुख कृति पद्मावत का परिचय प्राप्त कर लेने के उपरान्त हमें उनके महत्त्व पर विचार कर लेना चाहिए। जायसी एक श्रेष्ठ

कवि हैं, इसे सभी विद्वानो ने स्वीकार किया है। एक श्रेष्ठ कवि की श्रेष्ठता प्रदान करने में उसके दो स्वरूपों—लोककल्याणकारी और काव्यउन्नायक का, हाथ होता है। अब देखें जायसी इन दोनों स्वरूपों में कैसे हैं।

जायसी का काव्य में महत्व :—

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का गौरवकाल कहा जाता है। इसे गौरवान्वित करने में निर्गुण और सगुण दोनो धाराओ के कवियो ने पर्याप्त योग दिया। इस भक्तिकाल की आनन्दमयता और विशेषताओं की वृद्धि मे मलिक मुहम्मद जायसी का भी बहुत बडा महत्व रहा है। केवल साहित्य ही नही, वरन् लोक भी इनके काव्य से लाभान्वित और प्रकाशित हुआ।

हिन्दू और मुसलमानो के बीच एकता स्थापित करने का प्रयास कबीर ने भी किया था, किन्तु इनकी पद्धति से या परिस्थिति से प्रभावित होकर मुसलमान हिन्दुओ के आदर्श को अपनाने के लिये उत्सुक थे। ऐसे अवसर पर जायसी आदि कवियों ने प्रेम की कहानियों के द्वारा इन दोनो जातियों को एकता के अविच्छिन्न सूत्र में बांधने का प्रयास किया। इन कहानियो की मधुरता और कोमलता से हिन्दू और मुसलमान दोनों की हृदय-तन्त्रियां समान रूप से झंकृत हुई। जायसी की प्रेम कहानी से हिन्दू और मुसलमान दोनों में भगवत एकता स्थापित हुई। इन्होंने दोनो हृदयो को आमने-सामने रखकर एक दूसरे के अजनबीपन को मिटाया।

सबके प्रति सहानुभूति, सहिष्णुता, सबमें समन्वय और सबमें सद्भावो को भरने में जायसी का महत्व भुलाया नहीं जा सकता है। पद्मावत के माध्यम से इन्होंने समाज में मातृप्रेम, स्वामि-भक्ति, वीरता, गुरु-भक्ति, उदारता, ईश्वर-भक्ति आदि अच्छे भावों का पोषण किया है। गोरा-बादल के क्षात्र तेज से परिपूर्ण प्रतिज्ञा, दूती के आने पर पद्मावती के सतीत्व गौरव की अपूर्व व्यंजना, लोभ-निन्दा, दान-महिमा और रिश्वत आदि की बुराई आदि बातें लोक-जीवन को मंगलमय बनाने वाली हैं।

भक्ति मार्ग बडा कठिन और दूरूह है। हठयोगियों तथा सन्त कवियों ने इस भक्ति-मार्ग को अपनी साधना-पद्धति तथा रहस्य से जटिल कर दिया था। जायसी ने भक्ति मार्ग को सुगम, सरल और सीधा बनाया। इन्होंने यह बतला दिया कि सांसारिक या लौकिक प्रेम के आधार पर ही अलौकिक प्रेम की सिद्धि हो सकती है। लौकिक प्रेमिकाओं में अलौकिकता का आरोपण कर जायसी ने ईश्वर-प्राप्ति का एक सीधा मार्ग दिखाया। इस मार्ग में संकटों का सहन करना, नागमती रूपी-मोह माया का त्याग करना तथा गुरु-उपदेश ग्रहण करना आदि

क्रियाएँ सहायक सिद्ध होती हैं। रत्नसेन, नागमती, पद्मावती तथा गोरा-बादल आदि चरित्र अपने आदर्श का प्रतिष्ठापन कर समाज को भी आदर्श-पथ पर लाने के प्रयत्न में सफल सिद्ध होते हैं।

जायसी एक सिद्ध कवि हैं। इनकी साधना की सफलता का प्रतीक उनका प्रसिद्ध काव्य पद्मावत है। कुछ विद्वानों ने इसे हिन्दी साहित्य का श्रेष्ठ महाकाव्य कहा है। पद्मावत की पूरी कथा ७२ सर्गों में विभक्त है। महाकाव्य के अन्य लक्षण भी इसमें विद्यमान हैं।

किसी भी कवि की काव्यगत विशेषता उसकी काव्य-समीक्षा में आधार-भाव, कला और कल्पना, पर आधारित होती है। जायसी की समीक्षा भी इन्हीं आधारों पर हो सकती है। इन आधारों पर सफल सिद्ध होने पर जायसी निस्सन्देह एक श्रेष्ठ कवि सिद्ध होंगे।

जायसी प्रमुखतः शृङ्गार के कवि हैं। शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इनके काव्य में सुन्दर चित्रण हुआ है। वियोग के चित्रण में तो जायसी की महत्ता अद्वितीय है। नागमती के माध्यम से वर्णित विप्रलम्भ शृङ्गार इनके अक्षय यश का दीप-स्तम्भ है। इस दीप-स्तम्भ से जायसी का काव्य गुण रश्मियों की भांति चमक रहा है। इनके वियोग वर्णन में तीव्रता, व्याकुलता, मार्मिकता आदि सभी गुण पाये जाते हैं। वियोग-चित्रों से सारा जगत प्रभावित हो जाता है। मिलन की आकुलता, वेदना की नवीनता तथा भावों की तीव्रता सब कुछ इनके वियोग-जगत में अश्रुओं से मिलकर व्यक्त हुए हैं। सारा जगत् विरहिणी को जलाता नजर आता है और उसके हृदय की अग्नि सबको झुलसाती हुई तथा आगे बढ़ती हुई नजर आती है। नागमती का बिलखना और कलपना जड़ चेतन सबको रुला देता है। उसे पक्षियों की मधुर-ध्वनि दाह जैसी लगती है और उसके नैनों से बराबर रक्त की धारा प्रवाहित होती है। विरह की अन्तिम दशा में पहुंचकर नागमती की कल्पनाप्रियता और विरहाकुलता इस प्रकार व्यक्त होती है —

> पिउ सों कहहु सदेसड़ा' हे भौंरा हे काग।
> सो धनि विरहे जारि मरी, तेहिक धुआँ हम लाग॥

संयोग पक्ष के वर्णन में जायसी को विशेष सफलता नहीं मिलती है, फिर भी रत्नसेन तथा पद्मावती के प्रथम समागम, प्रेमिका के वार्तालाप आदि चित्रों में संयोग रस की निष्पत्ति हुई है।

रति भावों के अतिरिक्त रत्नसेन के 'सिंहल-गमन', रानियों के विलाप तथा रत्नसेन की मृत्यु के उपकरणों में करुण भावों का प्रभावक वर्णन हुआ है। शान्त-

तेज से सम्पन्न गोरा-बादल आदि पात्रों के वर्णन-स्थलों पर वीर-रस का सुन्दर वर्णन है। अन्य भावो के अन्य स्थलों पर चित्र मिलते है।

कला पक्ष :—जायसी ने अलकारो का सफल प्रयोग किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि इनके प्रिय अलकार है। अन्य स्थानो पर अन्य अलंकारो का प्रयोग भी सफलता पूर्वक किया गया है। श्लेष तथा अनुप्रास आदि अलकारो के प्रयोग में भी कवि को सफलता मिली है।

छन्दों में जायसी ने दोहा-चौपाई छन्दो को अपनाया है। इनका प्रयोग बड़ा ही सफल सिद्ध हुआ। तुलसी के पूर्व इन छन्दों का सफलता पूर्वक प्रयोग जायसी ने ही किया था।

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है। भाषा बडी ही स्वाभाविक, सरस और भावानुकूल है। अवधी भी सरल और सुगम है। स्थान-स्थान पर अरबी और फारसी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इनकी भाषा को सरसता और सरलता निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है—

काल आय दिखलाई साँटी। तब जिउ चला छाँडि कै माटी।

कल्पना-पक्ष तो जायसी की मौलिकता सिद्ध करने में समर्थ सिद्ध हुआ। कल्पना किसी भी कवि की सफलता का आधार है। भावो को ज्यो का त्यो रख देना कवि की सिद्धि का कभी भी कारण नही बन सकता। जायसी की मौलिक और मनोरम कल्पना से इनका सम्पूर्ण काव्य-जगत् दीप्त हो रहा है। प्रकृति-चित्रण विरह-वर्णन आदि में इनकी कल्पना सचमुच बडी हृदय-द्रावक हुई है। इस छन्द में कवि की श्रद्धा उमड उठी है—

कँवर जो बिकसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाई।
अबहू बेलि फिर पलुहै जो पिय सींचै आई॥

उपर्युक्त सभी धाराओं पर हम जायसी को भक्तिकाल का श्रेष्ठ कवि कह सकते हैं। भक्तिकाल के अन्य कवियों की भाँति इनका महत्त्व भी कवि और भक्त दोनों दृष्टियों से महान है। भावों की तीव्रता और प्रभावकता में ये भक्ति-काव्य के अन्य कवियों से महान भी कहे जाँय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

सूफी मत के अन्य साहित्यकार :-

सूफी काव्य परम्परा के अनुसार जायसी के पूर्व इस मत के प्रसिद्ध कवियों में कुतबन और मंझन के नाम लिए जा सकते हैं।

कुतबन (मृगावती) :—इनका जन्म काल वि० सं० १५५० माना जाता है। ये चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। कुतबन ने 'मृगावती' नामक एक काव्य ग्रन्थ लिखा।

इसमें चन्द्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेम-कथा का वर्णन है। राजकुमार राजकुमारी पर मोहित हो जाता है और उसे प्राप्त करने के लिये अनेक कष्टों का सामना करता है। अन्त में उसके पास पहुंच जाता है। वहाँ पहुंचने पर राजकुमारी उसे छोड़कर कहीं चली जाती है। राजकुमार वियोग में व्याकुल होकर उसे ढूंढता फिरता है। योगी का वेश धारण कर राजकुमार निकल पड़ा। एक पहाड़ी पर पहुंच कर रुक्मिणी नाम की एक सुन्दरी को उसने एक राक्षस से बचाया। रुक्मिणी से विवाह हो जाने पर वह मृगावती के देश में पहुंचा। वहाँ वह १२ वर्षों तक रहा। अन्त में दोनों के साथ अपने देश लौट आया। राजकुमार की मृत्यु के पश्चात् दोनों रानियाँ प्रिय से मिलने की उत्कण्ठा में बड़े आनन्द के साथ सती हो गई। इस प्रकार इस कहानी में सूफी प्रेम व्यापार की प्रधानता दीख पड़ती है। इसकी भाषा भी अवधी है। 'रुक्मिनी पुनी वैसहि मरि गई" से कुतबन की भाषा की सरलता और शैली की सुगमता सिद्ध होती है। मृगावती की यह कथा दोहा-चौपाई की शैली में वर्णित है। कथा साधारण है, पर उसके आधार पर अलौकिक प्रेम की अभिव्यञ्जना हुई है।

मंझन (मधुमालती) —मधुमालती के रचयिता मंझन भी इस युग के प्रसिद्ध कवि हैं। मधुमालती की कथा मृगावती से कहीं अधिक रुचिकर है। मधुमालती का रचना-काल प्राप्त सूचनाओं के आधार पर सन् १५४५ ठहरता है। इस ग्रन्थ में कमनेर के राजकुमार मनोहर तथा महारस की राजकन्या मधुमालती की प्रेम-कथा का वर्णन है। इसकी कथा भी मृगावती की ही तरह है।

कुछ अप्सरायें राजकुमार को रात्रि के समय ही मधुमालती की चित्रसारी में रख आती हैं। प्रातः काल राजकुमार मधुमालती से प्रेम निवेदन करता है। अप्सरायें पुनः राजकुमार को उसके देश पहुंचा देती हैं। मधुमालती उसके विरह में व्याकुल रहने लगती है। राजकुमार योगी बनकर निकल जाता है और रास्ते में प्रेमा नामक राजकुमारी की प्राण-रक्षा करता है। राजकुमारी राजकुमार को भाई समझती है और वही मधुमालती से उसे मिला भी देती है। मधुमालती की माता नहीं चाहती कि वह राजकुमार के साथ रहे। वह मधुमालती को शाप दे देती है और वह पक्षी बनकर उड़ने लगती है। ताराचन्द के द्वारा वह पकड़ ली जाती है और पुनः मानवीरूप प्राप्त कर लेती है। ताराचन्द उसे अपनी बहन मानता है। एक दिन राजकुमार मनोहर वहाँ (महारस नगर) आ पहुंचता है। अन्त में दोनों विवाहपाश में बंध जाते हैं।

प्रबन्धात्मकता और प्रेम कथा दोनों रूपों में यह काव्य प्रेमकाव्य परम्परा-अनुकूल है।

'देखत ही पहिचानेउ तोही' की भाषा में यह काव्य लिखा गया। इसमें भी मृगावती की ही शैली और छन्द व्यवहृत हुए हैं। मृगावती तथा मधुमालती दोनों काव्य-ग्रन्थ अपनी विरह-व्यथा तथा मार्मिकता के लिए प्रसिद्ध हैं।

जायसी के उपरान्त भी प्रेमगाथा परम्परा कुछ वर्षों तक चलती रही। इस परम्परा को कायम रखने में जायसी के परवर्ती कवि—उसमान, नूरमुहम्मद आदि कवियों ने सहयोग प्रदान किया।

उसमान (चित्रावली) :—जायसी के परवर्ती कवियों में उसमान का प्रमुख स्थान है। ये हाजी बाबा के शिष्य और मुगल सम्राट जहाँगीर के समकालीन थे। ये गाजीपुर के रहने वाले थे और इनके पिता का नाम शेख हुसेन था। इनकी 'चित्रावली' में नेपाल के राजकुमार सुजान तथा रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की प्रेम-कथा वर्णित है। कवलावती नामक एक दूसरी राजकुमारी से परिस्थितिवश इसकी शादी भी हो जाती है और अन्त में चित्रावली से मिलन हो जाता है। दोनों को लेकर वह अपने देश चला जाता है। चित्रावली यहाँ विद्या के रूप में चित्रित है। इस कहानी की रचना आध्यात्मिक दृष्टि से हुई है। इन्होंने जायसी का अनुकरण किया है। कथा भिन्न है, पर ढ़ग वही है, कल्पना वही है और पद्धति भी वही है।

कवि की दृष्टि से हिन्दी के सूफी कवियों में जायसी के बाद उसमान को ही स्थान दिया जा सकता है। 'चित्रावली' में पद-पद पर कवि की काव्य-प्रतिभा तथा इनके रचना-कौशल का परिचय मिलता है। कवि बड़े परिश्रम से काव्य-रचना में लीन हुआ और उसे सफलता भी मिली। कवि ने स्वयं कहा है—

एक-एक बचन मोती जनु पोवा।
कोऊ हँसा कोऊ सुनि रोवा॥

कवि भारतीय विचारधारा से अधिक प्रभावित था। उसे सूफी परम्परा की भी जानकारी थी। नगर, उद्यान, नायिका के सौन्दर्य आदि के वर्णन में कवि ने परम्परा का पालन पूरी तरह से किया है।

सगुण भक्तिधारा

भक्तिधारा की निर्गुण शाखा में यह बताया जा चुका है कि भक्ति धारा का प्रारम्भ निराकार ब्रह्म की उपासना से हुआ। यह निर्गुण भक्ति बहुत दिनों तक भारत की वाणी नहीं रह सकी। यद्यपि निर्गुण भक्ति में ब्रह्म की व्यावहारिक सगुण सत्ता को स्वीकार किया गया था, पर भक्ति के सम्यक प्रसार के लिए जैसे दृढ़ आधार की आवश्यकता थी वैसा दृढ़ आधार स्वामी रामानुजाचार्यजी ने

खड़ा किया। स्वामी वल्लभाचार्यजी ने भी अपनी कृष्णोपासना-पद्धति से भक्ति को साकार रूप प्रदान किया।

मध्यकालीन सगुण सम्प्रदाय वैष्णव धर्म से पोषण प्राप्त करता है। सगुण सम्प्रदाय की दोनों शाखाएँ ईश्वर के सगुण रूप को स्वीकार करती हैं। ज्ञान, कर्म और भक्ति में भक्ति को ही प्रमुखता दी गई। रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्त के अनुसार यह प्रचारित किया कि जगत के सारे प्राणी उसी परमब्रह्म के अंश हैं। वे उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते हैं। लीन होने पर भी वे अपनी विशेषता बनाये रखते हैं, अपना अस्तित्व नहीं खो देते। जीवों के लिए भक्ति द्वारा परब्रह्म का सामिप्य-लाभ करना आवश्यक है। स्वामी रामानुजाचार्य के इन विचारों ने जनता को अधिक आकृष्ट किया और विष्णु तथा नारायण की उपासना पद्धति आरम्भ हुई। इसी वैष्णव-भक्ति के बाद में चलकर अनेक प्रवर्तक हुए और उनके अनुरूप अनेक शाखाएँ भी हुईं। राम भक्ति धारा और कृष्ण भक्ति धारा इन धाराओं में प्रमुख हैं।

सगुण भक्ति की कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) ईश्वर का सगुण रूप :—सगुण-भक्ति-कवियों का ईश्वर साकार एवं सगुण है। इसका रूप अलौकिक और अनिर्वचनीय है। वह स्रष्टा, पालक और रक्षक है। राम और कृष्ण के रूप में सगुण भक्ति के प्रवर्तकों तथा उपासकों ने ईश्वर को साकार बना दिया। इनकी मूर्तियों को स्थापित कर अपने सम्मुख एक आधार रखकर इनकी कृपा प्राप्त करने की शिक्षा इस मार्ग के कवियों ने दी। ईश्वर का साकार रूप ही साधक या भक्त में भक्ति-भावना को जगाता है।

(२) अवतारवाद :—सगुण कवियों का विश्वास है कि ईश्वर या परम अलौकिक सत्ता अपनी इच्छा से लीला के लिए अवतरित होती है। राम और कृष्ण ईश्वर के अवतारी स्वरूप ही माने गये हैं। इनकी लीलाएँ तथा क्रियायें परम अलौकिक हैं। ये अवतार संकटापन्न स्थिति में अवतरित होते हैं और देश की रक्षा-सुरक्षा में योगदानकर संसार का कल्याण करते हैं।

(३) लीला का महत्व :—सगुण भक्ति धारा में लीला का बहुत महत्व है। तुलसी के चाहे राम हों चाहे सूर के कृष्ण सबों ने अपनी लीला दिखलाई है। राम रावण का संहार लीलार्थ करते हैं। कृष्ण द्वारा कंस का वध तथा गिरि-धारण आदि व्यापार उनकी ब्रह्म-लीला का प्रकाशन करते हैं। कृष्ण एक तरफ जहाँ अपनी लीलाओं से गोपिकाओं को रिझाते हैं वहीं दूसरी तरफ अपनी लीला से अघासुर, बकासुर आदि का वध भी करते हैं।

(४) रूपोपासना का विशिष्ट स्थान :—भगवान के नाम और रूप

आनन्द के अक्षय कोष हैं। सगुण भक्त ईश्वर के नाम और रूप से मुग्ध हो जाते हैं। साधक या भक्त आरम्भ में रामरूप तथा मूर्ति के सम्मुख आकर उपासना करता है। निरन्तर नाम-जप, गुण-कीर्तन, नम्रनिवेदन से भक्त ईश्वर में इस प्रकार लीन हो जाते हैं कि उन्हें सांसारिक उपकरण की आवश्यकता ही नहीं रहती। रूपोपासना से ही भक्ति-रस और शृङ्गार रस उत्पन्न होते हैं।

> **सगुणभक्ति की विशेषताए**
>
> १—ईश्वर को सगुण मानना, २—अवतारवाद, ३—लीला का महत्व, ४—रूपोपासना का महत्व, ५—विविध धर्मों का प्रभाव, ६—जाति-पाँति का विरोध नहीं, ७—गुरु की महत्ता, ८—भक्ति की प्रधानता, ९—श्रेष्ठ काव्य की रचना।

(५) विविध धर्मों का प्रभाव :—सगुण भक्ति धारा पर विभिन्न धर्मों का प्रभाव पड़ा है। रामायण और भागवत, भक्ति काव्य को उत्साहित करने में समर्थ ग्रन्थ हैं। इस पर संस्कृत साहित्य का अमिट प्रभाव पड़ा। भगवद्गीता, विष्णु पुराण, नारदभक्तिसूत्र आदि कई ग्रन्थ थे जिनसे भक्तिधारा प्रभावित हुई है। इस काव्य में विशेषता यह रही है कि इसने कभी भी नीचता नहीं दिखाई।

(६) जाति-पाँति का विरोध नहीं :—इन कवियों ने जाति-पाँति के भेदभाव पर चर्चा नहीं की। किसी के शूद्र होने से ही वह परीक्षा भवन से निकाल नहीं दिया जाता, भक्ति के अधिकार से वंचित नहीं कर दिया जाता।

(७) गुरु की महत्ता :—यह तो सम्पूर्ण भक्ति साहित्य की विशेषता है। 'गुरु बिनु होहि न ज्ञाना' की शिक्षा निर्गुण और सगुण दोनो धाराओं में अपनायी गयी।

(८) भक्ति की प्रधानता :—ईश्वर केवल भक्तिभाव से प्राप्त हो सकता है। भक्ति के सम्मुख मोक्ष भी तुच्छ है। भगवान के प्रति भक्तिभाव दिखलाने का अर्थ है—उसकी निकटता प्राप्त करना तथा उसकी लीलाओं में अपने आपको लीन कर देना। सगुण भक्ति की विभिन्न धाराओं ने अपने अपने मतों के अनुसार विभिन्न अवतारों में अपनी भक्ति भावना अर्पित की। राम, कृष्ण, राधा-कृष्ण आदि सबको भक्ति से मुग्ध करने की बात तुलसी, सूर सब ने कही। इस शाखा के कवियों ने नौ प्रकार की भक्ति की चर्चा की—श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, अर्चन, आत्मनिवेदन आदि।

(९) काव्य की श्रेष्ठता :—भाव और कला दोनो पक्षों में सगुण भक्ति काव्य उत्तम काव्य है। रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा दोनों

की रचनाएं हमें एक तरफ श्रृङ्गार रस में डुबाती हैं तो दूसरी तरफ भक्तिरस में। अलंकारों की शोभा, छन्दों की गतिशीलता तथा शैली की मधुरता इस युग की कलागत विशेषताएं हैं। सूरदास के पदों में कितनी मार्मिकता और भावमयता है, इसका उदाहरण उनका प्रत्येक पद है। बाल-लीला में एक बालक और माता का कितना सुन्दर चित्रण हुआ है, इसका परिचय निम्नलिखित पद दे सकता है।

मैया मैं नहिं माखन खायो,
मेरे परत ये सबै ग्वालमिलि मेरे मुख बरबस लपिटायो,

तुलसी की काव्य-धारा तो वह आनन्द-सागर है जिसमें जितनी बार स्नान किया जाय उतनी ही बार नवीन आनन्दाभूति होती है। सीताजी की यह अभिव्यक्ति पति-प्रेम को स्थायी बना देने में पूर्णतः समर्थ है :—

बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय विषाद परिताप घनेरे।
प्रभु वियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपा समाना।

राम भक्तिशाखा :—

राम-भक्ति की धारा को उत्तर भारत में प्रवाहित करने का एक मात्र श्रेय रामानन्द जी को ही है। इस भक्ति के अनुसार राम विष्णु के अवतार माने जाते हैं और उनके प्रति भक्ति-निवेदन करने तथा श्रद्धा व्यक्त करने से विशिष्ट आनन्द की प्राप्ति होती है। राम की उपासना-पद्धति से मानव विकसित और उन्नत हो सकते हैं। यह भक्ति राम पर अवलम्बित है तथा इस साहित्य के मूल स्वरूप राम ही हैं। राम पर आधारित इस भक्ति का पोषण करना और श्रीसम्वर्द्ध करना प्रत्येक जीव का धर्म है। इस राम-काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालने के पूर्व हमें इसके इतिहास पर भी ध्यान देना चाहिए।

राम का प्रथम महत्व हमें 'बाल्मीकि रामायण' से मिलता है। इस ग्रन्थ में राम प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मनुष्य ही हैं, उनमें देवत्व की छाया तक भी नहीं है। वे एक महा पुरुष अवश्य हैं, पर अवतार नहीं।

महाभारत में विष्णु के अवतारों की चर्चा की गई है। विष्णु के दस अवतार बतलाये गये हैं, जिनमें एक राम भी हैं। राम का पूर्ण स्वरूप 'विष्णु पुराण' के युग में निर्मित हुआ। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में राम की चर्चा होती रही। अध्यात्म रामायण में राम देवत्व के सबसे ऊँचे शिखर पर आसीन हैं। आगे चलकर इनकी महिमा का विस्तृत विवरण ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में 'भागवत-पुराण' द्वारा प्रचारित हुआ। चौदहवीं शताब्दी में इसी राम-मत का प्रचार

उत्तर भारत में रामानन्दजी ने सर्वसाधारण में किया। रामानन्द ने दास्यभाव से उपासना की। इनके ग्रन्थों में 'वैष्णव मतान्तर भास्कर' और 'श्री रामार्चन पद्धति' माने गये है। इस राम भक्ति का प्रचार सन्त तुलसी दास की रचनाओं द्वारा चिरस्थायी जीवन और साहित्य का एक अंग बन गया।

तुलसी ने रामानन्द के सिद्धान्तों को लेकर अपनी प्रतिमा से जो रामभक्ति सम्बन्धी कविता की उसका महत्त्व स्थायी सिद्ध हुआ। न केवल उनके काल में ही, वरन् परवर्ती काल में भी राम भक्ति की धारा अबाध रूप में प्रवाहित होती रही। तुलसी की प्रतिमा और काव्य-कला इतनी उत्कृष्ट प्रमाणित हुई कि उनके बाद किसी भी कवि की रामचरित सम्बन्धित रचना उनके मानस की समानता में नहीं आ सकती।

राम-काव्य की विशेषताएँ :—

रामकाव्य की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :—

विशेषताएँ
(१) राम का आदर्श चित्रण (२) समन्वयात्मकता (३) लोकसंग्रह और लोककल्याण की भावना (४) दास्य भक्ति (५) भक्ति और शान्त रस की प्रधानता (६) महान् और अनुकरणीय चरित्र (७) प्रबन्ध पद्धति, गीत पद्धति, (८) विभिन्न छन्द (९) विभिन्न अलंकार-उपमा-रूपक की प्रधानता (१०) अवधी-भाषा

(१) राम काव्य में राम को विष्णु का अवतार माना गया है। ये ब्रह्मस्वरूप है। यदायदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' के तथ्य को हमारे राम सत्य सिद्ध करते हैं। इन कवियों के राम शील, सौंदर्य और शक्ति के प्रतीक हैं। संसारभर के पतितो के उद्धारक, दुष्टो से पृथ्वी की रक्षा करने वाले उदार, तथा मर्यादा पुरुषोत्तम राम समाज, और राष्ट्र के रक्षक, प्रतिपालक और संरक्षक हैं। दुष्टों के संहार में राम की शक्ति का, पतितों के उद्धार में राम के शील का, नर-नारियों को आकृष्ट करने में राम के सौन्दर्य का जो परिचय हमें राम काव्य में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। राम के जीवन का इन कवियों ने ऐसा चित्रण किया है जिससे सारे जगत् के प्राणियों को, त्याग, प्रेम, उदारता सहनशीलता, नम्रता, तथा समाज-प्रेम आदि की शिक्षा मिलती है। ऐसे आदर्श चरित्रों के ऐसे चित्रण से सचमुच किसी देश और साहित्य का कल्याण हो सकता है। परिवार, समाज तथा मानवता को सुसंस्कृत बनाने में राम के आदर्श का जो

हाय है यह किसी के द्वारा भुलाया नहीं जा सकता।

(२) समन्वयात्मकता राम भक्ति की प्रमुख विशेषता है। राम के भक्तों ने राम के व्यक्तित्व को किसी मत विशेष के प्रभाव के अन्तर्गत न रख उसमें सभी मत-मतान्तरों का समन्वय किया है। क्या निर्गुण क्या सगुण, क्या वैष्णव क्या शैव, सबके प्रति उनकी उदार भावना रही और सबको उन्होंने राम भक्ति के लिए अनिवार्य समझा है। धार्मिक सिद्धान्तों के समन्वय के साथ ही साथ उन्होंने ऊँच-नीच, गुणज्ञ-बुज्ञान, सत-असत, ब्राह्मण-शूद्र सबको समान रूप से राम भक्ति का अधिकारी बताया है और उनमें सामाजिक भावना जाग्रत की है। केवल धर्म और समाज के आधार पर ही नहीं, बल्कि काव्य के आधार पर भी राम भक्ति शाखा की समन्वय-प्रवृत्ति सफल सिद्ध होती है। इन कवियों ने दोहा, कवित्त, सवैया आदि सभी पद्धतियों का भी समन्वय किया है। राम काव्य के कवियों ने अपनी भक्ति-धारा में ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का समन्वय किया है। इस समन्वय की प्रवृत्ति से इस सगुण भक्ति को लोकप्रिय होने में बड़ी सफलता और सहायता मिली।

(३) लोक कल्याण की भावना राम काव्य की प्रमुख विशेषता है। 'स्वान्तः सुखाय' लिखित काव्य केवल कवि को ही सुख नहीं देता बल्कि सम्पूर्ण समाज को ही सुख देता है। यह काव्य सबको अपना-अपना कर्तव्य करने की ओर संकेत ही नहीं बल्कि उसकी प्रेरणा भी देता है। पिता-पुत्र माता-पुत्र, भ्रातृ-मातृ, पति पत्नी, शासक प्रजा, मित्र-अमित्र, शासक-सेवक आदि में कैसा सम्बन्ध होना चाहिए इसका उदाहरण राम-काव्य है। राम के आदर्श चरित्र से इन सभी सम्बन्धों को कल्याणप्रद और मंगलदायक बनाया गया है। भरत और लक्ष्मण ने अपने भ्रातृ-प्रेम का परिचय देकर, हनुमान ने अपनी सेवा का परिचय देकर, सुग्रीव ने अपनी मित्रता का परिचय देकर तथा राम ने अपनी पितृ-मातृ-भक्ति का परिचय देकर सबको भरत और लक्ष्मण जैसा भाई, हनुमान जैसा सेवक, राम जैसा पुत्र, तथा सुग्रीव जैसा मित्र बनने की शिक्षा दी है। इन आदर्श चरित्रों से सचमुच संसार का बहुत कल्याण हुआ है। रामायण के माध्यम से आज भी इस काव्य-धारा का मंगलदायक प्रवाह भारत ही नहीं वरन् देश-देशान्तर में प्रवाहित हो रहा है।

(४) राम-काव्य में कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का मेल अवश्य हुआ है पर प्रमुखता भक्ति को ही मिली है। इस धारा के कवियों ने श्रवण, कीर्तन नाम-स्मरण आदि नवधा-भक्ति को स्वीकार किया है। इस भक्ति में सफलता प्राप्त करने में दास्य-भाव को ही प्रमुखता मिली है। 'सेवक-सेव्य भाव बिनु,

भव न तरिय उरगारि' के द्वारा भक्त कवि तुलसीदास ने दास्य भक्ति की महत्ता सिद्ध की है। हनुमान की सेवावृत्ति का मधुर फल देकर भी तुलसी दास ने इसी ओर लक्ष्य किया है। हनुमान आदर्श सेवक और राम उनके आदर्श प्रति-पालक हैं।

राम-भक्ति राम को प्रमुखता अवश्य देती है, पर अन्य देवी-देवताओं को भी अस्वीकृत नहीं करती। तुलसीदास ने, शङ्कर, कृष्ण, आदि को ग्रहण किया है, पर सब में रामत्व का आरोप करके।

(५) राम काव्य रसात्मक काव्य है। इसमें शृङ्गार, वीर वीभत्स आदि सभी रसों की निष्पत्ति हुई है। इस शाखा के कवियों ने एक तरफ, 'राम को रूप निहारति जानकी कंगन के नग की परछांई' के रूप में अपने शृङ्गारिक विचारों को पुष्ट किया है तो दूसरी तरफ 'तोरऊँ छत्रक दण्ड जिमि तव प्रताप बल नाथ, जो न करऊँ प्रभु पद शपथ पुनि न धरऊँ धनु हाथ' के द्वारा वीर रस की धारा बहाई। किन्तु इस काव्य की महत्ता इनके रसों से चिरस्थायी नहीं होती। इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने में भक्ति और शान्त रसों की प्रधानता है।

भक्तिरस एक नवीन रस है। भक्तिपरक रचनाओं में ईश्वर के प्रति अनुराग की पूर्ति होने पर जो आनन्द मिलता है, वह अनुपम है। इसीलिए राम काव्य में डा० बलदेव प्रसाद मिश्र ने भक्तिरस के दर्शन किये हैं। इस साहित्य में सर्वत्र राम-रस या भक्ति-रस की पुष्टि होती है। इस रस का आस्वादन वे ही कर सकते हैं जो राम के भक्त हैं। रामकाव्य में निर्वेद स्थायी भाव भी अपने अन्य सहयोगी भावों के साथ पुष्ट हुआ, अत शान्तरस भी इस काव्य में निष्पन्न हुआ है। तुलसीदास के साहित्य में शान्त रस के कई उदाहरण मिलते हैं। यहाँ पर एक उदाहरण पर्याप्त होगा :—

मन पछितैहैं अवसर बीते
दुर्लभ देह पाई हरिपद भजु, करम वचन अरु हीते।

(६) आलोच्य काव्य के पात्र मर्यादित और आदर्श हैं। जो चरित्र जैसा है, उसका वैसा ही चित्रण हुआ है। खल एवं असत्य चरित्रों पर सत्य चरित्रों की पताका फहराई गई है। आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पत्नी एवम् आदर्श सेवक इस काव्य के प्रमुख पात्र हैं। राम इन सभी चरित्रों में महान हैं। उनकी महिमा अपरम्पार है। सभी खल चरित्र उनके स्वरूप से प्रकम्पित होते हैं। राम ब्रह्म स्वरूप हैं किन्तु वे मानव-स्वरूप में लीला करते हुए दिखलाये गये हैं। अन्त में रामत्व की रावणत्व पर विजय दिखला कर आदर्श का प्रतिष्ठापन किया गया है। तुलसी ने सारे संसार को ही 'सियाराम' मय बनाने का उद्घोष किया

है। राम और सीता का आदर्श इतना महान है कि यह भक्त कवि सारे संसार को उन्हीं के रूप में ढाल देना चाहता है और सारे संसार को उन्हीं आदर्श चरित्रों से प्रकाशित पाता है। 'सियाराम मय सब जग जानी' राम और सीता के आदर्श स्वरूप का वर्णन करने का प्रयास है। लक्ष्मण और भरत भी आदर्श भ्राता के रूप में चित्रित हुए हैं। कौशल्या आदर्श माता है और हनुमान आदर्श भक्त हैं। इस प्रकार राम काव्य में सर्वत्र आदर्श चरित्रों का ही उल्लेख हुआ है। 'गरी गलानि कुटिल कैकेयी' कहकर तुलसीदास ने कैकेयी को दुष्ट और दुष्ट चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार अन्य चरित्रों का चित्रण है। सभी चरित्रों में रामत्व की प्रधानता है।

(७) राम काव्य में, प्रचलित सभी रचना पद्धतियों का प्रयोग है। वीरगाथा की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीत पद्धति, गङ्ग आदि भाटों की कवित्त-सवैया पद्धति, आदि सभी शैलियों में रामकाव्य रचित है। संवाद-पद्धति और रीतिपद्धति में भी रामकाव्य लिखा गया। हनुमन्नाटक में संवाद-पद्धति है और रामचन्द्रिका में रीतिशैली। दोहा पद्धति पर दोहावली की रचना तुलसीदास ने की है। इन सभी काव्यशैलियों का प्रयोग कर राममक्त कवियों ने राम-रसायन का प्रतिपादन किया। ये सभी शैलियाँ एक ही साथ शायद ही किसी काव्य में पाई जाय। यह राम काव्य की अपनी अनुपम विशेषता है।

(८) शैलियों की विभिन्नता में रामकाव्य में छन्द भी विभिन्न हैं। छन्दों में भी प्राय उस युग में प्रचलित सभी छन्द प्रयुक्त हुए हैं। छप्पय, दोहा, चौपाई सोरठा, सवैया, घनाक्षरी, तोमर आदि विभिन्न छन्दों में राम काव्य रचित है। मुख्यत दोहा और चौपाई का प्रयोग हुआ है।

(९) जहाँ तक अलंकारों का प्रश्न है इस काव्य में अनुप्रास, श्लेष, उपमा रूपक, अतिशयोक्ति, भ्रान्ति, उत्प्रेक्षा आदि सभी अलंकार मिल जाते हैं। इन सभी अलंकारों में भी प्रमुखता उपमा और रूपक को ही मिली है।

(१०) राम काव्य की भाषा प्रमुखत. अवधी है। केशवदास की रामचन्द्रिका में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। तुलसीदास की रचनाओं में अवधी और ब्रजभाषा दोनों का प्रयोग हुआ है। अन्य प्रचलित बोलियों के शब्द भी तुलसी के काव्य में मिलते हैं। इस काव्य रूप की भाषा स्वाभाविक, सरल और बोधगम्य है। भाषा की सरसता के कारण ही राम काव्य इतना अधिक प्रचलित हो सका है।

रामभक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदासः—

साहित्य-शिरोमणि, राजनीति-विशारद, धर्म-संस्थापक, समाज-सुधारक और

युग-निर्माता, भक्त-शिरोमणि तुलसीदास का आविर्भाव भारतीय संस्कृति, सभ्यता, समाज, धर्म तथा साहित्य आदि के लिए वरदान सिद्ध हुआ। ऐसे भाग्यविधायक, समाज उन्नायक कविवर तुलसीदास के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें दो साक्ष्यों पर अवलम्बित होना पड़ेगा—अन्त साक्ष्य और बाह्य-साक्ष्य। उन्होंने अपने जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ स्वयम् कहा है, वह अन्त साक्ष्य है और उनके सम्बन्ध में तत्कालीन भक्तों ने जो कुछ कहा है तथा साहित्य कृतियों में जो कुछ कहा गया है वह बाह्य-साक्ष्य है। इन्हीं दो आधारों पर सन्त तुलसी का जीवन-वृत्तान्त प्रस्तुत किया जा सकता है।

बाबा वेणीमाधवदास कृत 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर तुलसीदासजी की जन्म-तिथि वि० स० १५५४ है। इस तिथि को बहुत से विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि इस तिथि को स्वीकार करने पर तुलसीदासजी की आयु १२६ वर्ष आती है। इतनी लम्बी आयु पाना सहज सम्भव नहीं। शिवसिंह सरोज में लिखा है कि गोस्वामीजी सवत् १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे। मिरजापुर के प्रसिद्ध रामभक्त और रामायणी प० रामगुलाम द्विवेदी भक्तों की जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म संवत् १५८९ में मानते हैं।

तुलसीदास जी के जन्म स्थान के विषय में भी काफी मतभेद है। गोसाईं चरित और तुलसी चरित में राजापुर को तुलसी का जन्मस्थान बतलाया गया है। इस पक्ष को मानने वालो ने कई तर्क दिये हैं, किन्तु वे तर्क सबल नहीं जान पड़ते। कुछ विद्वानों ने इधर सोरों को तुलसीदास का जन्म स्थान माना है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भी यह जन्म स्थान कुछ सही लगता है। अभी तक प्रमाण के अभाव में निर्विवाद रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता फिर भी सूकरखेत या सोरों को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

तुलसीदास का सरयूपारीण ब्राह्मण होना तो दोनों चरितों में पाया जाता है, और सर्वमान्य भी है। ये दूबे ब्राह्मण थे, यह भी मान्य है। कहा जाता है कि इनके पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था। रहीमदास के इस दोहे से भी यह प्रमाणित होता है कि उनकी माता का नाम हुलसी था—गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी सोसुत होय।

जनश्रुति के अनुसार तुलसी अभुक्त मूल नक्षत्र में पैदा हुए थे अत. माता-पिता द्वारा त्याग दिये गये थे। पाँच वर्ष तक मुनिया नामक दासी ने इनका लालन-पालन किया, किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् इन्हें दर दर की ठोकरें खानी पड़ी। कवितावली में अपने जन्म काल की कठिनाइयों का तुलसीदास ने वर्णन किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है :—

बारे से ललात बिलात द्वार-द्वार दीन।
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को॥"

इसी अवस्था में बालक का निर्वाह कुछ दिनों तक हुआ, अन्त में बाबा नरहरिदास ने उन्हें अपने पास रख लिया और शिक्षा-दीक्षा दी। इन्हीं से गोस्वामी जी राम-कथा सुना करते थे। गुरुजी के साथ ही तुलसी दास काशी में आकर पंचगङ्गाघाट पर स्वामी रामानन्द जी के स्थान पर रहने लगे। वहाँ पर परम विद्वान महात्मा शेष सनातन जी रहते थे जिन्होंने तुलसी दास जी को वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहास-पुराण आदि में प्रवीण कर दिया।

तुलसी के वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में भी हमें जनश्रुति का ही आधार ग्रहण करना पड़ता है। जनश्रुति के अनुसार उनका विवाह दीनबन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली के साथ हुआ था। रत्नावली के उपदेश से गोस्वामी जी का विरक्त होना और भक्ति की सिद्धि प्राप्त करना प्रसिद्ध है। तुलसीदास जी इस पत्नी पर इतने अनुरक्त थे कि एक बार उसके मायके चले जाने पर वे बढ़ी नदी पार करके भी उससे जाकर मिले। स्त्री ने उसी समय कहा '—

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि, चर्म-मय देह मम तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ होति न तव भव भीत॥

यही सुनकर गोस्वामी जी घर छोड़कर काशी चले आये और फिर काशी से अयोध्या जाकर रहे। ये अनेक तीर्थस्थानों का भ्रमण करते हुए चित्रकूट में आये। सम्वत् १६३१ में अयोध्या चले गये और वहीं 'रामचरित-मानस' लिखना प्रारम्भ किया। रामायण का कुछ अंश काशी में भी लिखा गया। अपने जीवन का अधिकांश भाग तुलसी ने काशी में ही बिताया। अन्त में संम्वत् १६८० में इनकी मृत्यु हो गई। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में यह दोहा प्रचलित है '—

सम्वत् सोरह सो असी, असी गङ्ग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में उदाहरण दिया जाता है—

सम्वत् सोरह सौ असी, असी गङ्ग के तीर।
श्रावण शुक्ला तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

आ० रामचन्द्र शुक्ल ने इस तिथि को ठीक माना है। कुछ लोग 'तुलसी तज्यो शरीर' के स्थान पर 'तुलसी धर्‌यो शरीर' कहकर इस सम्वत् को उनका जन्म सम्वत् मानते हैं।

तुलसीदास हिन्दी साहित्य के एक श्रेष्ठ कवि थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के नाम करीब तीन दर्जन दिये गये हैं। इनके प्रामाणिक ग्रन्थों की संख्या १२ मानी गयी है। इनमें 'रामचरित मानस', दोहावली, कवितावली, गीतावली, विनयपत्रिका, रामलला-नहछू, पार्वती-मंगल आदि प्रसिद्ध हैं। ये सभी ग्रन्थ तुलसीदास की साधारण प्रतिभा को पुष्ट करते हैं। इन ग्रन्थों में पुरुष तथा स्त्री दोनों वर्गों के लिये पुस्तकें मिल जाती हैं। इनकी सरस रचनाएं सबको समान रूप से प्रभावित करती हैं। इनका महत्त्व हिन्दी साहित्य में क्या है, इस पर बड़े-बड़े विद्वान अपने गुरु-गम्भीर मत व्यक्त कर चुके हैं किन्तु फिर भी इनका महत्त्व सीमित नहीं हो सका। उसी असीम महत्त्व के कुछ चित्रों को हमें भी देखना है।

काव्य में तुलसीदास का महत्त्व

तुलसीदास का महत्त्व बतलाने के लिये अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार की तुलनामूलक उक्तियों का सहारा लिया है। नाभादास ने इन्हें कलिकाल का वाल्मीकि कहा था। प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ ने इन्हे 'मुगलकाल' का सबसे महान व्यक्ति' माना था, और ग्रियर्सन ने इन्हें बुद्धदेव के बाद सबसे बड़ा लोक-नायक कहा था। इन कथनों से यह स्पष्ट होता है कि तुलसीदास साधारण शक्तिशाली कवि, लोकनायक और महात्मा थे।

तुलसीदासजी साधारण प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। जिस युग में इनका जन्म हुआ उस युग के समाज के आगे कोई ऊँचा आदर्श नहीं था। समाज के उच्चस्तर के लोग विलासिता के पंक में मग्न थे। निचले वर्ग के लोग दरिद्र, दुखी और अशिक्षित थे। इस युग में वैरागी हो जाना मामूली बात थी। सारा देश नाना प्रकार के साधुओं से भर गया था। नीच समझी जाने वाली जातियों में कई पहुंचे हुए महात्मा हो गये थे। वे आत्मविश्वासी थे, किन्तु शिक्षा के अभाव में इनमें गर्व की मात्रा बढ़ गयी थी। ये आध्यात्मिक साधना से दूर थे फिर भी पण्डितों और ब्राह्मणों की बराबरी कर रहे थे। ऊँची जातियाँ इस वर्ग से चिढ़ा करती थीं। समाज में धन की मार्यादा बढ़ रही थी। सारा देश विशृङ्खल, परस्पर विछिन्न, आदर्शहीन और बिना लक्ष्य का हो रहा था। लोकनायक, समन्वयवादी तुलसी ने क्या राजनीति, समाजनीति, और क्या धर्मनीति सबकी अच्छाई-बुराई की पूर्ण परीक्षा की और कुशल वैद्य की भाँति उनकी नाड़ी की प्रत्येक-गति का अध्ययन किया।

कविवर तुलसी एक कुशल और पारखी वैद्य थे। इन्होंने सभी परिस्थितियों की नाड़ी पकड़ी, उनकी बुराइयों का अनुभव किया और उन्हें दूर करने का

काव्यमय प्रयास भी किया। इनके काव्य-सन्देश से हमारा समाज सभी दृष्टियों से आगे बढ़ गया। इनके साहित्य में जीवन की व्यापक अनुभूति मिलती है। उन्होंने समाज की मर्यादा को पुनर्जीवित किया। जीवन में फैले विभेदों को दूर करने में तुलसी का काव्य रामबाण सिद्ध हुआ। समाज तरह-तरह की विषमताओं से पीड़ित था। सन्त कवि तुलसी ने सम्पूर्ण समाज को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। "सियाराम मय सब जग जानी" का उद्घोष कर उन्होंने ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, धनी-गरीब, हिन्दू-मुसलमान सबमें रामत्व की स्थापना की। इन्होंने एक तरफ 'कलिमहिमा' में तत्कालीन अधोमुख समाज का नग्न चित्र खींचा है, तो 'रामराज्य' वर्णन में उसके आदर्श रूप की कल्पना की है। उनका दृढ़ विश्वास है कि कोई भी समाज या राष्ट्र सांस्कृतिक मर्यादाओं और पुरातन धार्मिक आदर्शों के आधार पर ही आगे बढ़ सकता है। परिवार ही समाज की आधारशिला है। तुलसी ने राम जैसे आदर्श, मर्यादित पुत्र, आदर्श प्रजापालक, आदर्श पति, आदर्श भाई को देकर प्रत्येक परिवार को आदर्शों में ही ढाल दिया है।

लोकमर्यादा तथा लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म का प्रचार किया। इनकी वर्ण-व्यवस्था न्याय और समता पर आधारित है। इस कवि के अनुसार आदर्श समाज के लिये वर्ण व्यवस्था का पालन आवश्यक है —

बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय शोक न रोग॥

आपसी संघर्षों से कोई भी समाज जर्जरित हो जाता है। तुलसी ने इन संघर्षों को दूर कर समाज में मेल तथा प्रेम का बीजारोपण किया। पक्षियों में प्रेम और समता दिखला कर उन्होंने समाज के लोगों को भी एकता के सूत्र में बांधना चाहा आकाश, पृथ्वी और जल में रहने वाले पक्षी एक ही साथ चलते है, पानी पीते है और रहते भी हैं। मनुष्यों को भी इसी प्रकार प्रेम के साथ रहना चाहिए। समाज के अज्ञानी मानवों को सद्पथ के लिए तुलसी का एक छन्द लाख-लाख श्रेष्ठ महौषधियों से अधिक प्रभावक है। माता, पिता, गुरु, स्वामी की शिक्षा को ग्रहण करना ही जीवन की सार्थकता है :—

मातु पिता गुरु स्वामी सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर नतरु जनम जग जाय॥

सतोष, मानव जीवन को सफल बनाने वाला गुण है। इसे प्राप्त करने से कोई भी जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। परम सन्तोषी राम के स्वभाव

का चित्रण कर तुलसी ने समाज के लोगों को सन्तोषी बनाया और जीवन के प्रति आस्था का भाव भरा।

भक्ति काल के प्रारम्भ में देश का धार्मिक क्षेत्र नाना प्रकार के सम्प्रदायों और अखाड़ों से भर चुका था। नाथ पन्थी कोठों के भीतर की कहानी सुना रहे थे, कबीर जाति पांति का विरोध कर अलखोपासना का सन्देश दे रहे थे। शाक्त, शैव और वैष्णव सभी अपने-अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे। इस प्रकार हिन्दू जनता धर्म की दृष्टि से भी विशृङ्खलित हो रही थी। तुलसी ने समाज विरोधी धर्म तत्वों का परिहार एवं परिष्कार करते हुए एक लोक सामान्य धर्म की स्थापना की। इन्होंने शाक्तों की निन्दा की। शाक्तों में भी वामपक्षी शाक्तो की उन्होंने ही निन्दा की। इन वामपक्षी शाक्तों ने मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन की उपासना प्रारम्भ की थी। यह उपासना धर्म विरोधी और समाज-विरोधी थी, अतः तुलसी ने इनकी निन्दा की।

कविवर तुलसीदास ने धर्म में फैली विशृङ्खलता को दूर करने का प्रयास किया और विभिन्न सम्प्रदायों के संघर्ष को समाप्त करने की उपचार-सामग्री तैयार की। उन्होंने शैव और वैष्णवों के धार्मिक भेदों को दूरकर उनमें प्रेम एवम् एकता स्थापित करने का व्रत धारण किया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि शिव और राम दोनों एक ही शक्ति हैं। इस महात्मा ने शिव की भी उसी प्रकार प्रशंसा की है जिस प्रकार राम की। "शिव द्रोही मम दास कहावा, सपनेहु मोहि नहि भावा" के मूल मंत्र से सारे संसार को राम की भक्ति की ओर सम्मुख किया। धर्म के नाम पर राम के प्रति एकनिष्ठ भक्तिभाव अर्पित करने का सन्देश दे उन्होंने सचमुच धर्म को सुधारा। जिस धर्म में केवल दिखावा प्रचलित था उसी धर्म में अब सात्विकता का जन्म हुआ। राम के प्रति सद्भावना जाग उठी और सभी ने राम को ही अपना आदर्श-देव माना। तुलसीदास का वैष्णव धर्म उदार है अतः इसमें विभेद के लिए स्थान नहीं।

तुलसी ने अगुण-सगुण, ज्ञान, कर्म तथा भक्ति में अन्तर नहीं माना। उन्होंने कहा भी है।

सगुणहिं अगुणहिं नहिं कछु भेदा।

तुलसीदास ने द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी मतमतान्तरों को स्वीकार करते हुए तथा अपना अलग पथ अपनाते हुए राम की भक्ति और राम की उपासना के सिद्धान्त को प्रचलित किया। इस राम भक्ति में इतनी विशेषता थी कि इसने सबको प्रसन्न किया। सभी धार्मिक सिद्धान्तों का राम और सीता में लय हो गया और एक परम अलौकिक राम-धर्म का प्रशस्त पथ सामने आया। इस

ही सुन्दर प्रयत्न किया है। इसी प्रयत्न की सफलता इस छन्द में व्यक्त हुई है—

दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि व्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति॥

तुलसी का यह रामराज्य सभी देशों और सभी कालों की राजनीतिक स्थिति को व्यवस्थित और आदर्श बनाने में सचमुच सफल सिद्ध हो सकता है।

अब तक हमने तुलसीदास जी के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक महत्व पर विचार किया है, लेकिन उनके महत्व को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त नहीं किया जा सका है, क्योंकि उनकी महत्ता का एक पक्ष अभी शेष है। वह पक्ष है—साहित्यिक पक्ष। ये महात्मा, कुशल राजनीतिज्ञ योग्य समाज सुधारक और भक्त होने के साथ साथ कवि शिरोमणि और सरस्वती के वरद पुत्र भी हैं। उन्होंने उपर्युक्त सभी आदर्शों को काव्य में ही व्यक्त किया है। उनकी रामभक्ति की तीव्र अनुभूति और उनकी काव्य-कुशलता को देखते हुए ही आलोचकों ने उन्हें भक्ति और कवि दोनों माना है। भक्त कर्म में इन्हें सफलता देनेवाला इनके द्वारा प्रतिपादित एकनिष्ठ भक्ति मार्ग है और इन्हें कवि के रूप में सफलता देने में इनके काव्य ग्रन्थ सिद्ध हैं।

तुलसीदासजी सच्चे अर्थों में कवि थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि अपनी अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने एक ऐसा असाधारण चरित्र चुना, जिसे उनके सिवाय कम से कम उस समय कोई छूने का साहस भी नहीं कर सकता था।

तुलसीदासजी के राम काव्य के मार्मिक-स्थलों में कवि की भावुकता मुखर हो उठी है। राम का अयोध्या त्याग, सीता-हरण, राम विलाप आदि बड़े ही मार्मिक स्थल हैं। वन गमन के प्रसंग में ग्राम-वधुओं का चित्रण भाव की दृष्टि से उत्कृष्ठ कोटि का है—

ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कस प्रीतम लोग जियो है।
आँखिन में सखि राखिबै जोग, ति हे किमि कै बनवास दियों है॥

रामचन्द्रजी सीता हरण पर जब विरहाकुल होकर 'खग-मृग और मधुकर स्रेनी' से सीताजी का पता पूछते हैं तब का चित्र किसे नहीं प्रभावित कर देता है ?

इन स्थलों की रसात्मकता तुलसी को रस सिद्ध कवीश्वर बना देती है। इनके ग्रन्थ, रामचरित मानस में कोई भी ऐसा रस नहीं है, जो निष्पन्न नहीं हुआ है। शृङ्गार, वीर, वात्सल्य, भयानक, अद्भुत आदि सभी रसों के उदाहरण इनके

काव्य में तुलसी का महत्व

(१) सामाजिक उत्थान—समाज को सुसंगठन और विवेकी बनाने का उपदेश—आदर्श परिवार की कल्पना — एकता का प्रचार—बड़ों की शिक्षा ग्रहण करना ही जीवन की सफलता है—सन्तोष का महत्व ।

(२) धार्मिक-आदर्श की स्थापना—लोक सामान्य धर्म की स्थापना—धार्मिक सम्प्रदायों में एकता स्थापित करना—राम को धर्म का आधार बनाना—राम-धर्म का प्रचार ।

(३) राजनैतिक विकास — राजाओं के राजनैतिक अत्याचार का वर्णन—राजा एवं विभिन्न लोगों से मधुर सम्बन्ध का महत्व—राम जैसे कुशल राजनीतिज्ञ का वर्णन ।

(४) कलागत उत्थान—उत्कृष्ट भावों का चित्रण — रसात्मक वर्णन—विविध छन्द एवम् अलंकारों का प्रयोग — लोक भाषा का प्रयोग ।

काव्य में पाये जाते हैं । छन्दों में दोहा, चौपाई, पद, कवित्त आदि प्रमुख छन्दों का प्रयोग हुआ है । उस युग की प्रचलित सभी शैलियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं । अलंकारों में — उत्प्रेक्षा, रूपक तथा उपमा का कवि ने प्रयोग किया है । अन्य अलंकारों में सन्देह, प्रतीप, उल्लेख, अतिशयोक्ति आदि प्रमुख हैं ।

तुलसी की भाषा चलती-फिरती अवधी है । उन्होंने लोकभाषा के रूप को अपनाते हुए उसे स्थायी साहित्यिक रूप दिया । कहीं-कहीं तुलसीदासजी ने ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया । भावानुकूल भाषा का प्रयोग तुलसी की सबसे बड़ी विशेषता है ।

उपर्युक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि तुलसीदासजी एक ही साथ कुशल भक्त, कवि, समाजसुधारक, लोकनायक धर्म-व्यवस्थापक और राजनीति विशारद थे । भक्ति युग के अन्य कवियों की महत्ता अक्षुण्ण है, पर तुलसी का यह महत्व अन्तर्राष्ट्रीय है । प्रो० विश्वनाथ प्रसादजी की 'तुलसीदास' कविता का निम्न उदाहरण कवि के व्यापक महत्व को पुष्ट करता है —

> था भक्त, सुधारक था, कवि था, ज्ञानी था, परहितकारी था,
> माता हिन्दी के मन्दिर का वह एक अनन्य पुजारी था ।

राम भक्ति शाखा में तुलसी दास के पश्चात् कोई ऐसा व्यक्ति नहीं आया जिसका चित्रण या वर्णन किया जा सके । यह कहने का यह अभिप्राय नहीं कि इस शाखा की लीक यहीं समाप्त हो गयी । राम काव्य की लीक विभिन्न रूपों में आधुनिक युग तक चलती रही । भक्ति मार्ग के अन्य राम-भक्त कवियों में स्वामी अग्रदास, नाभादास जी, प्राणचन्द चौहान, हृदयराम, कृष्णदास पयहारी,

प्रियादास, केशवदास आदि के नाम प्रमुख हैं। किन्तु केशव का आविर्भाव भक्ति काल के अन्तिम क्षणों में हुआ और विकास रीति काल में हुआ। रीति काल में जाकर ये राम भक्ति कवि न रहकर शृङ्गारिक रीतिबद्ध कवि हो जाते हैं। इन राम भक्त कवियों में प्रसिद्ध कवियों का यहाँ संक्षिप्त उल्लेख ही पर्याप्त होगा। अतः हमें भी उनके सम्बन्ध में केवल परिचयात्मक दृष्टिकोण ही प्रस्तुत करना है।

स्वामी अग्रदास :—रामानन्द जी के शिष्य अनन्तानन्द और अनन्तानन्द के शिष्य कृष्णदास पयहारी थे। कृष्णदास पयहारी के शिष्य अग्रदासजी थे। इन्हीं अग्रदास के शिष्य नाभादासजी थे। अग्रदास का आविर्भाव संवत् १६३८ में हुआ था। ये प्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने पाँच पुस्तकें लिखी थीं। एक नवीन पुस्तक जो प्रकाश में लायी गयी है। वह 'हितोपदेश उपाख्यान बावनी' है। यह कुण्डलिया छन्द में लिखी गयी है। इस पुस्तक की प्रसिद्धि 'कुण्डलिया रामायण' के नाम से अधिक है। 'ध्यान मंजरी' इनकी प्रसिद्ध रचना मानी जाती है। 'ध्यान मंजरी' के पदों में राम और अन्य भाइयों के सौंदर्य वर्णन के साथ-साथ सरयू और अयोध्या का भी ध्यान है। इनकी भाषा ललित और मजी हुई है। इन्होंने राम का चरित्र न वर्णित कर उनकी शोभा ही वर्णित की है।

नाभादास :—स्वामी अग्रदास के शिष्य नाभादास जी थे। इनका भक्तमाल अपने ढङ्ग का अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें अनेक पुराने और नये भक्तों का चरित वर्णित है। ये तुलसीदासजी के समकालीन थे, क्योंकि इन्होंने तुलसीदास जी का वर्तमान काल में वर्णन किया है। ये रामोपासक थे और राम भक्ति के सम्बन्ध में इन्होंने बहुत सुन्दर पद लिखे हैं। इनकी प्रसिद्धि पदों के लिए न होकर भक्तमाल के लिए अधिक है। यह ग्रन्थ 'भक्तिकाल' का परिचय प्राप्त करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। इसमें भक्ति की महिमासूचक बातें अधिक दी गई हैं।

नाभाजी को कुछ लोग डोम बताते हैं, तो कुछ लोग क्षत्रिय। जनश्रुति के आधार पर ऐसा कहा जाता है कि ये एक बार तुलसीदास जी से मिलने गये थे, किन्तु तुलसीदासजी को तपस्यालीन देखकर वृन्दावन गये। तुलसीदासजी ध्यान भग होने पर तुरन्त वृन्दावन गये और वहाँ जाकर इन्होंने अपनी विनम्रता से नाभादास जी को प्रसन्न कर लिया। नाभादास जी ने भी इन्हें गले लगा लिया।

ब्रजभाषा पर नाभा जी का अच्छा अधिकार था और पद्य-रचना में अच्छी निपुणता थी। इन्होंने 'अष्टयाम' नामक दो रचनाएँ कीं। एक अवधी भाषा में लिखी गयी और दूसरी ब्रजभाषा गद्य में। इनके भक्तमाल पर बाद में चलकर

प्रियादास जी ने टीका लिखी। इस टीका से भक्तमाल की कमी पूर्ण हो जाती है।

इन कवियों के अतिरिक्त रामभक्त कवियों में आचार्य केशव का नाम आता है। इनकी 'रामचन्द्रिका' पुस्तक इस शाखा की प्रसिद्ध पुस्तक मानी जाती है। इस काल में इनका वर्णन केवल इसी ग्रन्थ के आधार पर होगा और रीतिकाल में इनके अन्य स्वरूप का वर्णन होगा।

आचार्य केशव :—आचार्य केशव का जन्म टेहरी में सं० १६१२ में हुआ। इनके पिता का नाम पं० काशीनाथ था। ओरछा नरेश इन्द्रजीत सिंह इनके आश्रयदाता तथा मित्र थे। ओरछा में इनका बड़ा मान था। ये एक सुसभ्य और पण्डित परिवार में पैदा हुए थे। इनमें संस्कृत के प्रति प्रेम और अनुराग बचपन से ही था। यदि ऐसा कहा जाय कि इनका यह प्रेम संस्कारगत था तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इनकी 'रामचन्द्रिका' रामकाव्य में श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसे प्रसिद्ध महाकाव्य तक भी कहा गया है। ग्रन्थारम्भ के पहले ही केशव ने अपनी अलंकार-प्रियता और बहु-छन्द-प्रियता का उल्लेख कर दिया है—

रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हूँ बहु छंद।

रसात्मकता और प्रबन्धात्मकता दोनों के विचार से यह ग्रन्थ त्रुटिपूर्ण है। इसकी महत्ता केवल रामकथा वर्णित करने में ही है।

केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में राम की समस्त कथा 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर कही है, यद्यपि अनेक स्थलों पर अन्य संस्कृत ग्रन्थों का भी प्रभाव पड़ा है। इनके प्रारम्भ में ही दशरथ का परिचय देकर और रामादि चारों भाइयों के नाम गिना कर विश्वामित्र के आने का वर्णन कर दिया गया है। ताड़का और सुबाहु वध आदि का वर्णन संकेत रूप में ही है। जनकपुर के धनुषयज्ञ का वर्णन साङ्गोपाङ्ग है। इनके अतिरिक्त ऋतुवर्णन और नखशिख आदि का भी सविस्तार वर्णन हुआ है। भक्तिभाव की कोमलता और सुकुमारता के अभाव में यह ग्रन्थ भक्ति-काव्य में श्रेष्ठ नहीं हो सका। यह ग्रन्थ ३९ प्रकाशों में राम-कथा प्रस्तुत करता है। रामचन्द्रिका के अतिरिक्त अन्य कृतियों पर अन्यत्र प्रकाश डाला जायगा।

———

कृष्ण-भक्ति

कृष्ण-भक्ति-परम्परा बहुत पुरानी है। श्री कृष्ण की भावना का अविर्भाव ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व ही हो गया था। तभी से कृष्ण-भावना विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न रूप धारण करती हुई तामिल देश के आडवार भक्तों तक गई। १२ वीं और १३ वीं शताब्दी के लगभग विष्णु स्वामी, निम्बार्काचार्य, मध्वाचाय, के प्रचार कार्य से इस भक्ति को एक नया रूप मिला। आगे चलकर इन्हीं आचार्यों की कृष्ण-भक्ति से प्रभावित होकर बल्लभाचार्य ने अपना पुष्टि-मार्ग चलाया। इस पुष्टिमार्ग के द्वारा कृष्ण के बालस्वरूप तथा लीला आदि का वर्णन किया गया।

पुष्टि मार्ग के अनुसार भगवान अपने भक्तों के लिये *'व्यापी वैकुण्ठ'* में लीलाएं करते हैं। किसी प्रकार इस लीला में प्रवेश पाना ही जीवन के लिए समस्या बनी रहती है। इस लीला को प्राप्त करने में केवल प्रेम-लक्षणा भक्ति ही सहायक हो सकती है। इस प्रेम-लक्षणा-भक्ति को प्राप्त करने के लिये ही भगवान के अनुग्रह की आवश्यकता पड़ती है। इस अनुग्रह का नाम पुष्टि है। जीवपुष्टि के अन्तर्गत, परमात्मा को कई रूपों में प्राप्त करता है। स्मरण, आत्मनिवेदन वात्सल्य, सारव्य आदि भावों के द्वारा कृष्ण को प्राप्त किया जा सकता है।

कृष्ण को इस भक्ति में पुरुषेश्वर पुरुषोत्तम भगवान माना गया है। इस ब्रह्म ने अपनी इच्छा के अनुसार सृष्टि को जन्म दिया। इस ब्रह्म के सानिध्य के लिये प्रत्येक जीव को आतुर रहना ही चाहिये। गोपियों को इस काव्य में जीव और कृष्ण को ब्रह्म के रूप में चित्रित किया गया है। इस कृष्ण भक्ति के भावों को हिन्दी में सूरदास ने अत्यन्त सुरम्य एवम् सुनियोजित ढग से व्यक्त किया। इनके पश्चात् अन्य कवियों ने भी अपनी भक्तिपरक रचनाओं की सृष्टि की। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में राम भक्ति के साथ ही कृष्ण भक्ति का भी संचार, प्रसार और विस्तार हुआ।

कृष्णकाव्य की विशेषताएँ :—

(१)प्रेम का आधार —कृष्ण भक्त कवियों ने प्रेम को अधिक महत्व दिया है। कृष्ण के प्रति प्रेम जब पूर्ण आशक्ति के रूप में हो जाय तब सांसारिक विषय विलासादि के प्रति विरक्ति स्वत हो जाती है। ये भक्त अपने आराध्य से अधिकाधिक ममता और घनिष्टता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। प्रेम जब अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है तब भक्त और भगवान में

कोई अन्तर नहीं रह जाता। स्वयं नन्ददास ने इस प्रेम की अन्तिम अवस्था का इस प्रकार उल्लेख किया है—

कल्प तरोवर सांवरो व्रज बनिता भई पात।

यहाँ पर कृष्ण कल्पवृक्ष हैं तो गोपिकाएँ उस वृक्ष की शोभा-वृद्धि करनेवाली पत्तियाँ। इस कथन का अभिप्राय यह है कि कृष्ण और गोपिकाओं में वृक्ष और पत्ते का सम्बन्ध हो गया है। पत्ते के बिना वृक्ष ठूंठ है और वृक्ष के बिना पत्तों का कोई अस्तित्व ही नहीं। ठीक इसी प्रकार की स्थिति कृष्ण और गोपिकाओं की भी है।

(२) सत्संग तथा गुरु महिमा :—मध्ययुग की अन्य शाखाओं की भाँति कृष्णभक्ति शाखा में भी सत्संगाचरण तथा गुरु-महिमा पर अधिक बल दिया गया है। यह भक्ति भी साधुओं और अभक्तों से अलग रहने का उपदेश देती है। इसमें गुरु महिमा का भी वर्णन किया गया है। गुरु की कृपा से ही भक्त कृष्ण तक पहुंच सकता है, ऐसा इन कवियों का कथन है। कृष्ण भक्त-कवि यह भी कहते हैं कि गुरु कृपा से ही कोई भक्त अपने सिद्धान्त तथा पद पर दृढ़ संकल्पशील रहता है। प्रत्येक कवि ने अपने गुरु को भगवान के समान माना है और उसकी स्तुति की है।

(३) कृष्ण लीला वर्णन —मध्यकालीन कृष्ण-भक्त-कवियों ने लोककर-जनकारी कृष्ण की लीलाओं का गान किया। इस लीला-गान का प्रयोजन ईश्वर-लीला-आनन्द का आस्वादन ही था। कृष्ण की लीला तीन रूपों में वर्णित हुई—वात्सल्य, सख्य और माधुर्य रूप में। वात्सल्य रूप में कृष्ण यशोदा के बालक बनकर आते हैं, सख्य रूप में सुदामा के मित्र बनकर और माधुर्य रूप में राधा और गोपिकाओं के प्रेमी बनकर। कृष्णकाव्य में माधुर्य रूप की अधिक प्रधानता है। सभी कवियों ने राधाकृष्ण और गोपी कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का गान किया। सूरदास ने कृष्ण की बाललीला तथा प्रणयलीला का विशद वर्णन किया है। इनके चित्रण में कहीं भी वासना का पुट नहीं है। सूरदास के प्रेम-वर्णन में भी आध्यात्मिकता आ गई है। इनके कृष्ण की बाल-लीला का एक उदाहरण कृष्ण काव्य के कवियों की सफलता वर्णित करने में सफल होगा—

कर गहि पग अंगूठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि-हरषि अपने रंग खेलत।
शिव सोचत, विधि बुद्धि विचारत बट बाढ्यो सागर जल भेलत॥

सख्यभाव तथा प्रेम-भाव से विह्वल होकर सूरदासजी ने कृष्ण की जिन लीलाओं का वर्णन किया है, वे भी बहुत ही हृदयद्रावक और प्रभावक हैं।

(४) विषय वस्तु की मौलिकता—भागवत पुराण कृष्ण की लीलाओं का अक्षय काव्य है। मध्यकालीन कृष्णकाव्य के कवियों ने भी भागवतपुराण से प्रेरणा ग्रहण की है। इतना होने पर भी इनकी मौलिकता अक्षुण्य है। इन कवियों ने भी पर्याप्त मौलिक उद्भावना से भी काम लिया है। भागवतकार के कृष्ण निर्लिप्त हैं, वे गोपियों के कहने पर लीला करते हैं किन्तु कृष्णभक्त कवियों के कृष्ण गोपियों की ओर स्वयम् उन्मुख होते हैं और अपनी लीलाओं से उनके हृदय को जीतते हैं। भागवत में राधा का नामोल्लेख नहीं है। भागवत में गोपियों का प्रेम एकनिष्ठ प्रेम नहीं रह पाता है। सूरदास आदि कवियों की गोपिकाएँ एकमात्र कृष्ण को ही अपना आराध्य मानती हैं। इस प्रकार मध्यकालीन कृष्ण काव्य में मौलिक विषयों का भी उल्लेख हुआ। इस काव्य की यह प्रमुख विशेषता है।

(५) प्रतीकात्मक चरित्र—कृष्ण काव्य के प्रमुख पात्रों में कृष्ण और गोपिकायें हैं। इन चरित्रों का चित्रण प्रतीकात्मक ढंग से हुआ है। राधा माधुर्य भाव की शक्ति का उच्चतम प्रतीक है। वह कृष्ण से अभिन्न और उन्हीं की आह्लादिनी शक्ति है। कृष्ण परमात्मा के प्रतीक हैं तो गोपिकाएँ जीवात्मा की प्रतीक हैं। इन्हीं प्रतीकों से कृष्णकाव्य की अलौकिकता रक्षित है। पूरे कृष्ण काव्य में प्रतीक ढूंढ़ना असम्भव है, फिर भी कृष्ण राधा और अन्य गोपिकाओं का प्रतीकात्मक अर्थ सहज ही समझ में आ जाता है।

(६) सामाजिकता का कहीं-कहीं चित्रण—यद्यपि कृष्ण भक्ति काव्य का समाज से या लोक से कोई मतलब नहीं होता तथापि इस काव्य में लोक का यत्किंचित चित्रण भी हो गया है। जहाँ पर सूरदासजी सांसारिक विषय-वासना से अपने को अलग रखने की चर्चा करते हैं, वहाँ संसार की झलक मिल ही जाती है। उद्धव-गोपी संवाद में अलखवादी निर्गुणिया सन्तो एवम् हठयोगियों आदि की निन्दा की गई है। इससे ज्ञात होता है कि उस युग का समाज इन्हीं सिद्धान्तवादियों के आडम्बरों में फँसा था। कलियुग के प्रभाव का वर्णन करते समय इन कवियों ने वर्णाश्रम-धर्म-पतन, सामाजिक कुरीतियाँ और धार्मिक विडम्बनाओं का चित्र प्रस्तुत किया है। कृष्ण का चित्रण भी लोकरक्षक के रूप में हुआ है। इस काव्य में कृष्ण गिरिधारी और वत्स-सहारक के रूप में भी प्रस्तुत किये गये हैं। इनके ये रूप,

> कृष्णभक्ति विशेषताएँ —
> १—प्रेम का आधार — २ — सत्संग एवम् गुरु महिमा—कृष्णलीला वर्णन—४—विषय वस्तु की मौलिकता—५—प्रतीकात्मक चरित्र—६—सामाजिकता का संकेत—७-गेय-मुक्तक-१९—८—गीत प्रधान काव्य—९—वात्सल्य एवम् शृङ्गार रस—१०—ब्रजभाषा का प्रयोग।

लोकरक्षक रवरूप है। अतः यह कह सकते हैं कि कृष्ण भक्त कवियों की साधना वैयक्तिक है, फिर भी लोक-मंगल भावना से शून्य नहीं।

(७) गेय मुक्तक रूप में काव्य :—यह काव्य मुख्य रूप से गेय मुक्तक रूप में लिखा गया है। ये सभी कवि गा-गाकर कृष्ण की लीला का वर्णन किया करते थे। किसी पद में कृष्ण के सौंदर्य का वर्णन होता था तो किसी में उनकी बाललीला का। ये ही गेय मुक्तक पद कृष्ण-काव्य के आधार हैं। पूरे कृष्ण काव्य में प्रबन्ध काव्य बहुत कम पाया जाता है। सूरदास के काव्य में प्रबन्धात्मी कृष्ण की सम्पूर्ण कथा देने का प्रयत्न दिखलाई देता है। किसी किसी कवि में कथात्मकता की मनोवृत्ति पायी जाती है तथापि यह काव्य मुक्तक प्रवृत्ति की ओर अधिक झुका है।

(८) सङ्गीत की प्रधानता :—संगीतात्मकता, काव्य को विशेष ढंग से रोचक बना देती है। कृष्ण-काव्य आद्योपान्त गीतिशैली में ही लिखा गया है। गीतिशैली के अतिरिक्त कहीं-कहीं अभिव्यंजना शैली का भी प्रयोग हुआ है। सूरसागर में भाव व्यंजना के कई चित्र मिल जाते हैं। गीतिशैली में लिखा हुआ यह काव्य आज भी हम सबको मुग्ध और प्रभावित करता है।

(९) वात्सल्य और शृङ्गार का चित्रण :—हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति रस का बड़ा ही सुन्दर परिपाक हुआ है। इसी भक्ति-रस को हम वात्सल्य, शृङ्गार और शान्त रस से जोड़ सकते हैं। सूर और मीरा ने यत्रतत्र निर्वेद का चित्रण किया है, कुछ अन्य कवियों ने भी संसार-माया भ्रम-अविद्या, अज्ञान-अन्धकार की निन्दा की है। इन स्थलों में शान्त रस की निष्पत्ति होती है। कृष्ण की बाल लीला हिन्दी काव्य की अलौकिक लीला है। 'यशोदा माई हरि पालने झुलावें' तथा 'मैया मैं नहिं माखन खायो' आदि पदों में वात्सल्य का इतना सुन्दर चित्रण हुआ है कि आ० शुक्ल को भी कहना पड़ा था 'मानों सूर ने बच्चे और माता के हृदय के कोने-कोने को झाँक लिया था।' शृङ्गार के दोनों रूपों-संयोग और वियोग, का अत्यन्त काव्य गुण सम्पन्न चित्रण कृष्ण काव्य में हुआ है। 'अँखियाँ हरि दरसन की भूखी' तथा 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' आदि पदों में शृङ्गार का जैसा परिपाक हुआ है वैसा शायद ही कहीं पाया जाय। राम भक्ति शाखा तथा रीति काल में जो शृङ्गार का चित्रण हुआ है, पर इस शृङ्गार में अलौकिकता तथा आत्मीयता का बोध होता है।

(१०) ब्रज भाषा का प्रयोग :—कृष्ण काव्य अधिकतर पद छन्द में लिखित है। कहीं-कहीं दोहा, चौपाई, कवित्त, गीतिका आदि छन्दों का प्रयोग है। इन सभी छन्दों की भाषा ब्रज है। ब्रजभाषा की मधुरिमा से पूरा कृष्ण-

काव्य ही मधुर हो उठा है। ब्रज के कृष्ण और ब्रज की ही भाषा का माध्यम दोनों कृष्ण काव्य को प्रभावक बनाते हैं।

कृष्ण भक्त कवि :—कृष्ण-भक्त कवियों में सूरदास जी, नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्द दास, कुम्भनदास, हितहरिवंश, मीराबाई, रसखान आदि प्रमुख है।

सूरदास जी —अन्य भक्तों एवम् सन्तों की भाँति सूर के जन्मकाल जन्म स्थान तथा व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में विद्वान अभी तक एक मत नहीं हो सके हैं। प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह कहा जाता है कि सूर का जन्म रुनकता नामक ग्राम में स० १५४० में हुआ। डा० दीनदयाल गुप्त ने विभिन्न तर्कों द्वारा इनका जन्म काल स० १५३५ और जन्म स्थान सीही सिद्ध किया है। सीही का उल्लेख एक जगह सूर ने इस प्रकार किया है — 'सीही सर जल जात।' इसी के आधार पर विद्वानों ने इन्हें सीही का बतलाया है। सूर की मृत्यु-तिथि भी इसी प्रकार विवादास्पद ही है। अधिकांश विद्वानों ने इनकी मृत्यु प्राय सं० १६२० में मानी है।

सूर जन्मान्ध थे या बाद में अंधे हुए, इस सम्बन्ध में भी निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ किंवदन्तियों के आधार पर ये जन्मान्ध ही ठहरते है, किंतु कुछ लोगों ने इनके रूप वर्णनों को देखते हुए इन्हें जन्मान्ध नहीं माना है।

चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार सूरदास अपने बहुत से सेवकों के साथ संन्यासी वेश में मथुरा के बीच गऊघाट पर रहा करते थे। प्रभु वल्लभाचार्य से सूरदास ने गऊ घाट पर भेंट की। वल्लभाचार्य ने इन्हें भगवत्-भक्ति की ओर आकृष्ट किया। सूरदास जी श्रीनाथमंदिर में नित्य अपने पदों से कृष्ण लीला वर्णन करते थे। इन्हीं पदों का सूरदासजी ने वर्णन किया।

सूर-विरचित तीन मुख्य तथा प्रामाणिक ग्रंथ देखने में आते हैं —'सूर-सागर', 'सूर-सारावली', तथा 'साहित्य लहरी'। इनके अतिरिक्त भी कई कृतियाँ सूर द्वारा रचित बतलायी जाती हैं, पर उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

सूर का महत्व :—

उपर्युक्त ग्रंथों से प्राप्त आधारों पर सूरदास का महत्व निर्धारित किया जा सकता है। इनका महत्व आँकने के लिए लोकपक्ष, भावपक्ष और कला पक्ष का माध्यम ग्रहण करना पड़ेगा।

समाज और लोक को उन्नत करने में प्रेम का बहुत बड़ा महत्व है। इस महत्व की चर्चा निर्गुण और सगुण दोनों शाखाओं के कवियों ने की है। सूरदास

लोकरंजक स्वरूप है। अतः यह कह सकते हैं कि कृष्ण भक्त कवियों की भावना वैयक्तिक है, फिर भी लोक मंगल भावना से शून्य नहीं।

(७) गेय मुक्तक रूप में काव्य —यह काव्य मुख्य रूप से गेय मुक्तक रूप में लिखा गया है। ये सभी कवि गा-गाकर कृष्ण की लीला का वर्णन किया करते थे। किसी पद में कृष्ण के सौंदर्य का वर्णन होता था तो किसी में उनकी बाललीला का। ये ही गेय मुक्तक पद कृष्ण-काव्य के आधार हैं। पूरे कृष्ण काव्य में प्रबन्ध काव्य बहुत कम पाया जाता है। सूरदास के काव्य में ब्रजवासी कृष्ण की सम्पूर्ण कथा देने का प्रयास दिखाई देता है। किसी किसी कवि में कथात्मकता की मनोवृत्ति पाई जाती है तथापि यह काव्य मुक्तक प्रवृत्ति की ओर अधिक झुका है।

(८) सङ्गीत की प्रधानता :—संगीतात्मकता, काव्य को विशेष ढंग से रोचक बना देती है। कृष्ण-काव्य आद्यान्त गीतिशैली में ही लिखा गया है। गीतिशैली के अतिरिक्त कहीं-कहीं अभिव्यंजना शैली का भी प्रयोग हुआ है। सूरसागर में भाव व्यंजना के कई चित्र मिल जाते हैं। गीतिशैली में लिखा हुआ यह काव्य आज भी हम सबको मुग्ध और प्रभावित करता है।

(९) वात्सल्य और शृङ्गार का चित्रण —हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति रस का बड़ा ही सुन्दर परिपाक हुआ है। इसी भक्ति-रस को हम वात्सल्य, शृङ्गार और शान्त रस से जोड़ सकते हैं। सूर और मीरा ने यत्रतत्र निर्वेद का चित्रण किया है, कुछ अन्य कवियों ने भी संसार-माया भ्रम अविद्या, अज्ञान अन्धकार की निन्दा की है। इन स्थलों में शान्त रस की निष्पत्ति होती है। कृष्ण की बाल लीला हिन्दी काव्य की अलौकिक लीला है। 'यशोदा माई हरि पालने झुलावें तथा मैया मैं नहिं माखन खायो' आदि पदों में वात्सल्य का इतना सुन्दर चित्रण हुआ है कि आ० शुक्ल को भी कहना पड़ा था 'मानों सूर ने बच्चे और माता के हृदय के कोने-कोने को झाँक लिया था। शृङ्गार के दोनों रूपों सयोग और वियोग, का अत्यन्त काव्य गुण सम्पन्न चित्रण कृष्ण काव्य में हुआ है। 'अखियां हरि दरशन की भूखी' तथा 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' आदि पदों में शृङ्गार का जैसा परिपाक हुआ है वैसा शायद ही कहीं पाया जाय। राम भक्ति शाखा तथा रीति काल में भी शृङ्गार का चित्रण हुआ है, पर इस शृङ्गार में अलौकिकता तथा आत्मीयता का बोध होता है।

(१०) ब्रज भाषा का प्रयोग —कृष्ण काव्य अधिकतर पद छन्द में लिखित है। कहीं कहीं दोहा, चौपाई कवित्त, गीतिका आदि छन्दों का प्रयोग है। इन सभी छन्दों की भाषा ब्रज है। ब्रजभाषा की मधुरिमा से पूरा कृष्ण-

काव्य ही मधुर हो उठा है। ब्रज के कृष्ण और ब्रज की ही भाषा का माध्यम दोनों कृष्ण काव्य को प्रभावक बनाते हैं।

कृष्ण भक्त कवि :—कृष्ण-भक्त कवियों में सूरदास जी, नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्द दास, कुम्भनदास, हितहरिवंश, मीराबाई, रसखान आदि प्रमुख हैं।

सूरदास जी :—अन्य भक्तों एवम् सन्तों की भाँति सूर के जन्मकाल जन्म स्थान तथा व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में विद्वान अभी तक एक मत नहीं हो सके हैं। प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह कहा जाता है कि सूर का जन्म रुनकता नामक ग्राम में सं० १५४० में हुआ। डा० दीनदयाल गुप्त ने विभिन्न तर्कों द्वारा इनका जन्म काल सं० १५३५ और जन्म स्थान सीही सिद्ध किया है। सीही का उल्लेख एक जगह सूर ने इस प्रकार किया है — 'सीही सर जल जात।' इसी के आधार पर विद्वानों ने इन्हें सीही का बतलाया है। सूर की मृत्यु-तिथि भी इसी प्रकार विवादास्पद ही है। अधिकांश विद्वानों ने इनकी मृत्यु प्रायः सं० १६२० में मानी है।

सूर जन्मान्ध थे या बाद में अंधे हुए, इस सम्बंध में भी निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ किंवदन्तियों के आधार पर ये जन्मान्ध ही ठहरते हैं, किंतु कुछ लोगों ने इनके रूप वर्णनों को देखते हुए इन्हें जन्मान्ध नहीं माना है।

चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार सूरदास अपने बहुत से सेवकों के साथ संन्यासी वेश में मथुरा के बीच गऊघाट पर रहा करते थे। प्रभु बल्लभाचार्य से सूरदास ने गऊ घाट पर भेंट की। बल्लभाचार्य ने इन्हें भगवत्-भक्ति की ओर आकृष्ट किया। सूरदास जी श्रीनाथमंदिर में नित्य अपने पदों से कृष्ण लीला वर्णन करते थे। इन्हीं पदों का सूरदासजी ने वर्णन किया।

सूर-विरचित तीन मुख्य तथा प्रामाणिक ग्रंथ देखने में आते हैं :—'सूर-सागर', 'सूर-सारावली', तथा 'साहित्य लहरी'। इनके अतिरिक्त भी कई कृतियाँ सूर द्वारा रचित बतलायी जाती हैं, पर उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

सूर का महत्व :—

उपर्युक्त ग्रंथों से प्राप्त आधारों पर सूरदास का महत्व निर्धारित किया जा सकता है। इनका महत्व आँकने के लिए लोकपक्ष, भावपक्ष और कला पक्ष का माध्यम ग्रहण करना पड़ेगा।

समाज और लोक को उन्नत करने में प्रेम का बहुत बड़ा महत्व है। इस महत्व की चर्चा निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं के कवियों ने की है।

जी ने प्रेम का अत्यंत सुन्दर चित्रण किया है। प्रेम के पूर्ण निर्वाह में लोक मर्यादा का पालन आवश्यक है, ऐसा सूरदास ने स्थान-स्थान पर कहा है। प्रेम सदैव सत्य और निश्छल होना चाहिए। गोपिकाओं के सत्य प्रेम में किसी को संदेह नहीं हो सकता। वे जब उधव से कहती हैं 'उधो मन माने की बात' तब उनके अविचल प्रेम का परिचय प्राप्त होता है। सूरदास का कहना है :—

प्रेम-प्रेम ते होई, प्रेम ते पारहिं पइए।

❀ ❀ ❀ ❀

एवं निश्चय प्रेम को, जीवन मुक्ति रसाल।

यह प्रेम एक तरफ जहाँ अलौकिक प्रेम का वर्णन करता है वहीं दूसरी तरफ समाज के प्राणियों को भी इसी प्रकार प्रेम करने की शिक्षा भी देता है।

सूरदास ने यशोदा और नंद के स्वस्थ गृहस्थ जीवन का चित्रण किया है। कृष्ण इस जीवन में आनंद भर देते हैं। यशोदा की भाँति मातृ, नंद की भाँति पितृ और कृष्ण की भाँति पुत्र का आदर्श रखकर सूर ने प्रत्येक परिवार को प्रसन्न करने की चेष्टा की है।

आत्म-निवेदन, नम्रता और विनयशीलता आदि गुण मानव जीवन को श्रेष्ठ बना सकते हैं। दर्प और अभिमान से सारा विश्व नष्ट और भ्रष्ट हो सकता है। अपने से बड़ों तथा सम्माननीय व्यक्तियों के सम्मुख मर्यादित दीनता प्रदर्शित करना दुर्बल न बनाकर सबल बनाता है। सूरदास ने इसी प्रकार की विनम्रता स्थान-स्थान पर प्रदर्शित की है। 'प्रभु हौं पतिनन को टीको' कहने से यही तथ्य पुष्ट होता है कि सूरदास जी भी संसार के मानवों को नम्रता का पाठ पढ़ाना चाहते थे। कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गायों को बचाना, काली नाग को नाथकर लोगों का भय छुड़ाना आदि कार्य लोकमंगल की स्थापना करते हैं। इतना होने पर भी यही कहना पड़ता है कि तुलसी की भाँति लोकव्यापी प्रभाव वाले कर्म और लोकव्यापिनी दशाएँ सूरदास के काव्य में नहीं पाई जातीं।

सूरदास जी का 'सूर-सागर' उच्च और पवित्र भावनाओं का भण्डार है और उसमें मानव-जीवन की जिन दो प्रधान—शैशव और यौवन दशाओं का चित्रण हुआ है वे कभी पुराने नहीं होंगे। वात्सल्य तथा शृङ्गारमय भावों का जितना सुन्दर चित्र इनके काव्य में देखने को मिलता है, उतना और कहीं नहीं। 'सूरसागर' में वात्सल्य-चित्रण अत्यधिक सुन्दर बन पड़ा है। यशोदा माई कृष्ण को सुला रही हैं —

जसोदा हरि पालने झुलावैं।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोई कछु गावै॥

इस चित्रण में मातृ-स्वभाव का यथार्थ और प्रभावक चित्र खींचा गया है। बच्चे दूध पीने में माताओं को बहुत कष्ट दिया करते हैं। माताएँ उन्हें नाना प्रकार के प्रलोभन देती हैं और किसी प्रकार दूध पिलाती हैं। बच्चे कभी-कभी माँ के प्रलोभनों को पूर्ण होते न देख माँ से पूछ भी बैठते हैं कि उनकी चोटी कब बढ़ेगी, उन्हें चाँद कब मिलेगा आदि। सूरदास जी ने इस स्वाभाविक भाव का बड़ा ही मनोरम चित्र खींचा है। उनके कृष्ण माँ से प्रश्न करते हैं—'मैया कबहु बढ़ैगी, चोटी।' इसी प्रकार अन्य पक्षों में भी वात्सल्य भावों का मनोरंजक चित्रण हुआ है।

सूरदासजी को जितनी सफलता वात्सल्य-निरूपण में मिली, उतनी ही सफलता शृङ्गार-निरूपण में भी। राधा और कृष्ण के प्रेम में रति स्थायीभाव का पूर्ण और अलौकिक परिपाक हुआ है। सूरदास जी का यह संयोग चित्र यह बतला देता है कि सूरदास ने इस प्रेम वर्णन में कितनी मार्मिकता भर दी है —

तुम्हरो कहा चोरि हम लैंहें खेलन चलौ संग मिली जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमणि बातन भुरइ राधिका भोरी॥

इस प्रकार कृष्ण बातों ही बातों में भोली-भाली राधिका को फुसला लेते हैं। संयोग की ही भाँति वियोग चित्र भी बड़े प्रभावक बन पड़े हैं। कृष्ण के वियोग में सारा व्रज प्रदेश ही आग का अंगारा बन जाता है। गोपिकाओं की आँखें बादल बन जाती हैं और वे हरेभरे पत्तों को भी अपनी ही तरह शुष्क देखना चाहती हैं। काली रातें कृष्ण के बिना सांपिन बन जाती है और कालिन्दी भी काली दिखाई देती है। सूरदासजी की गोपिकाएँ कह उठती हैं —

"पिया बिनु साँपिन कारी राति।"
"मधुबन तुम कत रहत हरे?"

भाव के उन सुन्दर चित्रों के अतिरिक्त सूर का कला पक्ष भी बड़ा पुष्ट है। इनका भाव पक्ष तो उज्ज्वल है ही कला पक्ष भी पर्याप्त निखरा हुआ है। विषय-वर्णन के साथ-साथ अलंकारों का कला-पूर्ण नियोजन सूर की कलागत विशेषता है। इनके पन्नों-पन्नों पर उपमाओं, रूपकों की झड़ी तथा लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार ही प्राप्त होता है। इनकी अलंकार-योजना की कुशलता इस पद से ही स्पष्ट हो जाती है।

अद्‌भुत एक अनूपम बाग।
जुगल-कमल पर गज क्रीड़त है, तापर सिंह करत अनुराग॥

सूर-काव्य की भाषा चलती फिरती व्रजभाषा है। इस भाषा में संगीत ने अद्‌भुत प्रभाव उत्पन्न कर दिया है। सूर की रचना में चित्रमयता इतनी

है कि कोई भी कवि उनकी तुलना में नहीं ठहर सकता। इनकी भाषा समृद्ध, सुडौल और परिमार्जित है। ब्रज के अतिरिक्त इनकी भाषा में संस्कृत, पूर्वी-हिन्दी पंजाबी आदि के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इन शब्दों से इनकी भाषा और भी सबल हो गयी है। बीच-बीच में लोकोक्तियों एवं मुहावरों के प्रयोग से भाषा में और प्रभाव आ गया है। यही कारण है कि सूर के पदों को सुनकर सभी मुग्ध हो जाते हैं। सूरदास की काव्यगत विशेषताओं को देखते हुए आलोचकों ने इन्हें हिन्दी का श्रेष्ठ कवि माना है। इनके काव्य के माधुर्य को देखते हुए ही विद्वानों ने इन्हें इस प्रकार सम्मानित किया —

सूर-सूर तुलसी ससि, उडुगन केशव दास।

अष्टछाप के कवियों में सूरदास, कुम्भनदास, कृष्णदास, नन्ददास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास, परमानन्ददास के नाम लिये जाते हैं। इन सभी कवियों में सूरदास और नन्ददास के नाम उल्लेखनीय हैं। सूरदासजी तो कृष्ण-भक्ति के मुकुट हैं। इनके पश्चात् नन्ददास का ही महत्व की दृष्टि से नाम लिया जा सकता है।

नन्ददास—ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में नन्ददासजी के जन्मस्थान और जन्मसम्वत् के सम्बन्ध में अनुमान से ही काम लिया जाता है। अनुमान के आधार पर सर्वसम्मति से यह स्वीकार किया गया है कि इनका जन्म सम्वत् १५७० में एटा के सोरो नामक स्थान में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। तुलसीदासजी से इनका कई प्रकार का सम्बन्ध बतलाया जाता है। ये संस्कृत के ज्ञाता और काव्य तथा संगीत कला में अभिरुचि रखने वाले कृष्ण-भक्त थे। ऐसा कहा जाता है कि ये एक स्त्री के मोह तथा माया में फँसे थे किन्तु गोस्वामी विट्ठलनाथ ने उनका लौकिक मोह भंगकर अलौकिक प्रेम की ओर उन्हें उन्मुख किया। कुछ दिनों तक ये सूरदास के सम्पर्क में भी रहे। सूरदासजी ने भी इन्हें बहुत समझाया और कृष्ण-भक्ति की ओर अग्रसर किया। सूरदासजी की राय से ही इन्होंने कमला नामक एक कन्या से शादी कर ली। इसी कमला से इन्हें एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। इस पुत्र का नाम कृष्णदास रखा गया। कुछ समय तक गृहस्थाश्रम का सुख भोगने के पश्चात् ये पुनः गोवर्द्धन चले आये और वहाँ पर श्रीनाथजी के भजन-कीर्तन में लगे रहे। संवत् १६४० के लगभग इनका देहावसान हो गया।

नन्ददासजी ने प्रसिद्धि बहुत प्राप्त की। वार्ता के अनुसार बीरबल स्वयं इनसे मिलने आया था। इनकी भक्ति-भावना से प्रभावित होकर अकबर ने भी इनको बुलाया था।

नन्ददासजी के नाम पर मिलनेवाली रचनाओं के नाम बहुत अधिक हैं। 'रासपंचाध्यायी', 'रस मंजरी', 'मानलीला', भंवरगीत आदि उनके ग्रन्थों में प्रसिद्ध है।

अष्टछाप के कवियों में काव्यत्व की दृष्टि से सूरदासजी के पश्चात् नन्ददास जी का ही नाम लिया जा सकता है। इन्होंने रोला, दोहा, चौपाई आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। नन्ददासजी की भाषा में शब्दों की कमी नहीं थी। रासपंचाध्यायी में कृष्ण की रासलीला का साहित्यिक वर्णन हृदय को मुग्ध करने वाला है। इनकी रचनाओं में अष्टछाप के सिद्धान्तों के साथ-साथ काव्यगत विशेषताओं का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। दार्शनिकता एवम् संगीतात्मकता इनके काव्य की सुन्दरता में चार चाँद लगाने में समर्थ हैं। इनकी शिल्पगत विशेषता को लक्ष्य करते हुए ही शायद इनके सम्बन्ध में कहा जाता है—"अन्य कवि गढिया नन्द दास जडिया।" इनके इस उदाहरण से उनकी काव्यगत सुन्दरता का परिचय अवश्य मिल जायेगा—

हाथ न पाव न नासिका नैन बैन नहिं कान।
अच्युत ज्योति प्रकास है, सकल विश्व को प्रान॥

मीरा बाई :—मीराँ बाई मेडते के राठौर दूदा जी के चौथे पुत्र रत्नसिंह की पुत्री थीं। कुडकी नामक ग्राम में स० १५५५ के आस-पास इनका जन्म माना जाता है। कुछ लोगों ने इनका जन्म स० १५६१ में माना है। बाल्य-काल से ही मीरा की रुचि कृष्ण-भक्ति की ओर रही। जब ये बड़ी हो गईं तब इनका विवाह उदयपुर के राणा भोजराज के साथ हुआ। उस समय मीरा की उम्र १२ वर्ष थी। विवाह हो जाने के उपरान्त भी ये कृष्ण भक्ति में अनुरक्त रहा करती थी। यह अनुरक्ति उनके नये घर के लिए अनुचित थी। नयी परिस्थितियों ने इन्हें कष्ट देना शुरू किया। उन्मुक्त भक्तिमय वातावरण में विचरण करने वाली भक्त कवयित्री को घूँघट के भीतर ही रहने के लिए बाध्य किया जाने लगा। इस परिस्थिति में वे ऊबने लगीं। इसी भीषण परिस्थिति में उन्हें वैधव्य के आघात को भी सहना पडा। इन आघातों को भी वे सहती रहीं।

मीरा के काव्य में दर्द है। यह दर्द ही उन्हें निराला बना देता है। वे अपने दर्द को इस प्रकार व्यक्त करती है —

दरद की मारी बन बन डोलूँ, वैद मिला नहिं कोय।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, वैद सँवलिया होय॥

मीरा कृष्ण का राह देखती हैं और उनके आने की तिथि गिनते-गिनते

उनकी अंगुलियाँ घिस जाती हैं। इस अवस्था में वे विरहाकुल हो उठती हैं और भ्रमरगीत की भाँति संदेश का सहारा लेती हैं। वे कहती हैं :—

काढ़ि करेजो मैं धरूँ, कागा तू ले जाइ।
जा देसाँ म्हारो पिय बसो, वे देखे तू खाइ।

विरह की इन भावनाओं में केवल पपीहे की पुकार की जलन ही नहीं, आँसू का सावन भादों भी है। साथ-साथ ही भक्ति की एकनिष्ठता तथा ईश्वर-प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा व्यक्त करने में भी इनके पदों का महत्त्व है। भाव पक्ष तथा कल्पना पक्ष की कुशलता स्वयम् सिद्ध है।

मीरा की भाषा कई भाषाओं का मिश्रित स्वरूप है। अधिकांश पदों में गुजराती, ब्रज और राजस्थानी का मिश्रण है। भाषा सरल और लोक प्रचलित है।

मीरा के जीवन में दुख की तीव्रता को देखते हुये कुछ लोग इन्हें महादेवी वर्मा भी कह देते हैं, किन्तु उन्हें यह जानना चाहिये कि दोनों दो हैं—मीराँ मीराँ हैं और महादेवी जी महादेवी। महादेवी में भक्ति की वह भावना नहीं जो मीरा में थी। मीराँ में भी रहस्यवाद है और देवी जी में भी, फिर भी दोनों के रहस्यवाद में भी बहुत अन्तर है।

मीरा की मधुर भक्ति, उनकी काव्यमय अभिव्यक्ति तथा उनकी सरल भाषा को देखते हुये उन्हें कृष्ण-भक्ति शाखा में प्रधानता दी ही जायेगी।

विधवा हो जाने पर लोक-लाज के बन्धन को छोड़कर इन्होंने उन्मुक्त रूप से कृष्ण की पूजा शुरू की। ये द्वारका में रणछोड़ मन्दिर में नाचती और गाती थी। मीराँ का यह कार्य उनके देवर राणा के सम्मान तथा उनके परिवार की मर्यादा के विपरीत था, अतः उन्होंने मीराँ को मरवाने और मरवा डालने का जी-जान से प्रयत्न किया। कभी साँप का पिटारा भेजा तो कभी विष का प्याला, किन्तु कृष्ण की कृपा से मीरा का बाल बाँका भी नहीं हुआ। अन्त में सम्वत् १६०३ में इनकी मृत्यु हो गई। कहा जाता है कि एक व्यापक ज्योति की भाँति ये गाती-गाती ही कृष्ण की मूर्ति में समा गयीं।

मीराँ कृष्ण भक्ति-काव्य की श्रेष्ठ कवयित्री मानी जाती हैं। इनकी मुलाकात तुलसीदास जी से भी हुई थी, ऐसा माना जाता है, किन्तु यह कहाँ तक सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता।

मीराँ की रचनाओं में मीरा के कुछ पद ही आज उनके नाम पर गिने जाते हैं। कई साहित्य-परिषदों ने मीरा ग्रन्थावली प्रकाशित कराई है। कुछ में मीरा के पदों की संख्या १००० तक भी पहुँचा दी गई है, किन्तु इनके प्रामाणिक पद

केवल ७०० ही हैं। ये सभी प्रामाणिक पद 'बंगीय हिन्दी परिषद्', कलकत्ता से प्रकाशित "मीरा स्मृति ग्रन्थ" में संग्रहीत हैं।

मीराँ का काव्य-गत महत्व उनके पद ही बतलाते हैं। अन्य भक्त कवियों की भाँति ये भी पहले भक्त हैं, तत्पश्चात् कवि। काव्य, जीवन की तीव्रानुभूति से फूटकर अत्यन्त प्रवाहमय होता है। मीराँ का काव्य भी उनकी सहजानुभूति है। हृदय के भाव पदों में फफक उठे हैं। काव्य का माधुर्य, भावों की गहनता, विचारों की सत्यता एवम् सिद्धान्तों का सुन्दर प्रकाशन इनकी काव्य की विशेषताएँ हैं। सबसे बड़ी विशेषता इनकी संगीत पद्धति है।

रसखानि :

कृष्ण भक्ति की मधुर भावना ने केवल हिन्दुओं को ही नहीं बल्कि कुछ मुसलमानों को भी आकृष्ट किया। कृष्ण-भक्ति से प्रभावित होने वाले मुसलमान कवियों में रसखानि सर्वाधिक जनप्रिय कवि हुए। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में दृढ़ता पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इन्होंने 'प्रेमवाटिका' में अपने को शाही खानदान का कहा है। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' में इनके सम्बन्ध में एक बात और कही गयी है। ये एक बनिये के बेटे से आसक्त थे, किन्तु बाद में कृष्ण-भक्त बन गये। कुछ लोग इन्हें एक स्त्री से आसक्त कहते है। ये सभी बातें निराधार लगती है। जो कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि ये प्रेम-बन्धन तोड़कर वृन्दावन चले आये और वहाँ पर कृष्ण-भक्ति में लीन रहने लगे।

रसखानि ने कृष्ण-गाथा के विभिन्न प्रसंगो पर मुक्तक छन्द कहे हैं, पर संगीत प्रधानता, व्यक्तिगत अनुभूति-तीव्रता, आत्मनिष्ठा तथा तन्मयता के कारण पाठक इन छन्दों और गीतों में किसी विशेष अन्तर का अनुभव नहीं करता। इस तन्मयता का कारण है इनकी तीव्र प्रेमानुभूति। प्रेम की महत्ता सचमुच अपरम्पार है। प्रेम के द्वारा भगवान को जीता जा सकता है। कृष्ण के प्रति प्रेम दिखलाकर ग्वाल-बालिकाओं ने उन्हें वशीभूत कर लिया था, इस बात को रसखानि ने बहुत ही निपुणता से व्यक्त किया है।

ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥

प्रेम और भक्ति दोनो के सम्मिश्रण से रसखानि का काव्य बड़ा ही सरस और भावव्यंजक हो गया है। इनका यह छन्द प्रेम और भक्ति का सुन्दर उदाहरण है :—

मानुस हौं तो वही रसखान, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु, मेरे चरौं नित नंद के धेनु मझारन॥

रसखानि काव्य की कलात्मकता भी भाव रमणता में ही समान सरल तथा निश्छल है। भाषा तथा भाव-प्रकाशन की शैली अत्यन्त सरल तथा सुबोध है। इनके दो ग्रन्थ प्राप्य हैं—'प्रेम-वाटिका' और 'सुजान रसखान।' 'प्रेम वाटिका' में इनके प्रेम सम्बन्धी विचार अभिव्यक्त हुए हैं और 'सुजान रसखान' में भक्ति-भाव के पद संग्रहीत हैं। 'प्रेमवाटिका' दोहों में लिखी गई है और 'सुजान रसखान' कवित्त और सवैये में।

कृष्ण-भक्ति के अन्य कवियों में रहीम, मुबारक, सेनापति आदि भी प्रसिद्ध हैं। इनमें रहीम का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

रहीम :—इनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था। इनका जन्म सं० १६१६ में हुआ था। इनके पिता इतिहास प्रसिद्ध बैरम खाँ खानखाना थे। अकबर के दरबार में इनकी बड़ी इज्जत थी, किन्तु जहाँगीर के शासनकाल में इन्हें किसी कारणवश पदच्युत कर दिया गया। इन्हें अपने अंतिम क्षणों में दुख के दिन देखने पड़े थे। सम्वत् १६६१ तक इनके तीनों पुत्रों की मृत्यु हो गई। अंत में सम्वत् १६८६ में रहीम ने इन मुसीबतों से सदा के लिए छुटकारा पाया।

रहीम के दोहों में उनके जीवन की सच्ची अनुभूति है। अनुभूति की सच्चाई से उनकी अभिव्यक्ति भी बड़ी मार्मिक है। रहीम के दोहों में सबका जीवन प्रतिबिम्बित होता है। इनके कुछ दोहों में हृदय की वेदना ज्यों की त्यों शब्दों में ढाल दी गई है। इन्होंने जीवन को सुखमय बनाने के सहज सुझाव भी दिये हैं। जीवन सुख-दुख से होकर व्यतीत होता है और मनुष्य को सुख और दुख दोनों परिस्थितियों को समान रूप से सहना चाहिए, इसका इन्होंने प्रभावक चित्रण किया है —

> यों रहीम सुख दुख सहत बड़े लोग सह साँति।
> उवत चंद जेहि भाँति सो अथवत वाही भाँति॥

रहीम के चार ग्रन्थ प्रामाणिक माने जाते हैं—

'सतसई', 'बरवै नायिका भेद', 'मदनाष्टक' तथा 'रहीम रत्नावली।'

रहीम की प्रसिद्धि का कारण उनकी सतसई है। इसमें संग्रहीत नीति-परक दोहों से पाठक को जीवन सम्बन्धी अनेक अनुभव प्राप्त होते हैं। इसके उपदेशात्मक दोहे दैनिक जीवन में अपनाये जाने योग्य हैं। बुरे दिन के अनुभव जिनको होंगे वे इस दोहे में अपनी परिस्थिति को स्पष्ट वर्णित पायेंगे :—

> रहिमन दुरदिन के परे, बडन किये घटिकाज।
> पाँच रूप पाँडव भये, रथवाहक नल राज॥

ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर रहीमजी का अधिकार है। दोहा

कवित्त, सवैया, सोरठा आदि छन्दों में इन्होंने अपनी अनुभूतियाँ व्यक्त की हैं। खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप इनकी हिन्दी में रक्षित है। जन-जीवन और काव्य दोनों को प्रतिष्ठित करने के कारण रहीम का बहुत बड़ा महत्व है।

परमानन्द दास :—अष्ट छाप के कवियों में सूरदास के बाद सबसे अधिक प्रतिभा सम्पन्न भक्त कवि परमानन्द दास ही माने जाते हैं। वे कन्नौज निवासी कान्य-कुब्ज ब्राह्मण थे। अनुमानतः उनका जन्म सन् १४९३ ई० में हुआ था। इनकी मृत्यु सन् १५८३ ई० में हुई, ऐसा कहा जाता है। निर्धनता के कारण उनके मात-पिता उनका विवाह भी नहीं कर सके। इनका परिवार बड़ा ही निर्धन था अतः इन्हें शिक्षा भी नहीं मिल सकी। बचपन से ही उनके मन में भगवान के प्रति प्रेम का भाव था। वे शीघ्र ही प्रसिद्ध कीर्तनकार बनाये। आचार्य वल्लभ ने भी इनकी प्रशंसा सुनी और इन्हें अपना शिष्य बना लिया। आचार्यजी ने परमानन्द दास को श्री नाथजी की कीर्तन-सेवा सौंप दी। इस कार्य में वे आजीवन संलग्न रहे। इनकी महानता महाप्रभु बल्लभाचार्यजी ने भी स्वीकार की है।

यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि सूरदास और परमानन्द दास दोनों को आचार्यजी ने शरणागति के अवसर पर बाल-लीला के बोध की प्रेरणा दी थी और उसी के पद गाने का अनुरोध किया था और इन दोनों भक्त कवियों ने अष्टछाप के अन्य कवियों की तुलना में सबसे अधिक बाल लीला के पद रचे थे, परन्तु दोनों ने अन्त समय में मधुर-भाव में ही अपने मन मलीन करके शरीर त्यागा था। परमानन्द के पदों का संग्रह 'परमानन्द सागर' नाम से प्रसिद्ध है। इनके नाम पर दो अन्य ग्रन्थ भी बतलाये जाते हैं। इनके नाम हैं—'दान लीला' और 'ध्रुव चरित'। ये दोनों अनुपलब्ध हैं। परमानन्द दास के पदों का संग्रह 'परमानन्द दास और उनका काव्य' नाम से भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ से प्रकाशित हुआ है। इनकी भाषा का उदाहरण निम्नलिखित है —

बासर गत रजनी ब्रज आवत मिल गोवर्धन प्यारी।
परमानन्द स्वामी के संग मुदित भई ब्रज नारी॥

कुम्भन दास :—अष्ट छाप के कवियों में सबसे पहले कुम्भनदास ने महाप्रभु बल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी। इनका जन्म प्रायः १४६८ ई० और गोलोक वास सन् १५८२ ई० के लगभग हुआ था। ये श्री नाथ मन्दिर में कीर्तनकार थे। ये अन्त तक निर्धनवस्था में रहकर भी अपने परिवार का भरण-पोषण करते रहे। ये बड़े से बड़े सम्राट तक का भी दान स्वीकार नहीं करते थे। अपने खेती से उत्पन्न अन्न पर ही इनका जीवन निर्वाह होता रहा।

कुम्भनदास ने सम्राट अकबर को एक बार यह पद सुनाया :—

संतन को कहा सीकरी सों काम।
आवत-जात पनहिया टूटी बिसरि गयो हरि नाम।
जाको मुख देखत दुख लागे ताको करन परी परनाम।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिनु यह सब झूठो धाम।

कुम्भनदास के पद 'रागकल्पद्रुम' तथा 'राग रत्नाकर' नामक संग्रहों में संग्रहीत हैं। इनके पद कृष्ण की नित्य-सेवा से सम्बन्धित हैं। कवित्व की दृष्टि से इन्होंने सूरदास का ही अनुकरण किया है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये कृष्ण के दर्शन के भूखे थे। यदि कृष्ण की मूर्ति के दर्शन एक दिन भी नहीं होते तो इन्हें चैन नहीं। यही कारण है कि ये श्रीनाथ के मन्दिर को छोड़कर एक दिन के लिए भी कहीं बाहर नहीं जा सकते थे।

कृष्णदास :—इनका जन्म सन् १४९५ ई० के आसपास गुजरात प्रदेश के एक ग्रामीण कुनबी परिवार में हुआ था। इनका देहावसान सन् १५७५ और १५८१ ई० के बीच किसी समय हुआ। बाल्यकाल से ही इनमें धार्मिक प्रवृत्ति थी। इनके पिता ने इन्हें घर से निकाल दिया। वल्लभाचार्य जी से भेंटकर उन्होंने सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। इनमें असाधारण बुद्धिमत्ता तथा व्यवहार-कुशलता थी।

इनके ग्रंथों में 'राग कल्पद्रुम' तथा 'राग रत्नाकर' विशेष प्रसिद्ध हैं।

कृष्णदास जी जाति के शूद्र थे। इन्होंने पुष्टिमार्ग के प्रचार में जो योग दिया वह कदाचित् अष्टछापके अन्य भक्त-कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक सराहनीय है। इनके चरित्र की दुर्बलताओं की अनेक घटनाएं वर्णित की गई हैं, फिर पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों के पूर्ण ज्ञान के कारण भक्तगण इन्हें बहुत महान मानते थे।

गोविन्द स्वामी —अनुमान है कि वे भरतपुर राज्य के एक गाँव में सन् १५०५ ई० के आसपास पैदा हुए थे।

गोविन्द स्वामी गान-विद्या में बहुत निपुण थे। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पहले ही इनके कई शिष्य हो गये थे और वे स्वामी के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे। ये बहुत विनोदी थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में इनके और श्रीनाथ जी के विनोद की बड़ी रोचक और विलक्षण कहानियाँ कही गयी हैं। गुरु के प्रति भी गोविन्ददास की भक्ति प्रगाढ़ थी। इनके दो सौ बावन पद बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके पदों का विषय वही है जो कुम्भनदास के पदों का है।

रामभक्ति-शाखा और कृष्णभक्ति-शाखा (तुलना)

भक्तिकाव्य में रामकाव्य और कृष्णकाव्य नामक दो प्रमुख धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित हुईं। इन दोनों शाखाओं के सम्मिलित रूप को सगुण-भक्तिकाव्य कहा गया। इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करना समता और विषमता को जानने के विचार से आवश्यक है।

रामकाव्य के राम और कृष्ण काव्य के कृष्ण दोनों विष्णु के अवतार हैं। दोनों के प्रति कवियों ने आत्मनिवेदन किया है। ज्ञान और कर्म, इन शाखाओं में भक्ति से निम्नकोटि के बताये गये हैं। गुरु की महत्ता तथा नाम-जप का महत्व सर्वत्र भक्तिकाल की सभी धाराओं में स्वीकृत है। रहस्य और अस्पष्टता का विरोध राम-काव्य के कवि करते हैं और कृष्ण काव्य के भी। भक्ति तथा धर्म दोनों को इन धाराओं ने पवित्र और आडम्बरहीन बनाया। एकनिष्ठ भक्ति का महत्त्व अविछिन्न है। भगवान की कृपा के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती, ऐसा सगुण भक्तों का मत है। भावों की गम्भीरता तथा रसात्मकता के विचार से रामभक्ति और कृष्णभक्ति काव्य दोनों श्रेष्ठ काव्य हैं। कलापक्ष दोनों का पुष्ट है।

उपर्युक्त साम्य के अतिरिक्त इनमें विभिन्नता भी देखने को मिलती है। रामकाव्य में दास्यभाव की भक्ति है। इनमें राम की मार्यादा का चित्रण कर कवियों ने मर्यादा पर अधिक बल दिया है। वर्णाश्रम धर्म, कर्मकाड आदि परम्परागत मर्यादाओं पर श्रद्धा व्यक्त की गई है। इनके राम मर्यादापुरुषोत्तम राम हैं। ब्रह्म के साथ-साथ जीवों की सत्यता पर भी इस काव्य में विचार व्यक्त किये गये है। यह काव्य अत्यधिक मर्यादित है। जहाँ पर सयोग और वियोग के चित्र है वहाँ भी रामभक्त कवियों ने मर्यादा को भग नहीं किया है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य की भक्ति सख्य और माधुर्य भाव की है। इसमें मर्यादा का पालन नहीं हुआ है। गोपिकाओ ने लोक-मर्यादा का बन्धन तोड दिया है।

रामकाव्य में लोकरक्षण का भाव है तो कृष्ण में लोकरंजन का। रामकाव्य में लोकपक्ष की प्रधानता है तो कृष्णकाव्य में कलापक्ष की। रामकाव्य में प्रतीकात्मकता का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु कृष्णकाव्य में कृष्ण, गोपिकाएँ आदि प्रतीकात्मक हैं।

रामकाव्य में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का संघर्ष है। तुलसी के पात्र हमारे जीवन के अधिक निकट हैं। यह काव्य लोक को सद्-प्रेरणा देता है। यही कारण है कि यह स्वान्त सुखाय काव्य

होकर भी बहुजन सुखाय है। इसमें विशाल और व्यापक जनसमुदाय का पथ-प्रदर्शन होता है। इसके विपरीत कृष्ण काव्य में जीवन की केवल छाया ही है। जीवन से इसका उतना सम्बन्ध नहीं जितना रामकाव्य का। इसमें कृष्ण अलौकिकता के प्रतीक हैं। उनकी बाललीला में भी उनकी अलौकिक शक्ति झलकती है। उनकी लीलाओं को देखकर सुर, मुनि तथा देवता सभी विस्मित और आश्चर्यचकित हो जाते हैं। राम का चरित्र ऐसा विस्मयकारी नहीं है। वे तो हमारे बीच एक श्रेष्ठ महामानव की भाँति आते हैं। वे दशरथ के पुत्र हैं और हमारे आदर्श नेता हैं।

रामकाव्य में अवधी भाषा का प्रयोग हुआ है। यह भाषा राम के जन्म-स्थान अयोध्या से सम्बन्धित है। तुलसीदास ने ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया है। तुलसी की अवधी शुद्ध और परिमार्जित है। सूर आदि कृष्ण भक्तों की भाषा ब्रज है। यह भाषा कृष्ण की क्रीडा भूमि ब्रज की प्रमुख भाषा है। कृष्ण-काव्य की भाषा राम-काव्य की भाषा की भाँति शुद्ध नहीं है।

सिद्धान्त और विचारों की भिन्नता के कारण इन दोनों शाखाओं के काव्य-प्रकार और इनकी रचना शैली में भी अन्तर है। राम काव्य में प्रबन्ध काव्यों की ओर अधिक रुचि रही। कहीं-कहीं मुक्तक काव्य की ओर भी इन कवियों ने अपना हाथ फैलाया है किन्तु प्रबन्धात्मकता में इनकी आत्मा अधिक रम सकी है। कृष्ण-काव्य प्रबन्ध शैली को आधार न मानकर मुक्त शैली को आधार मानकर चलता है। रामकाव्य में राम के सम्पूर्ण जीवन की कथा वर्णित है तो कृष्ण काव्य में केवल कृष्ण के जीवन के कुछ अंशों की कथा। तुलसी ने अपने समय में प्रचलित सभी शैलियों का प्रयोग किया, किन्तु सूर आदि कवियों ने गीतशैली को प्रमुखता दी। राम शील, शक्ति और सौन्दर्य के आधार हैं तो कृष्ण सुन्दरता के प्रतीक।

राम काव्य में सभी दृष्टियों से समन्वय है किन्तु कृष्ण काव्य में किसी भी रूप में समन्वय नहीं। रामकाव्य में साम्प्रदायिकता नहीं है पर कृष्ण काव्य में साम्प्रदायिकता है। सूर के वर्णनों में जैसे स्वाभाविक चित्र हैं वैसे रामकाव्य में कम हैं। कृष्ण काव्य में अधिक मधुरता है तो रामकाव्य में धर्म की बोझिलता। एक ने ईश्वर प्राप्ति के लिए नवधाभक्ति का पथ अपनाया तो दूसरे ने पुष्टिमार्ग का। इस प्रकार राम काव्य और कृष्णकाव्य सगुण भक्ति से सम्बन्धित होकर भी एक दूसरे से भिन्न हैं। इस भिन्नता में भी काव्यगुण तथा काव्य-चमत्कार में दोनों अद्वितीय हैं। यही कारण है कि इन दोनों शाखाओं के अग्रगण्य तुलसी और सूर की तुलना करने पर बड़े-बड़े विद्वानों को भी यह कहना पड़ा है कि

तुलसी और सूर दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। एक लोकरक्षक राम के जीवन से हमें प्रकाशित करता है तो दूसरा कृष्ण की लीलाओं से हमें रंजित करता है।

रामभक्ति और कृष्ण भक्ति

समता :—

१—विष्णु के अवतार, २—कवियों का निवेदन, ३—ज्ञान और कर्म भक्ति से निम्नतर, ४—गुरु का महत्व, ५—नाम-जप, ६—रहस्य और अस्पष्टता का विरोध, ७—एकनिष्ट भक्ति का महत्व, ८—भगवान की कृपा मुक्ति के लिये आवश्यक, ६—भाव तथा रस की दृष्टि से सफल, १०—पुष्ट कला पक्ष।

विषमता :

राम :		कृष्ण :
१—दास्य भक्ति	—	सख्य एवं माधुर्य भक्ति
२—मर्यादा का पालन	—	मर्यादा भंग
३—लोकरक्षण का भाव	—	मनोरंजन का भाव
४—लोक पक्ष की प्रधानता	—	कला पक्ष की प्रधानता
५—जीवन के निकट	—	जीवन की केवल छाप
६—राम श्रेष्ठ मर्यादा पुरुषोत्तम	—	कृष्ण विस्मयकारी अलौकिक रूप
७—अवधी	—	ब्रजभाषा
८—प्रबन्ध काव्य	—	मुक्तक काव्य
६—राम की सम्पूर्ण कथा	—	कृष्ण की आंशिक कथा
१०—सभी शैलियों का प्रयोग	—	गीतिशैली का प्रयोग
११—साम्प्रदायिकता नहीं है	—	साम्प्रदायिता है
१२—स्वाभाविक चित्रों का अभाव	—	स्वाभाविक चित्रों की अधिकता

भक्तिकाल : स्वर्णयुग

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का वह काल है, जिसपर हिन्दी साहित्य के विचारकों, आलोचकों एवं समर्थकों को गर्व है। गर्व का कारण क्या हो सकता है? यह तो इस युग के काव्य का विश्लेषण करने पर ही ज्ञात होगा। इसकी विशेषताओं एवं इनके मूल्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग है। इस विवादास्पद प्रश्न का समाधान बहुत ही जटिल है। यह विवादास्पद इसलिये है कि कुछ के अनुसार हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल स्वर्ण युग है, और बहुसंख्यक आलोचकों के अनुसार भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग है। इस प्रश्न का उत्तर जानने के

होकर भी बहुजन सुखाय है। इससे विशाल और व्यापक जनसमुदाय का पथ-प्रदर्शन होता है। इसके विपरीत कृष्ण काव्य में जीवन की केवल छाप ही है। जीवन से इसका उतना सम्बन्ध नहीं जितना रामकाव्य का। इसमें कृष्ण अलौकिकता के प्रतीक हैं। उनकी बाललीला में भी उनकी अलौकिक शक्ति झलकती है। उनकी लीलाओं को देखकर सुर, मुनि तथा देवता सभी विस्मित और आश्चर्यचकित हो जाते हैं। राम का चरित्र ऐसा विस्मयकारी नहीं है। वे तो हमारे बीच एक श्रेष्ठ महामानव की भाँति आते हैं। वे दशरथ के पुत्र हैं और हमारे आदर्श नेता हैं।

रामकाव्य में अवधी भाषा का प्रयोग हुआ है। यह भाषा राम के जन्म स्थान अयोध्या से सम्बन्धित है। तुलसीदास ने ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया है। तुलसी की अवधी शुद्ध और परिमार्जित है। सूर आदि कृष्ण भक्तों की भाषा ब्रज है। यह भाषा कृष्ण की क्रीड़ा भूमि ब्रज की प्रमुख भाषा है। कृष्ण काव्य की भाषा राम काव्य की भाषा की भाँति शुद्ध नहीं है।

सिद्धान्त और विचारों की भिन्नता के कारण इन दोनों धाराओं के काव्य-प्रकार और इनकी रचना शैली में भी अन्तर है। राम काव्य में प्रबन्ध काव्यों की ओर अधिक रुचि रही। कहीं-कहीं मुक्तक काव्य की ओर भी इन कवियों ने अपना हाथ फैलाया है किन्तु प्रबन्धात्मकता में इनकी आत्मा अधिक रम सकी है। कृष्ण काव्य प्रबन्ध शैली को आधार न मानकर मुक्त शैली को आधार मानकर चलता है। रामकाव्य में राम के सम्पूर्ण जीवन की कथा वर्णित है तो कृष्ण काव्य में केवल कृष्ण के जीवन के कुछ अंशों की कथा। तुलसी ने अपने समय में प्रचलित सभी शैलियों का प्रयोग किया, किन्तु सूर आदि कवियों ने गीतशैली को प्रमुखता दी। राम शील, शक्ति और सौन्दर्य के आधार हैं तो कृष्ण सुन्दरता के प्रतीक।

राम काव्य में सभी दृष्टियों से समन्वय है किन्तु कृष्ण काव्य में किसी भी रूप में समन्वय नहीं। रामकाव्य में साम्प्रदायिकता नहीं है पर कृष्ण काव्य में साम्प्रदायिकता है। सूर के वर्णनों में जैसे स्वाभाविक चित्र हैं वैसे रामकाव्य में कम हैं। कृष्ण काव्य में अधिक मधुरता है तो रामकाव्य में धर्म की बोझिलता। एक ने ईश्वर प्राप्ति के लिए नवधाभक्ति का पथ अपनाया तो दूसरे ने पुष्टिमार्ग का। इस प्रकार राम काव्य और कृष्णकाव्य सगुण भक्ति से सम्बन्धित होकर भी एक दूसरे से भिन्न हैं। इस भिन्नता में भी काव्यगुण तथा काव्य-चमत्कार में दोनों अद्वितीय हैं। यही कारण है कि इन दोनों धाराओं के अग्रगण्य तुलसी और सूर की तुलना करने पर बड़े-बड़े विद्वानों को भी यह कहना पड़ा है कि

तुलसी और सूर दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। एक लोकरक्षक राम के जीवन से हमें प्रकाशित करता है तो दूसरा कृष्ण की लीलाओं से हमें रंजित करता है।

रामभक्ति और कृष्ण भक्ति

समता :—

१—विष्णु के अवतार, २—कवियों का निवेदन, ३—ज्ञान और कर्म भक्ति से निम्नतर, ४—गुरु का महत्व, ५—नाम जप, ६—रहस्य और अस्पष्टता का विरोध, ७—एकनिष्ठ भक्ति का महत्व, ८—भगवान की कृपा मुक्ति के लिये आवश्यक, ९—भाव तथा रस की दृष्टि से सफल, १०—पुष्ट कला पक्ष।

विषमता *

राम		कृष्ण
१—दास्य भक्ति	—	सख्य एवं माधुर्य भक्ति
२—मर्यादा का पालन	—	मर्यादा भंग
३—लोकरक्षण का भाव	—	मनोरंजन का भाव
४—लोक पक्ष की प्रधानता	—	कला पक्ष की प्रधानता
५—जीवन के निकट	—	जीवन की केवल छाप
६—राम श्रेष्ठ मर्यादा पुरुषोत्तम	—	कृष्ण विस्मयकारी अलौकिक रूप
७—अवधी	—	ब्रजभाषा
८—प्रबंध काव्य	—	मुक्तक काव्य
९—राम की सम्पूर्ण कथा	—	कृष्ण की आंशिक कथा
१०—सभी शैलियों का प्रयोग	—	गीतिशैली का प्रयोग
११—साम्प्रदायिकता नहीं है	—	साम्प्रदायिता है
१२—स्वाभाविक चित्रों का अभाव	—	स्वाभाविक चित्रों की अधिकता

भक्तिकाल : स्वर्णयुग

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का वह काल है जिसपर हिन्दी साहित्य के विचारकों आलोचकों एवं समर्थकों को गर्व है। गर्व का कारण क्या हो सकता है? यह तो इस युग के काव्य का विश्लेषण करने पर ही ज्ञात होगा। इसकी विशेषताओं एवं इनके मूल्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग है। इस विवादास्पद प्रश्न का समाधान बहुत ही जटिल है। यह विवादास्पद इसलिये है कि कुछ के अनुसार हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल स्वर्ण युग है, और बहुसंख्यक आलोचकों के अनुसार भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग है। इस प्रश्न का उत्तर जानने के

पूर्व युग की समीक्षा भी करलेनी चाहिये। स्वर्ण युग उस युग को कहा जाता है जिस युग में सर्वांगीण विकास की विस्तृत रेखायें स्पष्ट लक्षित होती हैं। भक्तिकाल में प्रारम्भिक युग की संकटकालीन परिस्थितियों का अध्ययन करने के उपरांत हम पाठकों को यह उपलब्धि हुई है कि उस युग में सामाजिक परिस्थिति, राजनैतिक व साहित्यिक परिस्थिति बड़ी ही भयावह थी। समाज में चारों तरफ ऊँच-नीच के भाव एवं विद्वेष के भाव फैले हुये थे। समाज के प्राणी आपसी कलह के कारण अपने धर्म एवं कर्तव्य को भूल चुके थे। धार्मिक परिस्थिति यहीं इससे भी अधिक दुखद थी। धर्म का स्रोत सूख सा गया था। देवी और देवताओं के प्रति लोगों के मन में श्रद्धा और भक्ति नहीं रह गयी थी। राजनीति के क्षेत्र में निरंकुशता फैली हुई थी। आपस में साम्राज्य विस्तार की लिप्सा के लिये लोगों में द्वन्द-युद्ध हो रहे थे। मुसलमानों की बढ़ती हुई शक्ति भारत की रीढ़ को कमजोर बनाए जा रही थी। साहित्य के क्षेत्र में ऐसी अटपटी बातें कही जाती थीं जिसका सम्बन्ध केवल ज्ञान से और ब्रह्म से था। जनता को आगे बढ़ाने वाली रचनाओं का अभाव था।

उपर्युक्त परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन जो साहित्य ला दे वह किसी के द्वारा श्रेष्ठ और महान माना जा सकता है।

स्वर्ण एक ऐसा बहुमूल्य द्रव्य है जो मानव जीवन की कमियों को दूर कर चिन्ता का मूलोच्छेन कर समाज में सुख और शान्ति को जन्म देता है। इसी प्रकार भक्तिकाल ने भी हमारे समाज में फैली हुई विकृतियों को दूर किया और सामाजिक एकता के साथ साथ सामाजिक प्राणियों का मानसिक विकास करते हुए समग्र रूप से समाज को विकसनशील किया।

भक्ति काल के अग्रदूत कबीरदास ने धर्म, समाज और साहित्य सबका उन्नयन किया। समाज में फैली हुई विद्वेषात्मक भावनाओं को समूल नष्ट किया। हमारे लिये एक ज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया। जातिगत, धर्मगत और धनगत बुराइयों को नष्ट कर हमें एकता का संदेश दिया। समाज में फैले हुए ढकोसले को नष्ट करने का प्रयास किया। उनके नीति परक दोहे ने हमारा बहुत बड़ा कल्याण किया। "हिन्दुओं की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई", "कर का मारा फेंक दे, मनका मनका फेर" आदि दोहे जन्म जन्मान्तर तक हमारा पथ प्रदर्शन करते रहेंगे। 'गुरु गोविन्द दोउ खड़े, काके लागूँ पाव, बलिहारी गुरु आपकी गोविन्द दियो बताय' की बात कहने वाला कवि आज के युग के लिये भी कर्णधार हो सकता है और उसका साहित्य आज के युग के लिये भी कर्णधार हो सकता है और उसका साहित्य आज के युग के लिये भी स्वर्णिम पथ बन सकता है।

कबीरदास के पश्चात् मल्लिक मुहम्मद जायसी ने अपने काव्य के द्वारा हिन्दी जगत् का कल्याण किया। उन्होंने भक्ति का एक ऐसा सहज मार्ग बता दिया जिस मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति बड़ी ही सुविधा से अमरत्व प्राप्त कर सकते हैं। वह पथ प्रेम का है। इन्होंने अलौकिकता को लौकिकता का चोला पहना कर इस प्रकार सुन्दर बना दिया कि भूली हुई करोड़ों जनता अपने प्रेम-पात्र में ईश्वरत्व देखकर ईश्वर में लीन हो गयी।

हिन्दी समाज का सबसे बड़ा कल्याण भक्तिकालीन दो कवियों ने किया। इन दो कवियों में सूरदास एवं तुलसीदास बहुप्रशंसनीय हैं। सूरदास ने हमारे सामने कृष्ण जैसे महान व्यक्ति का वह स्वरूप रखा जिस स्वरूप को देखकर हमारी जड़ता अमरता में बदल गयी। हमारे जीवन में आनन्द और ईश्वर के प्रति अनुरक्ति जाग उठी। अपनी प्रजा और अपने हितैषियों के प्रति सद्भावना हमारे हृदय में उत्पन्न हुई। दुष्टों को दण्डित करने के विचार हमारे हृदय में जगमगा उठे। कंस जैसे दुष्टों का दलन करना हमारा कर्तव्य बन गया। गिरधर की कामनायें भारतीय जनता में प्रसारित हो गयीं। प्रत्येक व्यक्ति का मानस खिल उठा। चिन्ता और शोक का लोक ही दूर हो गया। लोकरक्षक कृष्ण के बालस्वरूप को देखकर ही हम उनके प्रति तन्मय हो उठे। उनकी शुद्धता और पवित्रता हमारे लिये अनुकरणीय बन गयी।

सूरदास से अधिक व्यापक रूप में हमारा विकास करने वाला काव्य तुलसीदास का काव्य है। तुलसीदास ने मर्यादा पुरुषोत्तम का चरित्र चित्रित कर हमें अनेक आदर्शों का पाठ पढ़ाया। अदूरदर्शी राजे, महाराजे राम की भांति प्रजावत्सल, देश-रक्षक और अहिंसावादी बन गये। अपनी प्रजा को सुखी बनाने के लिये राम की ही भाँति 'निशिचर हीन करों महि', की प्रतिज्ञा की। अपने परिवार के सदस्यों के प्रति श्रद्धा एव आज्ञापालन के भाव हमें राम के जीवन से उपलब्ध हुए। उनकी दानशीलता और उदारता के व्यापक दृष्टिकोण से हम भी उदार एवं दानी बन गये। उनकी शासन-कुशलता की छाप जन-जन पर पड़ गई। राम के प्रति भक्ति का सहज मार्ग हमारे सामने आ उपस्थित हुआ। इस राम-नाम के मन्त्र से ही भवसागर को पार करने का हमें संदेश मिला। प्रत्येक व्यक्ति यह रटने लगा—'राम नाम मणि दीप धरु जीह देहरी द्वार, तुलसी भीतर बाहिरो जो चाहसि उजियार।'

उपर्युक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त भक्तिकाल से हमें एक और भी बड़ी उपलब्धि हुई है और वह है साहित्यिक उपलब्धि। भक्तिकाल का काव्य एक ऐसा काव्य है जो काव्य की सारी मान्यताओं एवं आवश्यकताओं को पूर्ण करता है।

यह भाव एवं कला दोनों पक्षों में श्रेष्ठ है। यह काव्य जितना महान भाव में है उतना ही महान कला में भी। आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को भी तुलसी के इस छन्द में गम्भीर और श्रेष्ठ भाव के दर्शन हुए :—

राम को रूप निहारति जानकी, कंगन के नग की परछाईं।
याहि ते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारत नाहीं॥

सूर का विरह वर्णन भक्ति प्रधान विचारों की सुन्दर अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। जायसी का अलौकिक प्रेम सचमुच प्रेम को अतीन्द्रियता प्रदान करने में समर्थ है।

रस-काव्य की आत्मा है। भक्तिकाल के साहित्य में यह आत्मा विद्यमान है। प्रत्येक पाठक काव्य के इस आत्मतत्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इस आत्मा से कविता ही सुशोभित नहीं हुई बल्कि सारा भारतीय जीवन ही चमक उठा। तुलसी के छन्द, तथा सूर के पद अपने में इतनी जीवनी-शक्ति धारण करते हैं कि निर्जीव को भी जीवन प्रदान कर देने में समर्थ सिद्ध होते हैं।

भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति और सभ्यता, आचार और विचार सभी कुछ भक्ति-काव्य के सुदृढ़ एवं सुन्दर कलेवर में सुरक्षित हैं। इसमें सगुण-निर्गुण भक्ति, योग, दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और दर्शन आदि जीवन के भव्य चित्र अंकित हैं। तुलसीदास ने अपनी पुस्तक रामचरित मानस, में पहले ही कह दिया है—

नानापुराण निगमागम सम्मत यद्।
रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोपि॥

तुलसीदास के इस निवेदन से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने अपने मानस में नाना पुराण-निगमागम का सार प्रस्तुत किया है। उन्होंने भक्ति, ज्ञान और कर्म सबका समन्वय किया है। भक्तिकाव्य में ऐसी धार्मिक भावनाओं का समावेश है जिनका किसी विचार से मतभेद नहीं। तुलसी के राम तथा सूरदास के कृष्ण आदर्श चरित्र हैं। दुष्टता और आदर्श का समन्वय कर इस सन्तकवि ने अन्त में आदर्श का प्रतिष्ठापन किया है। कुल मिलाकर ऐसा कहा जा सकता है कि भक्ति-साहित्य तत्कालीन जनता का उन्नायक, प्रेरक एवम् उद्धारक है और साथ ही साथ यह साहित्य भारतीय संस्कृति और आदर्श का संस्थापक है।

किसी भी काव्य को आकर्षक और प्रभावक बनाने में संगीत का बहुत हाथ होता है। संगीतमयता काव्य की जीवनी शक्ति है। भक्तिसाहित्य गेय है। संगीत और भावों का इसमें मणि-कांचन संयोग हुआ है। कबीर के दोहे, तुलसी के कवित्त और सूर के पद सब में यह संगीततत्व विद्यमान है। यही कारण है कि आज भी सूर के तथा मीरों के पदों को सुनकर पाठक झूमने लगते हैं।

भाषा की सरलता भक्तिकाव्य को स्वर्णयुग सिद्ध करने का प्रमुख साधन है। भाषा की दुरूहता किसी भी काव्य को अप्रभावक बना सकती है। भक्तिकाल की भाषा अवधी और व्रज है। व्रज में भी रीतिकालीन केशव की व्रज भाषा नहीं। रामायण की भाषा तो इतनी सरल है कि इसे साधारण व्यक्ति भी समझ सकते हैं।

सबसे बड़ी विशेषता इस युग की जो दिखायी पड़ती है वह यह है कि पूर्ववर्ती हिन्दी की काव्यधारा व्यक्ति-पूजा की ऊबड़-खाबड़ संकुचित भूमि पर बहती किन्तु इस युग के समर्थ कवियों ने व्यक्ति को त्याग, काव्य को समाज गंगा के रूप में प्रवाहित किया। उस प्रवाह से अनेक धाराएँ फूटीं, जो गौरव की गाथा छिपाये हैं। भक्ति काल में ऐसी प्रतिभाएँ उत्पन्न हुईं जिन्होंने अलग-अलग ढंग से समाज के मानस में जीवन की प्राण प्रतिष्ठा की। इसीलिये कहा जाता है कि जितनी जीवनीशक्ति इस युग के साहित्य में है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। यदि इस युग का समस्त हिन्दी काव्य विश्व की किसी भी भाषा के काव्य के समक्ष रखा जाय को हिन्दी की गरिमा बढ़ानेवाला ही होगा। इस युग के प्राय सभी उत्कृष्ट साहित्यकारों ने इस लोक की चिन्ता तो अपने साहित्य में की है, पारलौकिक विषयों पर भी तथा परमात्मा के सम्बन्ध में भी काफी चिन्तन अलग अलग ढंग से किया है। साहित्य में धार्मिक भावना इस युग में चरम उत्कर्ष पर पहुच गयी, समाज कल्याण का भाव अत्यंत व्यापक हो गया। कुछ लोगों को इस युग के साहित्य में राजनैतिक और राष्ट्रीय चेतना का अभाव लगता है, किन्तु यदि वे रामचन्द्र जी के राजनैतिक जीवन पर ही विचार करें तो शायद उन्हें ऐसा कहने का अवसर नहीं मिलेगा। डा० बलदेव प्रसाद मिश्र के अनुसार रामचन्द्रजी एक कुशल राजनीतिज्ञ थ। इस प्रकार राम का जीवन प्रस्तुत करनेवाला भक्ति साहित्य राजनैतिक चेतना से हीन कैसे हो सकता है?

उपर्युक्त आधारों पर हम देखते हैं कि भक्ति साहित्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की बुभुक्षा को शान्त करता है, और सचमुच यह युग स्वर्णयुग की आभा से ज्योतित और प्रकाशित होता है।

रीतिकाल या श्रृंगारकाल

(वि० सं० १७००—१९००)

राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति के परिवर्तन तत्कालीन युगकी साहित्यिक प्रवृत्तियों को भी परिवर्तित कर देते हैं। सं० १७०० के प्रारम्भित युग में भक्तिकालीन परिस्थितियाँ बदल गईं और नवीन परिस्थितियाँ अंगड़ाई लेने लगीं। परिणामतः इस युग का साहित्य भी अपने पूर्ववर्ती साहित्य से बदल गया और इसी बदले हुए साहित्य को आलोचकों ने रीतिकालीन साहित्य कहा। संस्कृत परम्परा के अनुसार लक्षण-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। काव्याङ्ग निरूपण के इस युग को रीतिकाल कहना सर्वमान्य हुआ।

आ० शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को मुख्यतः प्रवृत्ति के आधार पर विभाजित किया है। रीतियुग या रीतिकाल नामकरण भी प्रवृत्ति के आधार पर है। जिस युग में रीतिपरक रचनाएँ अधिक मात्रा में हुईं। उस युग को रीतिकाल कहा गया। इस नामको अधिकांश इतिहासकारों ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। वि० स० १७०० से १९०० तक एक विशेष शैली में या रीति से काव्य लिखा गया। इस बीच काव्याङ्गनिरूपण की पद्धति अपनायी गई। संस्कृत में काव्याङ्ग-निरूपण की पद्धति को रीति कहा गया। अतः हिन्दी में भी इस प्रकार के काव्य को रीतिकाव्य और उस युग को जिसमें इस प्रवृत्ति की अधिकता रही, रीतिकाल कहा गया।

आ० शुक्ल के उपर्युक्त प्रवृत्तिगत नामकरण से रीतिकाल के सभी कवियोंका प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता है। इस युग में एक प्रकार की ऐसी भी रचना हुई जिसमें काव्याङ्गनिरूपण न होकर शृङ्गार-निरूपण हुआ। शृंगार का वर्णन इस काल के सभी कवियों में पाया जाता है। अतः इस युग का नाम शृंगार-काल ही होना चाहिये। रीतिपरक और रीतिसे मुक्त सभी पद्धतियों पर लिखनेवाले कवि इसमें आ जाते हैं, क्योंकि शृंगारिकता रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्ति है। इसी प्रमुखता को ध्यान में रखते हुए आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने हिन्दी साहित्य के इस युग को शृंगार-युग या शृंगार काल कहा। इस नाम से बिहारी जैसे कवियों का भी समावेश हो जाता है, किन्तु इस नामको अधिकांश विद्वानों ने अस्वीकृत ही किया, क्योंकि यह प्रवृत्ति सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र प्रवृत्ति नहीं है। यह तो गौण प्रवृत्ति है। लक्षण ग्रन्थों की रचना या विशिष्ट-पद-रचना की ओर इस युग के सभी कवियों का ध्यान गया, अतः इसे रीतिकाल कहना उचित है।

'रसाल' जी ने रीतिकाल को कला-काल कहा है। यह नाम इसलिए रखा गया कि रीतिकालीन साहित्य में कला पक्ष की प्रधानता रही। अलंकार-परम्परा की अविच्छिन्नता को देखते हुए या काव्य के कला-पक्ष की प्रमुखता को देखते हुए इस युग को 'रसाल' जी ने कला-काल कहा। किन्तु ऐसा यदि मान लिया जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस युग में भाव पक्ष अप्रधान या गौण रहा। यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि रीतिकालीन काव्य में भाव-पक्ष अत्यन्त पुष्ट और रसात्मक है। इस युग के कवियों का उद्देश्य 'काव्य-कला' के सिद्धान्त के अनुसार काव्य लिखना नहीं था। इनका उद्देश्य तो अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन और अपनी प्रतिभा का प्रकाशन था। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती थी जब ये साहित्यकार कवि और आचार्य दोनों रूपों में आते। ऐसा ही हुआ। इन कवियों का काव्य भी भाव और कला दोनों पक्षों में श्रेष्ठ हुआ। एक तरफ इन्होंने काव्यांग निरूपण में कला के प्रति रुचि दिखलाई तो दूसरी तरफ भावों की प्रभावकता में भाव के प्रति। इस प्रकार केवल कला-काल कह देने से इस युग का भाव-पक्ष अप्रधान बन जाता है। इस अवस्था में इस युग को कला-काल कहना संगत नहीं है।

इस काव्य की शृङ्गारिकता को लक्ष्य करते हुए इसे 'शृङ्गार काल' कहा जा सकता है किन्तु 'रीतिकाल' में शृङ्गारिकता का वर्णन भी एक विशिष्ट पद-रचना के रूप में मान्य हो सकता है अतएव इस प्रकार के साहित्य को रीति साहित्य और इस साहित्य के रचना-काल को 'रीतिकाल' कहना अनुचित नहीं है।

नामकरण की सार्थकता के पश्चात् 'रीति' शब्द का अर्थ-बोध करना भी उचित ही है। 'रीति' शब्द संस्कृत से लिया गया है। इसकी परिभाषा देते हुए आचार्यों ने लिखा है "विशिष्ट पद-रचना रीति" अर्थात् विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं। लक्षण ग्रन्थों की रचना-शैली को संस्कृत के आचार्यों ने विशिष्ट पद-रचना के नाम से अभिहित किया और इसी रचना शैली को रीति कहा। हिन्दी में रीति का अर्थ चिन्तामणि के समय से संस्कृत से भिन्न हो गया। यहाँ इसका अर्थ काव्य-रचना-पद्धति तथा उसका निर्देशक शास्त्र हो गया। रीति काल तक आते-आते रीति शब्द का अर्थ रस, अलंकार, शब्दशक्ति, छन्द आदि काव्यांगों का निरूपण ही रह गया। काव्यांग-निरूपण करते समय ही कवियों ने काव्यांगों की पुष्टि के लिए उदाहरण भी प्रस्तुत किये। इस स्थिति में हम तो यही कह सकते हैं कि हिन्दी में रीतिशब्द उस रूप में प्रयोग में नहीं आया जिस रूप में इसका प्रयोग संस्कृत में हुआ था। यहाँ आकर रीति का अर्थ एक प्रकार की काव्य-शैली हुआ जिसमें काव्यांगों का निरूपण सोदाहरण किया जाता है। ऐसे

रीतिबद्ध काव्य को हिन्दी में रीतिकाव्य कहा गया। आचार्य शुक्ल ने तो उन कवियों को भी रीतिकाल में सम्मिलित कर लिया है जिन्होंने रीतिग्रन्थ रचना नहीं की। इसका कारण यह है कि उनके अनुसार जिसने लक्षण ग्रन्थ लिखा हो केवल वह ही रीति कवि नहीं है, बल्कि जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो वह भी रीति कवि है।

मिश्रबन्धुओं ने भी रीतिकाल नाम अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया है। इतना स्वीकार करते हुए भी उन्होंने इसे अलंकार काल के नाम से पुकारा है। इनका यह नाम भी 'कला-काल' की तरह अनुचित है, क्योंकि इस युग में अलंकारों के अतिरिक्त अन्य अङ्गों का भी वर्णन हुआ और इस काव्य में कला पक्ष के अतिरिक्त भावपक्ष भी प्रबल है।

रीतिकाल की सभी गतिविधियों का निरीक्षण करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उस काल की व्यापक और प्रमुख प्रवृत्ति रीति है अतः हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्य काल को 'रीतिकाल' के नाम से पुकारना अधिक उपयुक्त है।

रीतिकाल की परिस्थितियाँ :—समय की गति सदैव गतिवान होती रहती है। गति-परिवर्तन से भक्तिकाल की परिस्थितियाँ रीतिकाल के प्रारम्भ तक आते आते बदल गई। इन्हीं बदली हुई राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जायगा।

राजनीतिक परिस्थिति —अकबर ने भक्ति काल में एक आदर्श साम्राज्य की स्थापना की थी। इसका राजनैतिक आदर्श हिन्दू और मुसलमान सबके लिये लाभदायक था। उसकी मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर ने उसके आदर्शों का पालन सं० १७१५ तक किया। इसके पश्चात् औरंगजेब का शासन प्रारम्भ हुआ। यह अपने पूर्ववर्ती शासकों के आदर्श का पालन नहीं कर सका। यह निरंकुश, अहंवादी और अवसरवादी था। इसका राजनैतिक आदर्श नहीं था। इसकी निरंकुशता से उत्तर लोगों ने मुगल साम्राज्य के प्रति विद्रोह कर दिया। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। मुगल सम्राट सामंतों के हाथ की कठपुतली बन गये। बहादुरशाह प्रथम से लेकर बहादुरशाह द्वितीय तक कुल नौ मुगल सम्राट हुए, पर सब के सब निकम्मे निकले। इसी समय देश पर विपत्ति के बादल मँडराने लगे और बरसने भी लगे। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण भी इसी समय हुए। सं० १८१५ में पानीपत का प्रसिद्ध युद्ध हुआ। सं० १८२२ में शाहआलम ने अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी दी। अंतिम सम्राट बहादुरशाह पर सं० १९१४

की जन क्रान्ति में भाग लेने का अभियोग लगाया गया और उसे गद्दी से उतार कर रंगून भेज दिया गया। दिल्ली का केन्द्रीय-शासन अंग्रेजो के हाथ चला गया।

मुगल सम्राटों की विलासिता एवम् मूर्खता से लाभ उठाकर बहुत से राज्य स्वतंत्र हो गये। आगरे में जाटों, राजस्थान में राजपूतों तथा पंजाब में सिक्खों के स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए। सामन्तों ने अनेक हरम बसा लिए थे। इन हरमो में असंख्य नर्तकियाँ और रक्षिकाएं रहती थीं। इन सामन्तो के सामने निर्माण की कोई योजना नहीं थी। जनता की ओर से उन्होंने अपनी आँखें मोड लीं। निरन्तर युद्ध में लगे रहने के कारण इनकी शक्ति भी नष्ट होती जा रही थी। कर्त्तव्य से च्युत होकर ये भी सुरा और मदिरा देवी की गोद में आसीन थे।

उपर्युक्त परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए यह कहना पड़ता है कि यह काल राजनीति की दृष्टि से घोर निराशा और घोर अन्धकार का युग था। इसी राजनीतिक परिस्थिति में रीतिकाव्य का उदय हुआ।

समाजिक परिस्थिति :—भक्तिकालीन काव्य ने जिस भारतीय समाज को समाजिक एकता के सूत्र में बाँध दिया था, वही समाजिक एकता सत्रहवीं शताब्दी में नष्ट होने लगी। सामाजिक बन्धन धीरे-धीरे ढीले हो गये। जाति-पाँति के भेद-भाव ने पुनः जन्म लिया। एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगो से अपने को ऊँचा समझने लगे। ये तथाकथित ऊँची जातियाँ दूसरी जाति के लोगो को नीचा दिखाने में आत्मगौरव का अनुभव करने लगीं। यह जाति-भेद इतनी दूर तक चला गया कि एक जाति में भी उपजातियाँ बनने लगीं। यह भेद छोटे और बड़े सब में व्याप्त हो गया। आर्थिक दृष्टि से भी जनता त्रस्त थी।

मुगल सम्राटों और स्वतन्त्र सामन्तो का जीवन विलासिता एव भोग-विलास का जीवन था। अनेक पत्नियों एवम् नर्तकियों के रखने की प्रथा उस युग के सम्राटो के जीवन में प्रचलित थी। मानसिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से यह युग पतन का युग था। शासकों की इसी मनोवृत्ति के अनुसार साधारण जनता में भी विलासिता की मात्रा बढ़ने लगी। मद्यपान, शृङ्गारिकता के प्रति प्रेम आदि विकारो से सामान्य जनता भी जकड दी गई थी। बाल-विवाह और बहु-विवाह की रीति प्रचलित थी। जमींदारों और जागीरदारो का कृषको पर दबदबा था। कृषक इन अत्याचारों से दबते जा रहे थे। कला-कौशल और व्यापार भी पतन के गर्त में गिर चुका था। चारों तरफ अहंमन्यता, अदूरदर्शिता, अत्याचार और अमानवता का प्रसार था। भक्तिकालीन महान आदर्श से

जनता अलग हो गई थी। इस सामाजिक परिस्थिति में हमारी सामाजिक स्थिति अत्यन्त भयावह और शोचनीय हो गयी थी।

रीतिकालीन समाज सुरा और अन्य मादक वस्तुओं का शिकार हो चुका था। पद्माकर ने इस परिस्थिति का यथातथ्य चित्रण इस छन्द में किया था :—

गुलगुले गिलमें, गलीचा है, गुणीजन हैं चाँदनी है,
चिक है, चिरागन की माला है।
कहैं पद्माकर त्यों गजक गिजा हैं सजी सेज हैं,
सुराही है, सुरा है और प्याला है॥

हिन्दू और मुसलमान दोनों की यही परिस्थिति थी। मुसलमान भी नैतिक बल खो चुके थे और हिन्दू भी दम्भी और व्यसनी हो गये थे। जनता में धार्मिक भेदभाव, ईर्ष्या, काम आदि दुर्विकार घर करते जा रहे थे।

धार्मिक परिस्थिति :—सामाजिक और राजनीति परिस्थिति की विकटावस्था में धर्म की अवस्था अच्छी हो, ऐसी आशा केवल दुराशा है। इस युग में अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और वाह्याडम्बरों ने धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया था। पंडितों और मुल्लाओं का बोलवाला था। जनता उनके वाक्यों को पुराण और देव वाक्य मानती थी।

> **रीतिकाल : परिस्थितियाँ**
> १. राजनैतिक—मुगल साम्राज्य का पतन—नादिरशाह और आलम शाह का आक्रमण—पानीपत का युद्ध—अंग्रेजों का प्रभाव—स्वतन्त्र राज्य—युद्ध में लीन।
> २ सामाजिक—विलासिता का जोर—जाति-गत भेदभाव—अत्याचार—बुरे रीतिरिवाज।
> ३ धार्मिक—अन्धविश्वास—आडम्बर—राम और कृष्ण शृङ्गारिक बन गये—वैष्णव धर्म—रंग महल ही मन्दिर एवम् वेश्याएं ही देवी थीं।

मथुरा और वृन्दावन अब अलौकिक कृष्ण और राधा के लीला-स्थान न रह कर क्रीडा-स्थल बन गये थे। वेश्याओं के नृत्य द्वारा मन्दिरों में अपना मन सन्तुष्ट किया जा रहा था। स्त्रैण भावना की पूजा की जाने लगी। इस युग में तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम रसियाराम बन गये और सूर के लोक-रक्षक-व्रजपालक कृष्ण आधुनिक युग के छलिया बन गये। इनकी बाँसुरी अब असंख्य रमणियों में वासना भरने लगी। चैतन्य और बल्लभ सम्प्रदाय की गद्दियाँ भी सस्ती रसिकता में डूब गई।

निर्गुण संतों की उपासना भी इस युग में प्रचलित थी। कुछ लोग इसी उपासना से अपनी धार्मिक तृप्ति करते थे। ये बाह्य विधानों को छोड़कर आत्म-शुद्धि पर विशेष ध्यान देते थे।

राधा और कृष्ण तथा राम और सीता इस युग के प्रसिद्ध नायक तथा नायिकायें थी। आदर्श की मूर्ति, सती सीता अब एक विलासमय और विलास-प्रिय एवं एक साधारण रमणी बन गयी।

धर्म की अवस्था रीतिकाल में बड़ी ही दयनीय हो गयी थी। कृष्ण और राम दोनों श्रृङ्गारिक पात्र बन गये। पुजारी एवं पण्डे धर्म के ठेकेदार थे। कुछ सद्गुण मानव भी थे। ये पुराण आदि के धार्मिक भावों पर श्रद्धा रखते थे। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या कम थी। अधिकांश जनता कृष्ण के रूप से लुब्ध थी। इनका ऐसा श्रृङ्गारिक वर्णन हुआ कि आज भी उन वर्णनों को पढ़कर रोमांच हो जाता है। धर्म के ठेकेदार भी ढोंगी एवं कायर थे। वैष्णव धर्म में भी कई सम्प्रदाय बन गये थे। कृष्ण की रासलीला का प्रसंग भी लौकिक श्रृङ्गार के चरम उत्कर्ष का प्रतीक बन गया। राधा और कृष्ण की आड़ में कामुकता खुलकर अभिव्यक्त हुई। इस युग में भक्तिकाल की धार्मिक शुद्धता नष्ट हो गई। वैष्णव धर्म में भी कमी आ गयी।

उच्च वर्ग के लोग नारियों के सौन्दर्यपान को ही ईश्वर भक्ति से अधिक महत्व देते थे। विलासिता में वे इतने डूब चुके थे कि और कहीं देखने तक का अवकाश नहीं था। इनके महल ही मन्दिर थे और उसमें रहने वाली वेश्याएँ एवं नर्तकियाँ ही देवी-देवता थी। धर्म की इस परिस्थिति में नैतिक और बौद्धिक विकास की कल्पना निरर्थक है। नैतिकता और बौद्धिकता की दृष्टि से तो इसे असहत्वपूर्ण युग ही माना जाना चाहिए।

रीतिकाल में जीवन के उपर्युक्त क्षेत्रों के समान कला और साहित्य-क्षेत्र में भी प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ गयी थी। मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला में भी वासना का आविर्भाव हुआ। नग्न मूर्तियों की स्थापना होने लगी। साहित्य में भी राधा और कृष्ण के आधार पर लौकिक प्रेम की कथा कही गई। काव्य में अलङ्कार और श्रृङ्गारिकता की प्रवृत्ति व्यक्त हुई। राधा और कृष्ण के नाम पर उतारे गये चित्र कुत्सित और श्रृङ्गारिक थे। नायिकाओं के नग्न से नग्न चित्र खींचने में भी उस युग के कवियों को सकोच नहीं हुआ।

विचारों की श्रृङ्गारिकता तो इस युग के काव्य की मूल प्रवृत्ति रही, फिर भी रागात्मकता तथा कलात्मकता की दृष्टि से रीतिकालीन काव्य श्रेष्ठ माना जाता है।

रीतिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियाँ:—भक्तिकाल के पश्चात् भी भक्ति-प्रधान रचनाएँ कुछ वर्षों तक होती रहीं। इन्हीं भक्ति प्रधान रचनाओं की लीलाओं का आधार ग्रहण कर रीतिकाल में लौकिक रस की कविताएँ होने

गयी। इस प्रकार की कविताओं की धारा प्रारम्भ में मन्द रही, किन्तु परिस्थिति-वश यह धारा तेजी से फिर उठायी गयी। १७ वीं शताब्दी के बाद लगभग प्रत्येक कवि की कविता में श्रीकृष्ण और गोपियों का नाम तो अवश्य आ जाता है, पर प्रधानता शृङ्गाररस की ही रह जाती है। यहां आकर कवि को प्रेरणा देनेवाली शक्ति, अलङ्कार, शृङ्गार रस और नायिका-भेद आदि आधार हो जाते हैं। इन्हीं प्रेरणाओं से उत्पन्न काव्य, रीतिकाव्य कहलाता है। इस काव्य की कुछ प्रवृत्तियाँ हैं। इन प्रवृत्तियों को निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(१) अलौकिक शृङ्गार की व्यञ्जना — शृङ्गार वर्णन रीतिकाल का प्रमुख विषय है। शृङ्गारिकता की प्रवृत्ति रीति काव्य में सर्वत्र पायी जाती है। प्रायः सभी कवियों ने प्रेम की घोर वासनापूर्ण रचना की। भक्ति की ओट में इन्होंने लौकिक शृङ्गार को व्यक्त किया। भक्तिकाल के अलौकिक कृष्ण और उनकी अलौकिक प्रेमिका राधा इस युग में अपनी अलौकिकता से अलग हटकर लौकिक धरातल पर उतर गई। इस सिद्धान्त को रीतिकालीन कवियों ने इस प्रकार स्पष्ट कर दिया।

> आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई,
>
> नतु राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

लक्षण ग्रन्थों में यह भी कहा गया कि नायक होने योग्य और कोई नहीं, कृष्ण ही है। ठीक इसी प्रकार नायिका होने योग्य राधा या गोपी हैं। इन कवियों का मुख्य विषय नायिका-भेद, अलङ्कार आदि का लक्षण प्रस्तुत करना, नख शिख वर्णन आदि हैं। मुख्य विषय चाहे जो कुछ भी हो, उन्होंने उसके माध्यम से शृङ्गारिकता का ही प्रतिपादन किया।

शृङ्गार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग का बड़ा सुन्दर चित्रण इस युग में हुआ। संयोग में दर्शन, श्रवण, स्पर्श, सलाप आदि के चित्रण बड़े ही प्रभावक बन पड़े हैं। बिहारी का यह दोहा संयोग की मार्मिकता का पोषण करने में समर्थ है—

> बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
>
> सौंह करैं भौंहन हँसैं, दैन कहैं नटि जाय॥

प्रेमी के स्पर्श से बड़ा अधिक सुख मिलता है। इस स्पर्श से अंग-अंग रोमांचित हो जाता है। पूरे शरीर में सनसनी हो जाती है। हृदय में गुदगुदी होने लगती है। इन प्रभावों का दिग्दर्शन देव की कविता कराती है...

'स्वेद बढ्यो तन, कंप उरोजनि, आँखिन आँसू, कपोलनि हाँसी।

शृङ्गार काल के कवियों ने रूप वर्णन तथा नायिकाओं के व्यंग प्रहार का भी वर्णन अपने काव्य में सफलतापूर्वक किया है। इनकी नायिकाएँ अपने प्रेमी की आँखों में उसकी दूसरी प्रेमिका की मूर्ति तक भी देख लेती हैं। नयनों के कटाक्षों और चंचलता का जितना सुन्दर वर्णन रीतिकाल में हुआ है उतना शायद ही और किसी काव्य में हुआ हो।

शृङ्गारिकता का दूसरा पक्ष वियोग है। वियोग की दस दशाएँ होती हैं। रीतिकालीन साहित्यकार ने मान, प्रवास, पूर्व राग आदि सभी दशाओं का चित्रण किया है। बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर सबों ने वियोग दशा का मनोमुग्धकारी वर्णन किया है। नायिका के मानसिक कष्टों का चित्रण देव ने बड़ी बारीकी से किया है—

साथ में राखिबे नाथ उन्हें,
हम हाथ में चाहती चार चुरी हैं॥

इस उक्ति में कितनी असमर्थता, कितना दैन्य, कितना विषाद और कितनी विवशता भरी है?

वियोग चित्रण को इस काल के कवियों ने इतना अतिशयोक्तिपूर्ण कर दिया है कि उसकी स्वाभाविकता पर विश्वास करना कठिन हो जाता है। बिहारी के इस दोहे में चमत्कार, अतिशयोक्ति, सूक्ष्मता सब कुछ है, पर अस्वाभाविकता के कारण यह चित्र हमें बहुत समय तक मुग्ध नहीं रखता —

इत आवत, चलि जात उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ॥

इस प्रकार शृङ्गारिकता से परिपूर्ण काव्य हिन्दी साहित्य को पूर्ण शृङ्गारिक बना देता है। यही शृंगारिकता इतनी आगे बढ़ जाती है कि कुछ आलोचकों को यह कहना पड़ता है कि 'यदि रीति काल को हिन्दी साहित्य से निकाल दिया जाय तो कोई हानि नहीं होगी।' रीति काल के नग्न तथा वासनामय चित्रों और वर्णनों को देखकर ही उक्त मत हमारे आलोचकों ने व्यक्त किये।

(२) लक्षण ग्रन्थों की रचना—रीति काल की दूसरी प्रवृत्ति लक्षण ग्रन्थों की रचना है। लक्षण ग्रन्थों में रीतिकालीन कवियों ने काव्यांगों के लक्षण गिनाये। अलंकार, छन्द और रस आदि की परिभाषा देकर उन्हें पुष्ट करने के लिए इन साहित्यकारों ने अपने उदाहरण दिये।

संस्कृत साहित्य में भी आचार्यों ने काव्यांग निरूपण किये। उन्होंने अलंकार और छन्द आदि की परिभाषाएँ दीं और उन्हें किसी के उदाहरण से स्पष्ट भी कर दिया। रीतियुगीन कवियों ने भी इसी परम्परा का पालन किया पर अपने

रूप में। रीति मुक्त कवियों को छोड़कर प्राय इस काल के सभी कवियों ने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया। रीतिबद्ध कवियों ने तो सीधे रूप में लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये। रीतिसिद्ध कवियों ने केवल उदाहरण जुटाये।

कहा जाता है कि हिन्दी के कवियों पर संस्कृत के आचार्यों की छाप है। हो सकता है, किन्तु संस्कृत के आचार्यों और हिन्दी के आचार्यों में पूर्ण भेद है। कवि कर्म और आचार्य कर्म में भेद करके संस्कृत के शास्त्रकर्ता चले हैं। हिन्दी में उन्हीं गया वही। यहाँ लक्षण के लेखकों ने स्वतः अपनी कविता से ही लक्षण ग्रन्थ भरे हैं, ऐसी प्रवृत्ति संस्कृत साहित्य में कम थी।

आचार्य केशव ने सर्वप्रथम काव्यांग निरूपणकर आचार्य-पद की शोभा बढ़ायी। आचार्य केशव ने यद्यपि शास्त्रीय पद्धति पर रचना की तथापि काव्यांग निरूपण तथा लक्षण-ग्रन्थ प्रस्तुत करने की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली। यह परम्परा लगातार दो सौ वर्षों तक चलती रही। कुछ कवियों को छोड़कर अधिकांश ने रस, अलंकार और रस का निरूपण करने के लिए काव्य रचना की। इस प्रकार के लक्षण ग्रन्थों में 'कवि-प्रिया', 'रसिक-प्रिया', 'कविकुल कल्पतरु', 'काव्य सरोज', 'काव्य निर्णय', 'रस-सारांश' आदि प्रमुख हैं।

आचार्य केशव, चिंतामणि, भिखारीदास, मतिराम आदि लक्षण-ग्रन्थकारों के अतिरिक्त कुछ रीतिमुक्त और रीतिसिद्ध कवियों ने भी इस परम्परा पर परोक्ष रूप से लिखा है। इन्होंने लक्षण नहीं दिये केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किये।

(३) मुक्तक रचना :—रीतिकालीन कवियों ने प्रबन्ध काव्य-परम्परा और शैली से अपना पिण्ड छुड़ा लिया। कृष्ण की सारी लीला अधिकतर मुक्तक गीतों में गाई गई। राजदरबारी वातावरण में मुक्तक काव्य शैली अधिक अनुकूल पड़ी। वह समय प्रबन्ध काव्य निर्माण के लिये सर्वथा अनुपयुक्त था। इसी परिस्थिति का अध्ययन कर रीतिकालीन कवियों ने कृष्ण के प्रेम का वर्णन मुक्त रूप में किया। कहीं उनकी रासलीला का वर्णन है तो कहीं उनके रूप-साम्य का। स्फुट दोहों और कवित्तों में प्रेम की विभिन्न स्थितियों का रसात्मक चित्रण मुक्तक काव्य से ही सम्भव था। रीतिकाल में आश्रयदाताओं को प्रबन्ध काव्य पढ़ने के लिए अवकाश ही नहीं था। लम्बे-लम्बे वर्णनों को सुनने या पढ़ने के लिए उनमें धैर्य की मात्रा भी नहीं थी। दूसरी तरफ कवियों की शक्ति और क्षमता भी प्रबन्ध काव्य के लिए उपयुक्त नहीं थी। प्रबन्ध काव्यों के लिये निरन्तर एकरसता और धैर्य की आवश्यकता होती है। ये दोनों गुण न तो उस समय के कवि में थे और न उनके श्रोताओं में। इन्हीं कारणों से मुक्तक काव्य की रचना हुई।

कम समय में मनोनुकूल भावों की सृष्टि मुक्तक काव्य से हो सकती है। इसमें रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल जाती है। आलोच्य काल के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की हृदयकली खिलानी चाही और मुक्तक छन्दों की रचना कर अपने इस उद्देश्य की पूर्ति की। यही प्रवृत्ति प्रायः सभी कवियों में पाई जाती है। भक्ति और नीति के विचारों को भी इस युग में मुक्तक रूप में व्यक्त किया गया। मुक्तक काव्य पद्धति के अतिरिक्त रीतिकाव्य में कुछ प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये, पर ये काव्य असफल सिद्ध हुये।

(४) प्रकृति का उद्दीपनगत चित्रण :—रीतिकाल में प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण न होकर आलम्बनगत या उद्दीपनगत चित्रण हुआ है। प्रेम के भाव को और बढाने के लिए प्रकृति को माध्यम बनाया गया है। संस्कृत साहित्य में प्रकृति के उपकरणों का स्वतंत्र चित्रण हुआ। वाल्मीकि और कालिदास ने प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण किया। रीतिकालीन कवियों का मूल उद्देश्य शृंगार-वर्णन के द्वारा राजाओं को प्रसन्न करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती थी जब विश्व के प्रत्येक रूप का प्रयोग इस उद्देश्य के साधक के रूप में किया जाय। हुआ भी ऐसा ही। इन कवियों ने प्रकृति का चित्रण नायक और नायिका को मानसिक दशा के अनुकूल ही किया है। संयोग में उनका मनोमुग्ध-कारी रूप है और वियोग में विदग्धकारी रूप। पावस में प्रेमी और प्रेमिका का मन खूब रमता है। इस युग के काव्य में यह रमणीयता उभर कर व्यक्त हुई है। विरह का चित्रण तो सचमुच हृदयद्रावक है। रीतिकाल की नायिका को शुभ्र चन्द्रमा भी कसाई का सा कार्य करता हुआ दिखाई देता है। कहा भी गया है—

> ऐरे मति मन्द-चन्द, आवत न तोहि लाज
> होके द्विजराज, काज करत कसाई के।

इसी प्रकार रीतिकालीन नायिका को वियोगावस्था में पपीहे की पी-पी की रट दुखद और कष्टदायक लगती है। उसके लिए चन्दन और चाँदनी आदि भी आग बरसानेवाले लगते है। प्रकृति के ऐसे चित्रणों में सेनापति को बड़ी सफलता मिली है। अन्य कवियों के काव्यों में भी प्रकृति उद्दीपन रूप में दिखलाई देती है।

(५) ब्रजभाषा का प्रयोग :—रीतिकाल की प्रमुख भाषा ब्रजभाषा है। यह भाषा ललित और कोमल है। प्रेम आदि भावों को अत्यन्त कोमल ढंग से व्यक्त करने के लिए यह भाषा ही काफी सफल मानी जाती है।

इस युग की ब्रजभाषा अत्यन्त मधुर और निखरी हुई है। इस युग में यह भाषा बहुत विकसित हुई। इसकी मधुरता और भावप्रवणता की चर्चा करते हुए हम कह सकते हैं कि ऐसी मधुर भाषा हिन्दी साहित्य के और किसी युग में प्रयुक्त नहीं हुई। इसमें कोमल रसों की अभिव्यक्ति की जितनी क्षमता है वह किसी और भाषा में नहीं पाई जाती। इस युग की भाषा अपनी विशेषताओं के कारण ही आधुनिक युग के प्रारम्भिक क्षणों तक के कवियों को आकृष्ट करती रही। भारतेन्दु जैसे कलाकार ने भी ब्रजभाषा के मोह को नहीं छोड़ा।

बिहारी, देव, घनानन्द आदि की भाषा मधुर है। बिहारी की भाषा में अधिक त्रुटियाँ हैं। केशव काव्य के कठिन प्रेत कहलाते हैं। इन कवियों के आधार पर भी रीतिकाल की ब्रजभाषा को हेय नहीं कहा जा सकता। और भाषाओं के सम्मिश्रण में भी यह अपनी मौलिकता रखती है। इनके अतिरिक्त रसखान और घनानन्द की ब्रजभाषा अत्यन्त पुष्ट है। घनानन्द की भाषा तो अर्थ की गम्भीरता से परिपूरित है। इस युग की भाषा की परीक्षा करने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा —

को बिन मोल बिकात नहीं, मनिराम लहे मुसिकानि मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई।

(६) कला की प्रधानता :—यह पहले ही कहा जा चुका है कि रीतिकाल के सभी कवि आश्रय-प्रदत्त थे और उनका मूल उद्देश्य आश्रयदाताओं से यश और अर्थ प्राप्त करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवियों ने अपने सामन्तों की अलंकार तथा व्यंजनापूर्ण शैली में प्रशंसा की। अलंकार और छन्द के प्रति इनका विशेष अनुराग रहा। उक्तिवैचित्र्य या उक्ति चमत्कार के द्वारा पाठक और श्रोता के मन को आकृष्ट कर लेना इस युग के कवियों का लक्ष्य था और यही उनकी सफलता का माप-दण्ड बन गया था। परिस्थिति और जनरुचि के अनुसार कवियों को कलापूर्ण तथा बाह्य आकर्षणों से युक्त रचना करनी ही पड़ी। राजदरबारी कवियों को अपने काव्य को कृत्रिम भड़कीले रंगों में रंगना पड़ा। कविता-कामिनी की शोभा बढ़ाने के सभी साधन जुटाये गये। चमत्कार-मूलक अलंकारों, शैलियों एवम् शब्दों को कवियों ने अपने काव्य का साधन बनाया। चमत्कार-मूलक अलंकारों में श्लेष, यमक और अनुप्रास का अधिकांश प्रयोग हुआ।

अपने काव्यों को शोभावान बनाने के लिये बिहारी और केशव को तरह-तरह की कारीगरी करनी पड़ी। कहीं शब्दों का गठन ऐसा हुआ जिससे चमत्कार पैदा होता है तो कहीं अलंकारों का ऐसा प्रयोग हुआ है जिससे रोमांच

और शृङ्गारिकता का पोषण होता है। बिहारी ने आँखों के वर्णन में भी ऐसी कला दिखलाई है जो प्रत्येक पाठक को विस्मित कर देती है।

(७) नारी के मादक रूप का चित्रण—रीतिकाल अपनी मादकता के लिये प्रमुख है। नारी का मादक स्वरूप सबको मस्त कर देनेवाला स्वरूप है। भक्तिकाल में नारी के आदर्श, मातृ एवम् पत्नी-स्वरूप का चित्रण हुआ। रीतिकाल में नारी का यह स्वरूप उपयुक्त और प्रभावक नहीं रह गया। इस युग की मुख्य प्रवृत्ति शृङ्गारिकता का पोषण तभी हो सकता था जब नारी के वासनामय स्वरूप का चित्रण हो। इसी परिस्थिति में बिहारी, देव, घनानन्द, मतिराम आदि कवियों ने नारी के नग्न स्वरूप का वर्णन किया। इन कवियों को यह बतलाना था कि नारी भोग-विलास का उपकरण मात्र है। कवि ने नारी के देवी, मातृ, दुहिता, पत्नी आदि स्वरूपों की ओर न देखकर प्रेमिका स्वरूपों की ओर ही देखा। इस युग की नारियाँ प्रेमी के प्रति सुकुमार प्रेम-भाव ही व्यक्त करती हैं। प्रेमी भी उनके शारीरिक सौन्दर्य से रीझता है। प्रेमिकाएँ अपने पुत्र की हथेली में भी प्रेमी का ही प्रतिबिम्ब देखती हैं। पद्माकर की गोपिया कृष्ण से कहती हैं :—

'नैन नचाय कह्यो मुसुकाय, लला फिर आइयो खेलन होरी'। नारी का ऐसा ही चित्रण रीतिकालीन काव्य में किया गया है। रीतिमुक्त कवियों ने भी नारी के विलासी रूप में गोता लगाया है।

(८) संकुचित जीवन दर्शन—रीतिकाव्य में मानव जीवन के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का सर्वथा अभाव है। उस युग के कवियों को अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा के अतिरिक्त जीवन की ओर देखने का अवसर ही नहीं मिला। कवियों ने जीवन का एक ही पक्ष लिया और वह है—प्रेम। इस पक्ष के अतिरिक्त भक्ति और नीति की ओर भी कुछ कवियों ने दृष्टि डाली है, पर भक्ति और नीति के चित्रण में भी प्रेम की छाप दिखलायी देती है। भूषण की कविता में उत्साह के प्रति भी जागरुकता दिखलायी पड़ती है, पर यह साधारण प्रवृत्ति है। इस युग की मुख्य प्रवृत्ति जीवन की मस्ती का वर्णन करना है। जीवन में आये विचित्र घात-प्रतिघात, सुख-दुख आदि भावों का यहां सर्वथा अभाव है।

(९) श्रेष्ठ काव्य रचना—प्रभावकता या रसात्मता काव्य की आत्मा है। जो काव्य पाठकों के मन को मुग्ध कर देता है और उसके भावों को श्रेष्ठकर उसे लोकसामान्य भाव-भूमि पर पहुंचा देता है, वह सर्वश्रेष्ठ काव्य कहलाता है। इस विचार से रीतिकाल का काव्य सफल सिद्ध होता है। इस काव्य में बाहरी अलंकरण की प्रवृत्ति चाहे जितनी हो, इसमें प्रभावकता और भावमयता

की क्षमता सर्वोपरि है। एक छोटे से दोहे में भी इतनी तन्मयता और रोचकता है कि कोई भी पाठक उसे पढ़कर प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। कला और भाव दोनों पक्षों का सुन्दर समन्वय और मणि कांचन संयोग इस युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति जान पड़ती है। किसी भी कवि में असफलता नजर नहीं आती। इसलिये डा० भगीरथ मिश्र जैसे आलोचक और आचार्य विश्वनाथ मिश्र जैसे समालोचक को भी इस युग के श्रेष्ठ काव्यत्व पर श्रद्धा और विश्वास है।

(१०) कवि और आचार्य दोनों बनने की लालसा—रीतिकाल के सभी कवि दो रूपों में हमारे सामने आते हैं। उनका एक रूप कवि का है और दूसरा रूप आचार्य का है। रीतिबद्ध कवियों ने आचार्य की भाँति काव्याङ्ग निरूपण किये हैं और कवियों की भाँति कविताएँ की हैं। आचार्य पद की रक्षा करते हुए उन्होंने साथ ही साथ कवि पक्ष की भी सुरक्षा की है। अलंकारों, रसों एवम् छन्दों की परिभाषा देने के पश्चात् उन्होंने उनके उदाहरण भी स्वरचित कविताओं से ही दिये हैं। चिन्तामणि, मतिराम, देव ने तो ऐसा किया ही है, रीतिमुक्त कवियों ने भी कविता करते समय काव्याङ्गों के प्रति अपनी रुचि दिखलाई है। सभी कवियों की एक ही विचारधारा को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि इस युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति कवि और आचार्य दोनों बनने की लालसा भी थी।

रीतिकाल की उपर्युक्त प्रवृत्तियों का उल्लेख करने के पश्चात् इस युग की विशेषताओं पर भी प्रकाश डालना चाहिये। यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक युग की विशेषताओं में उस युग की प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित होती हैं और उनके अतिरिक्त और भी कुछ आधार होते हैं जिनपर उस युग की विशेषताएँ निर्भर करती हैं। इस तथ्य के आधार पर यहाँ यह कहा जा सकता है कि रीतिकाल की विशेषताएँ उपर्युक्त प्रवृत्तियों के अतिरिक्त निम्नलिखित तथ्यों को भी समेट लेती हैं :—

(१) राज्याश्रित कवि :—हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल में सभी कवि राज्याश्रित थे। भक्तिकाल में आकर सभी कवि स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर हो गये। रीतिकाल में पुनः वीरगाथा काल की परम्परा निभायी गयी। कवि राजदरबारों में रहने लगे। उनका मूल उद्देश्य अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन करना बन गया। इन कवियों को आश्रयदाताओं के ऊपर निर्भर रहना पड़ता था। कभी-कभी तो कवियों को आश्रयदाताओं की खोज में भटकना भी पड़ता था। किसी कारणवश राजा असन्तुष्ट हो जाता था तो कवि को दूसरे राज्य में आश्रय के लिये जाना पड़ता था। प्रसिद्ध कवि बिहारी, देव, भूषण आदि को भी कई आश्रयदाताओं की शरण लेनी पड़ी थी।

(२) नायिकाओं का नख-शिख वर्णन :—रीतिकाल की यह एक विशेषता है कि इस युग में नायिकाओं के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का भी वर्णन हुआ है। यह विशेषता संस्कृत साहित्य में भी पायी जाती है, किन्तु हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने जैसी मौलिकता इस क्षेत्र में दिखलाई वैसी संस्कृत साहित्य में नहीं दिखलाई गई। यहाँ नारियों के कटि, मुख, कर्ण, नाक, कपोल, केशपाश, वेणी, वसन, आदि का सविस्तृत वर्णन किया गया है। इस वर्णन में कहीं-कहीं तो संस्कृत और नैतिकता का पालन हुआ है और कहीं कहीं इतना नग्न रूप वर्णन हुआ है कि पाठक को भी आँख मूँदनी पड़ती है। नायिकाओं के नग्न चित्र सचमुच अशिष्टता के द्योतक हैं। आँख तथा नाक की जहाँ सुन्दर अभिव्यक्ति हुई वहाँ रोचकता और चमत्कार का सृजन भी हुआ है। केशव की नायिकाओं का मुख चन्द्रमा के समान है और उनके लोचन मृग के सदृश हैं। इस प्रकार का स्वस्थ रूप वर्णन रीतिकाल को गौरववान करता है। दूसरी तरफ स्त्रियों के अंगों का जहाँ नग्न रूप खड़ा किया गया है, वह अस्वस्थ और अवांछित रूप है।

(३) भक्ति तथा वीरता का वर्णन —रीतिकाल की अतिशय शृंगारिकता में भक्तिभावना का उद्रेक भी होता है। राधा और कृष्ण के प्रेम-वर्णन से राधा और कृष्ण के प्रति भक्ति-भावना जाग्रत होती है। इस बात का संकेत इस छन्द में स्पष्ट है :—

> रीझि है सुकवि जो तो जानो कविताई,
> न तो राधिका-गुविंद सुमिरन को बहानो है।

ग्वाल कवि ने भी राधा कृष्ण से क्षमा-याचना की है। यह याचना भक्ति-भाव को पुष्ट करती है।

भक्ति की इस पतली रेखा को हम एक विशेता अवश्य मानते हैं किन्तु इसके आधार पर रीतिकाल के काव्य को भक्तिप्रधान काव्य नहीं कह सकते।

भक्तिभाव के अतिरिक्त इस युग में वीरता तथा उत्साह का भी वर्णन हुआ। भूषण ने छत्रसाल-शिवाजी की वीरता का उल्लेख किया। औरंगजेब के अत्याचार से ऊबकर शिवाजी, छत्रसाल, जसवन्त सिंह आदि वीर अपने देश की रक्षा के लिये तत्पर हो उठे। इन कवियों ने भी इनकी वीरता तथा बहादुरी का वर्णन करना अपना धर्म समझा। इसी धर्म-भाव से प्रेरित होकर भूषण, लाल, सूदन आदि कवियों ने वीर-रस की धारा बहाई।

(४) नीति परक विचार—जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में रहकर कुछ कवियों ने अनुभव अर्जित किये और इन्हीं अनुभवों के आधार पर अपने

नीति परक छन्द लिखे। गिरधर कवि अपनी कुण्डलियों के लिये प्रसिद्ध हैं। शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्गों में इनकी कुण्डलियाँ प्रसिद्ध हैं। ये छन्द एक दूसरे को शिक्षा देने तथा नीति सिखलाने के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। एक उदाहरण से यह उपदेशात्मक और नीतिपरक विशेषता स्पष्ट हो जायेगी।

चिन्ता ज्वाल शरीर बन, दावा लगि-लगि जाय।
प्रगट धुआ, नहिं देखिए, हिय अन्तर धुँधुआय॥

ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ

साईं ऐसे पुत्र से बाँझ रहे बरु नारि
बिगरी बेटे बाप से जाय रहै ससुरारि॥

(५) नायिका-भेद में मौलिकता :—रीतिकाव्य में नायिकाओं के कई भेद बतलाये गये हैं। हिन्दी के इस काव्य में भी पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी, हस्तिनी आदि नायिकाओं के भेद किये गये हैं। मुग्धा, मध्या आदि भेद भी किये गये हैं। इसके अतिरिक्त रूप के आधार पर, गुण के आधार पर भी अनेक भेदोपभेद बतलाए गये हैं। कुछ आलोचकों के अनुसार ये भेद रीतियुगीन कवियों की मौलिक देन है, किन्तु अन्य आलोचकों के अनुसार ये सभी भेद किसी न किसी रूप में संस्कृत साहित्य में वर्णित हैं।

> **रीतिकाल की विशेषताएँ**
> १—शृङ्गारिक भाव, २—लक्षणग्रन्थ, ३—मुक्तक काव्य, ४—माध्यम के रूप में प्रकृति का चित्रण, ५—ब्रज भाषा का प्रयोग, ६—कला की प्रधानता, ७—नारी का शृङ्गारिक चित्रण, ८—जीवन से उदासीनता, ९—श्रेष्ठ काव्य, १०—कवि एवं आचार्य दोनों, ११—राजाश्रित कवि, १२—नायिकाओं का नख-शिख वर्णन, १३—भक्ति तथा वीरता का वर्णन, १४—नीतिपरक विचार, १५—नायिका के विभिन्न भेद, १६—कवित्त और सवैया की प्रमुखता, १७—शास्त्रीय नियमों का वर्णन, १८—छः ऋतुओं का वर्णन।

(६) कवित्त और सवैया शैली :—भक्तिकाल में गेय पदों की प्रधानता रही, रीतिकाल में कवित्त और सवैया को ही प्रधानता मिली। इस युग के कवि अनेक सिद्धान्तों का आश्रय लेकर कवित्त-सवैया और कभी-कभी दोहा के माध्यम से जीवन की अनेक शृङ्गारमयी भावनायें व्यक्त करते रहे। इन्हीं छन्दों में कवियों ने अपने ग्रन्थ लिखे। ये छन्द भक्तिकाल में भी प्रचलित थे, किन्तु इस युग में छन्दों की प्रमुखता रही।

(७) काव्य के शास्त्रीय नियमों की विवेचना :—रीतिकाल की धाराओं-रीति बद्ध और रीतिमुक्त, में रीतिबद्ध धारा के अन्तर्गत संस्कृत के

शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर अलंकार और रस की जैसी विशद विवेचना इस युग में हुई वैसी पूर्व कालों में कभी नहीं हुई। इन्होंने अपने आश्रयदाताओं के यश एवं कीर्ति के वर्णन द्वारा काव्य के शास्त्रीय नियमों का विवेचन करना प्रारम्भ किया। यह काल इस प्रकार हिन्दी साहित्य के एक अङ्ग की पूर्ति करता है। इसने हमें हिन्दी काव्य शास्त्र के नियम दिये।

(८) षड् ऋतु वर्णन —भारत एक विस्तृत देश है। इसकी स्थिति भी विशेष प्रकार की है। इन्हीं कारणों से ऋतुओं के सूक्ष्म अन्तर जितने यहाँ दिखाई पड़ते हैं उतने विश्व के किसी अचल में नहीं। भारत में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर छ ऋतुयें होती है। शृङ्गारकाल या रीतिकाल में षड्ऋतुओं पर पृथक रचायें हुई हैं। यह काल ऋतु वर्णन की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध दिखाई देता है। भिन्न भिन्न ऋतुओं के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार की उक्तियाँ नए-नए चमत्कारों से पूर्ण होकर सामने आई। यह ऋतु वर्णन इस युग की एक प्रमुख विशेषता है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त, भावों की व्यंजना, तीव्रता तथा भाषा-शैली की सरलता इस युग की अन्य विशेषताएं हैं। इस प्रकार प्रवृत्तियों और अन्य विचारों को लेकर यह युग उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त है।

रीतिकाल का प्रवर्तक : केशव या चिन्तामणि :—

रीतिकाल में प्रवर्तन के इतिहास को जानने के पूर्व हमें यह जानना चाहिए कि रीतिकाल का प्रारम्भ कब हुआ। आ० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार रीतिकाल का प्रारम्भ वि० स० १७०० में हुआ। यह काल १७००-१९०० तक प्रचुर और विस्तृत रूप में जनमानस को भाव विभोर करता रहा।

रीतिकाल के प्रवर्त्तक चिंतामणि थे या केशव, इसका समाधान और निराकरण आसान नहीं है। प्रवर्तन कार्य सचमुच महत्वपूर्ण है, किन्तु हम इस महत्व का भागी किसे मानें यह हमारे सामने एक समस्या है। किसी साहित्य धारा का प्रवर्त्तक वही माना जा सकता है, जिसकी साहित्यिक देनो से उस विशिष्ट साहित्यिक धारा का प्रवाह अविछिन्न रूप से चलता रहे। इस दृष्टि से विचार करने पर चिन्तामणि ही रीतिकाल के प्रवर्त्तक माने जा सकते हैं। आ० रामचन्द्र शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा आदि इतिहासकारों ने चिन्तामणि को ही रीतिकालीन साहित्य का प्रवर्त्तक और प्रसारक माना है।

प्रवर्त्तन का अर्थ होता है प्रारम्भ करना। जो सबसे पूर्व किसी परम्परा, किसी विचारधारा या किसी साहित्यिक सरिता का संचालन करता है वह प्रवर्तक कहलाता है। इस मान्यता के आधार पर आ० केशव ही रीतिकाल के

प्रमुख और सर्वप्रथम कवि माने जाते हैं। रीतिकाल की प्रायः सभी प्रवृत्तियाँ और विशेषतायें भक्तिकाल में उत्पन्न आ० केशव की रचनाओं में प्राप्त होती हैं। हिन्दी के ये ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी में लक्षण ग्रन्थों की रचना की। लक्षण ग्रन्थों की सृष्टि रीतिकालीन साहित्य की प्रथम प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति केशव की कविप्रिया और रसिक-प्रिया में सभी रूपों में विद्यमान है। शृङ्गारिकता रीतिकाल की द्वितीय प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति में हमारे केशव पीछे नहीं रहे। इनके अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियाँ भी विस्तृत रूप में कविप्रिया एवं रसिकप्रिया में वर्णित हैं। इन सारी प्रवृत्तियों का धारक साहित्य रीति का नायकत्व और प्रमुखता क्यों नहीं कर सकता ? यदि यह साहित्य रीतिकाल का आधार है तो हमें कहना चाहिए कि आ० केशव ही रीतिकाल के प्रवर्तक हैं।

इतना कहने पर भी हमारी आत्मा तर्कों के अभाव में असन्तुष्ट है। अन्य तर्क भी हमारे मानस पटल पर मंडरा रहे हैं। उन समस्त तर्कों की अभिव्यक्ति परमावश्यक है।

कालक्रम के आधार पर यदि हम इस विवादास्पद प्रश्न का समाधान करें तो हमें यह कहना पड़ेगा कि आ० केशव का प्रादुर्भाव १६ वीं शताब्दी में हुआ था और चिन्तामणि का १७ वी शताब्दी में। अतः आ० केशव का रीतिपरक एवं रीतिसिद्ध काव्य रीतिकाल का प्रारम्भिक काव्य है। जब कालक्रम के विचार से उनका काव्य प्रथम सिद्ध हो जाता है तो वे भी इस साहित्य के प्रवर्तक अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं। फिर भी इतिहासकारों ने इन्हें प्रवर्तक क्यों नहीं माना। इसके पीछे भी कुछ कारण है। इतिहासकारों ने बतलाया है कि जब कोई साहित्यिक प्रवृत्ति एक बार साहित्य में पुस्तकाकार रूप में सामने आ जाती है और फिर मंद पड़ जाती है तब उसे किसी युगका प्रारम्भिक रूप नहीं माना जाता। किसी विशिष्ट प्रकार की रचना अल्प मात्रा में तो प्रायः सभी कालों में हुआ करती है। सभी कालों में विशिष्ट प्रकार की रचना जो अल्पमात्रा में होती है वह उस युग की वाणी नहीं बन पाती और उस युग का नाम भी उस प्रवृत्ति के आधार पर नहीं होता। यही बात आ० केशव के साथ घटित हुई। उन्होंने रीतिपरक रचनायें की जरूर लेकिन उनके बाद कई वर्षों तक इस प्रकार की रचना नहीं हुई। इस प्रकार की रचनायें पुनः १७ वीं शताब्दी से हिन्दी जगत् में आने लगीं। उपर्युक्त मतानुसार ही आ० केशव रीतिकाल के प्रवर्तक नहीं बन सके, बन गये चिन्तामणि। इतना होने पर भी हम यह कह सकते हैं कि भविष्य में यदि अन्वेषक यह बतला दें कि केशव के पश्चात् अबाध रूप से रीतिपरक रचनायें होती रहीं तो यह कहने में किसी को संकोच न होगा कि रीतिकाल के प्रवर्तक केशव ही थे। जब तक इस प्रकार के

खोज-निबन्ध नहीं मिल जाते तबतक तो चिन्तामणि को ही प्रवर्त्तक माना जायेगा।

चिन्तामणि—ये रीतिकाल के दो प्रमुख कवि मतिराम और भूषण के सगे भाई माने जाते हैं। इनका जन्म १६०९ ई० में स्वीकार किया गया है। इनका जन्म स्थान तिकवांपुर (कानपुर) बतलाया जाता है। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। वे शाहजहाँ, रुद्रसिंह, सोलंकी, नागपुर के सूर्यवंशी भोंसला राजा मकरन्द शाह आदि राजाओं के दरबार में राजकवि के रूप में आदर पाते रहे।

प्रामाणिक रूप से उनके ग्रंथों में ६ ग्रन्थों की सूचना मिली है। इन ग्रन्थों के नाम हैं—'काव्य-विवेक, कवि कुलकल्पतरु, काव्यप्रकाश, रामायण, छन्दविचार, पिंगल, रसमंजरी। इनमें से प्रायः सभी (रामायण को छोड़कर) काव्य-शास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं। चिन्तामणि को ख्याति देने वाला ग्रन्थ 'कविकुल-कल्पतरु' है।

चिन्तामणि आचार्य और कवि दोनों माने जाते है। आचार्य शुक्ल ने इन्हें रीतिकाल का प्रवर्त्तक माना है। ये रसवादी कवि माने जाते हैं। इनके काव्य में शृङ्गार रस का विशेष परिपाक देखा जाता है। भाषा-शैली की दृष्टि से इनकी रचनाएँ परिष्कृत हैं।

बिहारी लाल:—बिहारी लाल (सं० १६५२-१७२१) का जन्म ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत बसुआ गोविन्दपुर में कार्तिक शुक्ल ८ बुधवार (सं० १६५२) को हुआ था। उनके पिता का नाम केशवराय था और वह धौम्य गोत्रीय चतुर्वेदी माथुर थे। कहा जाता है कि सं० १६६० में वह अपने पिता के साथ ओरछा गये और वहाँ उन्होंने केशवदास (सं० १६१२-७४) से काव्य-कला की शिक्षा ली। इसके पश्चात् वे केशवदास के साथ ब्रज गये और साहित्य का अध्ययन करने लगे। उस समय उनके परिवार में चार प्राणी थे—बिहारी, बलभद्र, उनकी एक बहन, और उनके पिता केशवराय। बाबा नागरी दास के वह परमभक्त थे और इन्हीं के कहने से उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह कृष्ण मिश्र के साथ कर दिया था। इसी विवाह से कुलपति मिश्र का जन्म हुआ। इस प्रकार अपने पुत्रों और पुत्री का विवाह करने के पश्चात् केशवराय ने वैराग्य ले लिया। पिता के वैराग्य लेने पर बिहारी मथुरा आकर अपने ससुराल में रहने लगे। उनके गुरु बाबा नरहरिदास थे। नरहरिदास बाबा नागरीदास के साथ रहते थे। एक बार जहाँगीर (सं० १६२६-८४) उनसे मिलने वृन्दावन आये। जहाँगीर के पुत्र शाहजहाँ (सं० १६३९-१७१५)

ने उन्हें आगरा बुला लिया। वहीं हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना (स० १६१०-८३) से उनका परिचय हुआ। शाहजहाँ की कृपा से बिहारी को कई राजाओं से वार्षिक वृत्ति मिलती थी। नूरजहाँ की कुचालों से जब आगरा छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा तब बिहारी फिर मथुरा आकर रहने लगे। स० १६६२ में वह वर्षाशन लेने के लिये जयपुर गये। उस समय वहाँ के महाराज जयसिंह (स० १६७६–१७२४) अपनी नव विवाहिता पत्नी के प्रेम में इतने निमग्न थे कि राजकार्य तक नहीं देखते थे। बिहारी ने जब उनका यह हाल देखा तब उन्होंने एक मालिन द्वारा यह दोहा उनके पास भेजा।

'नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली हीं सों बध्यो, आगे कौन हवाल॥'

कहते हैं कि महाराजा ने उक्त दोहे को कई बार पढ़ा और उससे वह इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने राज्य-काज की ओर पुन ध्यान देना आरम्भ कर दिया। चौहानी रानी तो बिहारी के इस कार्य से इतनी प्रसन्न हुई कि उन्होंने उनका चित्र बनवा कर राज-भवन में लगवा दिया। इस घटना के कुछ समय पश्चात् ही रानी अनन्त कुवर के गर्भ से राजकुमार रामसिंह का जन्म हुआ और वही अजमेर की गद्दी के अधिकारी हुए। बिहारी उनके गुरु नियुक्त हुए। इसी समय बिहारी ने सतसई (सं० १७१९) की रचना की। इसकी रचना के पश्चात ही उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। इस घटना का उनपर इतना प्रभाव पड़ा कि वह अजमेर से वृन्दावन चले आये और वहीं उनका स्वर्गवास हुआ।

बिहारी अत्यन्त स्वतन्त्र प्रकृति के कवि थे। उनकी एकमात्र रचना है—'सतसई' जो रीति बद्ध लक्ष्य ग्रन्थ है। उन पर 'आर्या सप्तशती और गाथा सप्तशती' की छाया मात्र है। उसमें कुल ७१९ दोहे सकलित हैं। मुक्तकों में कोई क्रम नहीं होता। इसीलिये 'सतसई में दोहों का कोई निश्चित क्रम नहीं है। कहा जाता है कि सबसे पहले औरंगजेब के पुत्र आजमशाह ने उन्हें क्रमबद्ध कराया था। बिहारी ने किस क्रम से उनको (स० १७६४) क्रमबद्ध कराया था यह अनिश्चित है। आजमशाही क्रम के अनुसार उनके दोहों में नायिका भेद, नख शिख दूती, अभिसार, सौंदर्य षट्ऋतु प्रकृति आदि के वर्णन मिलते हैं। इनके अतिरिक्त उनके कुछ दोहे नीति सम्बन्धी और भक्ति सम्बन्धी भी हैं। इस प्रकार विषय की दृष्टि से, शृङ्गार रस के ग्रन्थों में जितनी ख्याति और जितनी लोक प्रियता उनके दोहों की है उतनी किसी की भी नहीं है। उनका एक दोहा हिन्दी-साहित्य में एक एक रत्न माना जाता है। उनके दोहों के सम्बन्ध में किसी ने यह कहा है—

'सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें, बेधैं सकल शरीर॥

यह उनके काव्य कौशल का प्रमाण पत्र है। वस्तुत: उन्होंने दोहों में गागर में सागर भरा है। उनके दोहों के दो चरण अत्यन्त प्रभावशाली एवम् चमत्कार-पूर्ण हैं।

बिहारी मुख्यत: श्रृङ्गारी कवि हैं। उन्होंने शृङ्गार के संयोग एवं वियोग पक्षों के अत्यन्त सुन्दर और मोहक चित्र उतारे हैं। उनके संयोग के चित्रों में सजीवता और जीवन के उछल-कूद भी है, पर वियोग के चित्रण में उन्होंने चमत्कार, अतिशयोक्ति, सूक्ष्मता एवं सांकेत्य से अधिक काम लेकर कहीं-कहीं खिलवाड भी किया है। उदाहरण के लिये उनका यह दोहा लीजिये :—

इत आवत, चलि जात उत चली छ: सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे-सी रही लगी उसासन साथ॥

कितनी अस्वाभाविक कल्पना है बिहारी के उक्त दोहे में। पर इस प्रकार की कल्पना-शक्ति के साथ-साथ अनुभावों और हावों की सुन्दर योजना में उन्होंने जैसी मधुर कल्पनाएँ की हैं वैसा कोई भी शृङ्गारी कवि नहीं कर सका है। हावपूर्ण चित्र का एक उदाहरण लीजिये :—

'बतरस लालच लालकी मुरली धरी लुकाय।
सौंह करैं भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाय॥

उक्त भाव-व्यंजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तु व्यजना का सहारा भी बहुत लिया है। इसके अन्तर्गत उन्होंने शोभा, सुकुमारता, विरह-ताप, विरह की क्षीणता आदि का वर्णन किया है। विरह की क्षीणता का उदाहरण अन्यत्र दिया जा चुका है। यहाँ शोभा का एक उदाहरण लीजिये :—

'पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहु पास।
नित प्रति पून्योई रहै आनन ओप उजास॥

बिहारी में कल्पना-शक्ति के साथ-साथ समास-शक्ति और उक्ति कौशल भी है। इसलिये उनकी मुक्तक-कला अत्यन्त सफल है। उन्होंने प्रकृति के चित्र भी सफलतापूर्वक उतारे हैं। उनका यह ऋतु-वर्णन अत्यन्त रोचक और भावपूर्ण है। वसन्त के अन्तर्गत फाग और होली तथा हिंडोला का वर्णन भी उनकी रचनाओं में मिलता है। उनके ग्रीष्म, शरद, हेमन्त और शिशिर के वर्णन भी अत्यन्त चुटीले और चमत्कारपूर्ण हैं। नीति और भक्ति के दोहे भी उन्होंने लिखे हैं। इससे स्पष्ट है कि उनकी काव्य-प्रतिभा बहुमुखी थी। काव्य-कला के भी वह पण्डित थे। उनका एक भी दोहा ऐसा नहीं है जो अलकार-शून्य हो। कई दोहों

में उन्होंने कई अलंकारों का एक साथ समावेश किया है। उनकी अलंकार-योजना में अन्योक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, उन्मीलन, विरोधाभास, श्लेष, उपमा रूपक, असंगति, आदि अलंकार मिलते हैं। इन अलंकारों का प्रयोग उनकी रचनाओं में अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से हुआ है। केवल शब्द-वैचित्र्य के लिये उन्होंने कम दोहे लिखे हैं।

बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है। वह चलती हुई होने पर भी साहित्यिक है। उसमें वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। उसमें शब्दों का तोड़-मरोड़ भी है। उस पर फारसी का भी प्रभाव है। कुछ उदाहरण लीजिये :—

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोई।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित-दुति होई॥
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैनन ही सब बात॥

रीतिकालीन साहित्य में बिहारी का स्थान

रीतिकाल हिन्दी-काव्य का शृङ्गारकाल कहा जाता है। इस युग में शृङ्गार की प्रधानता अवश्य रही पर कुछ ऐसे भी कवि इस युग में आये जिन्होंने केवल शृङ्गार का ही चित्रण नहीं किया वरन् जीवन को भी महत्वपूर्ण और काव्य को भी महान बनाया।

बिहारी रीतिकाल के ही नहीं बल्कि हिन्दी जगत् के भी एक प्रसिद्ध और विशिष्ट कवि हैं। रीति-परम्परा से उन्मुक्त होकर भी इन्होंने जैसे काव्य का प्रणयन किया वैसा काव्य रीतिकाल के ही नहीं बल्कि अन्य युगों के कवियों से भी सृजित नहीं हो सका। यश और कीर्ति संख्या में नहीं वरन् कृति में निहित होती है। बिहारी ने 'सतसई, में संग्रहीत कुछ दोहों की ही रचना की। फिर भी उन दोहों में वे अमर हैं और उनकी कोटि में दूसरे कवि नहीं रखे जा सकते। जीवन के अनुभवों को इन्होंने अपने दोहों में पिरो दिया। एक माला का सौन्दर्य विभिन्न दानों को पिरोने की कुशलता में निखर उठता है। बिहारी ने भी अपने विचार रूपी दानों को काव्य रूपी माला में पिरो दिया है। इन्होंने बड़े से बड़े भाव को भी सूक्ष्म और छोटे से छोटे रूप में व्यक्त किया है। आलोचकों को यह कहना पड़ा "बिहारी ने गागर में सागर भर दिया है।" इस मत को हम इस रूप में व्यक्त कर सकते हैं—

'बिहारी ने बूँद में समुद्र भर दिया है।'

जीवन को मंगलमय बनाने में बिहारी का बहुत बड़ा महत्व है। इनके नीति परक दोहों में हम मानवों को अमरत्व का संदेश मिलता है। जीवन को सुख-पूर्वक सचरित करने में इनके उपदेश काफी सफल सिद्ध हुए हैं। प्रेम की इतनी सुन्दर अभिव्यक्ति किसी अन्य काव्य में नहीं हुई है। प्रेम जीवन को आनन्दित करने वाला गुण है। लेकिन इसका स्वभाव भी बड़ा विचित्र होता है। प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में की है—

"दृग उरझत टूटत कुटुम्ब, जुरत चतुर चित प्रीति,
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति।"

बिहारी के व्यंग चित्र असख्य भूले-भटके मनुष्यों को भी सद्पथ पर लाने में समर्थ हैं। इनके व्यंगात्मक प्रभाव से बड़े बड़े गर्वप और व्यसन में फंसे हुए सम्राट भी अच्छे पथ पर आ सकते हैं। जयसिंह इनके आश्रयदाता थे। जयसिंह के भय से पूरा साम्राज्य थर्राता था। किसी को भी साहस नहीं हो रहा था कि वह उनकी विलासिता को भंग कर सके। स्वाभिमानी और ज्ञान-सम्पन्न कविवर बिहारी ने उन्हें एक ही दोहे से प्रभावित कर दिया और उन्हें विलासिता से विमुख कर दिया। वह दोहा निम्नलिखित है—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास एहि काल,
अली कली ही सों बघों, आगे कौन हवाल।"

इस दोहे का प्रभाव आज भी शृङ्गार में डूबे हुए व्यक्ति पर पड़ सकता है। इनके द्वारा वह कर्तव्य-पथ पर आ सकता है। इस प्रकार बिहारी का लोकपक्ष अत्यन्त श्रेष्ठ और महान है। उनके विचारों में जहां एक तरफ उपदेशात्मकता है वहीं दूसरी तरफ शृङ्गारिकता भी। इनकी शृङ्गारिकता नग्न शृंगारिकता नहीं बल्कि बड़ी मनोरंजक और भावानुकूल शृंगारिकता है। गोपिकायें कृष्ण से बात करने के लिये लालायित हैं। किन्तु इन्हें कोई रास्ता नहीं मिलता। वे स्वयं रास्ता बना लेती हैं और हाव-भाव से कृष्ण को रिझाती हैं।

"बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय,
सौंह करें भौंहनि हँसै, दैन कहैं नटि जाय।"

इसमें राधा और कृष्ण की कितनी सुन्दर प्रेमाभिव्यक्ति हुई है। इस चित्र में प्रेम के अतिरिक्त भक्ति का भी भाव है। रीतिकाल में जिन कवियों ने लक्षण ग्रन्थ लिखे उनसे ये शृङ्गारिकता में काफी आगे हैं।

जीवन, समाज और राष्ट्र सबकी कार्य कुशलता साहित्य और काव्य पर ही निर्भर किया करती है। बिहारी का काव्य भी समाज, राष्ट्र और युग को उन्नत एवं समुन्नत करने वाला है। इसके द्वारा हमारा मनोरंजन तो होता ही है साथ

ही साथ हमारे धार्मिक विचारों का परिष्कार भी होता है।

बिहारी के कवि कर्म का जहां तक प्रश्न है वहां तक उनके भाव और कला-पक्ष को देखते हुए सभी आचार्यों को यह कहना पड़ा है कि वह केवल देव से ही नहीं बल्कि हिन्दी साहित्य के अन्य कवियों से भी बड़े हैं। भावों की तीव्रता तथा भावों की प्रभावकता इनके काव्य को बहुत ही श्रेष्ठ बना देती है। सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव को भी इन्होंने अपने दोहों में चित्रित किया है।

"अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान
वह चितवनि औरे कछू, जिहि बस होत सुजान।"

इसमें निहित अतिशयोक्ति और भावों की अभिव्यंजना सचमुच अनुपम और अतुलनीय है। शब्दों पर बिहारी का मानों अधिकार सा हो गया है। प्रत्येक शब्द में एक गहरा भाव छिपा रहता है। अंग प्रत्यगों पर भी इन्होंने अपने भाव व्यक्त किये हैं, पर उनकी अभिव्यक्ति में नायिकाओं का नग्न अंग चित्रित नहीं हुआ है। अलंकारों में उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति आदि सभी अलंकारों का समावेश हुआ है।

बिहारी की शैली समासप्रधान शैली है। इस शैली में बड़े से-बड़े और लम्बे-से-लम्बे भाव को भी संक्षिप्त कर दिया जाता है। इसी शैली के द्वारा बिहारी ने अपने काव्य में नवीन, मनोरंजक और प्रभावक भावों को सन्नियोजित किया है।

बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है। किन्तु यह भाषा केशव दास जैसी न होकर सरल और सुगम है। कहीं कहीं संस्कृत और अन्य भाषाओं के शब्द भी आ गये हैं। व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ कहीं कहीं हैं। इन सभी कमियों के रहते हुए भी इनके काव्य की सरसता एवं मोहकता हिन्दी जगत् में बिहारी को महत्वपूर्ण बना देती है।

देवदत्त —देवदत्त अथवा कविदेव (सं० १७३०-१८२४) कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनका जन्म इटावा नगर के पसारी टोला बहलालपुरा में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० बिहारीलाल था। कहते हैं, उन्हें सरस्वती का वरदान था और सोलह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने भावविलास (सं० १७४६) की रचना की थी। आरम्भ में वह औरंगजेब के तृतीय पुत्र आजमशाह (मृ० सं० १७६४) के आश्रित कवि थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनका सम्बन्ध दिल्ली दरबार से छूट गया। उस समय तक वह 'अष्टयाम' की रचना कर चुके थे। आजमशाह ने सं० १७४६ में उनका 'भाव विलास' और 'अष्टयाम' सुना था। दिल्ली से हटने के पश्चात् देवदत्त क्रमश भवानीदत्त वैश्य, फफूँद इटावा-निवासी

कुशलसिंह, राजा उद्योत सिंह, राजा भोगीलाल, पिहानी-निवासी अकबरअली खाँ आदि के आश्रय में रहे। उनकी बनाई हुई ५२ या ७२ काव्य पुस्तकें बताई जाती हैं जिनमें से 'भाव-विलास', 'अष्टयाम', 'भवानी विलास', 'कुशल-विलास' 'प्रेम चन्द्रिका', 'सुजान-विनोद', 'रस-विलास', 'राग-रत्नाकर', 'सुख-सागर तरंग', 'जगद्दर्शन पचीसी', 'आत्मदर्शन पचीसी', 'तत्वदर्शन पचीसी', 'प्रेम पचीसी', 'शृ गार विलासिनी', 'प्रेम तरंग', 'देव चरित्र', 'जाति विलास', 'शब्द रसायन', 'देवमाया प्रपंच विनोद', 'राधिका विलास', 'नख शिख', और 'प्रेम-दर्शन' तथा 'नीति शतक' आदि प्रमुख हैं।

'भाव विलास' में काव्य के विविध अंगों की चर्चा की गयी है और उसमें छः प्रकार के भावों तथा ३० प्रकार के संचारी भावों का उल्लेख है। दो प्रकार के नवीन रसों की उद्भावना भी उसमें मिलती है जिनमें से एक लौकिक है दूसरा अलौकिक। लौकिक रसों के परम्परागत ६ भेद हैं और अलौकिक रस को तीन भागों में विभाजित किया गया है — (१) स्वप्न (२) मनोरथ और (३) उप-नायक। अलंकार कुल २६ हैं। 'सुजान विनोद' नायिका भेद का ग्रन्थ है। 'देव चरित्र' में पौराणिक विषय हैं। 'प्रेमचन्द्रिका' में शृ गार को रसराज माना गया है। 'जाति विलास' में विभिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। 'रसविलास' में कामिनी का वर्णन है। 'राग रत्नाकर' संगीत का ग्रन्थ है। 'शब्द रसायन' में शब्दशक्ति पर विचार किया गया है। तात्पर्य यह कि देव ने अधिकांश शृङ्गार-मयी रचनाएँ की हैं। उनकी कविता में प्रेम की सुकुमार अवस्थायें, मार्मिक अनुभूतियाँ, रस-जनित आनन्द एवं मधुरता का अत्यन्त मनोरम चित्रण मिलता है। आचार्यत्व पक्ष में उन्होंने रसों की और विशेषतः शृङ्गार को रसराज मानकर रस निरूपण किया है।

देवदत्त की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। उन्होंने अपनी भाषा में प्रचलित लोकोक्तियों का प्रयोग अत्यन्त मनोरम ढंग से किया है। विविध छन्दों में ब्रजभाषा का जितना कलात्मक रूप उनकी कविता में मिलता है उतना रीतिकाल के किसी कवि की कविता में नहीं मिलता। अनुप्रास की छटा उनकी भाषा की विशेषता है। उनकी भाषा सरस, प्रसादगुणयुक्त, मधुर प्रभावपूर्ण और स्वाभाविक है। उदाहरण :—

> डार द्रुम पलना, बिछौना नव पल्लव के,
> सुमन झँगुला सोहै तन छवि भारी है॥

देव-बिहारी :—हिन्दी साहित्य में देव और बिहारी पर भी काफी तर्क-वितर्क हुआ है। किसी ने देव को महान सिद्ध किया है तो किसी ने बिहारी को।

मिश्र बन्धुओं ने देव को हिन्दी-साहित्य का श्रेष्ठ कवि सिद्ध किया है। इसके विरोध में पद्मसिंह शर्मा तथा लाला भगवानदीन ने बिहारी को श्रेष्ठ बतलाया है।

अब यह प्रश्न उठता है कि किसे श्रेष्ठ माना जाय। सत्यता तो यह है कि सभी व्यक्तियों की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। सबका अलग-अलग व्यक्तित्व होता है। देव अपने स्थान पर महान हैं तो बिहारी अपने स्थान पर। दोनों के बीच अन्तर तो है ही। यह स्वाभाविक भी है। दोनों को कसौटी पर कसना दोनों के महत्व को समाप्त करना है। दोनों ने शृंगार का श्रेष्ठ वर्णन किया है। देव में विस्तार है तो बिहारी में संकुचन। बिहारी के दोहे देखने में छोटे हैं फिर भी वे हृदय पर सीधे चोट करते हैं। कहा भी गया है—

सतसइया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर॥

देव ने घनाक्षरी और सवैये की रचना की है और बिहारी ने दोहों की। दोनों में भक्ति-भावना की तीव्रता है। नीति और उपदेश में भी दोनों ने समान कार्य किया है।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र के शब्दों में ही दोनों का अलग-अलग महत्व सिद्ध होता है।

"बिहारीलाल की कविता यदि जुही या चमेली का फूल है तो देव की कविता गुलाब या कमल का फूल।" इससे सिद्ध होता है कि दोनों में फूल की कोमलता एवं फूल का सौन्दर्य है। दोनों सुवासित होते हैं। हाँ यह हो सकता है कि किसी को चमेली का फूल अच्छा लगे और किसी को गुलाब का। अच्छे तो दोनों ही है। अच्छाई नापने का कोई ऐसा यन्त्र नहीं है, जिससे नाप-तोल कर यह बताया जा सके कि किसकी अच्छाई कितनी डिग्री की है।

मतिराम:—मतिराम रीतिकाल के प्रतिभासम्पन्न एवं ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनके जीवन का विस्तृत वर्णन 'हिन्दी नवरत्न' में मिलता है। इनका जन्मकाल १६०३ ई० माना जाता है। प्रसिद्ध कवि मतिराम उत्तर-प्रदेश के कानपुर जिले में स्थित टिकमापुर के निवासी और प्रसिद्ध कवि चिन्तामणि और भूषण के भाई थे। मतिराम ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपना परिचय नहीं दिया है, अतः इनके जन्मकाल और इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

मतिराम का अधिकांश समय बूँदी दरबार में व्यतीत हुआ। वहाँ के हाड़ा राजाओं की वीरता और उनके चरित्र का वर्णन इन्होंने अपने अलंकार ग्रन्थ 'ललित ललाम' में किया है। इस पुस्तक में जिन राजाओं के नाम वर्णित हैं वे निम्नलिखित हैं—

राव सुरजन, राव राजाभोज, राव रतनसिंह, महाराज छत्रसाल और दीवान भावसिंह। इनके ग्रन्थों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं :—

साहित्यकार, लक्षणश्रृङ्गार, ललितललाम, फूलमंजरी, मतिराम सतसई, रसराज। रसराज रसिकजनों का कण्ठहार है। इसमें जिन भावों के वर्णन हुए हैं वे प्रधानतया किशोर एवं युवावस्था से सम्बन्ध रखते हैं। यह श्रृङ्गार रस और नायिका-भेद पर लिखा गया ग्रन्थ है। ललितललाम भावसिंह के आश्रय में लिखा गया अलंकार-ग्रन्थ है।

मतिराम का रीतिकालीन कवियों के बीच अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान है। हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत वे उच्च प्रतिभासम्पन्न कवि माने जाते हैं। अपने उदाहरणों में मतिराम ने अपना काव्य-कौशल भरपूर दिखाया है। बिहारी की भाँति दूर की कौड़ी लाने और वचनों की विचित्रता में वह इतने निपुण नहीं हैं जितने अपने वचनों की सरसता और स्वाभाविकता में। कहीं-कहीं उन्होंने बहुत फड़कते हुए भाव प्रदर्शित किये हैं। उनकी रचनाओं में व्यर्थ का आडम्बर नहीं है, वे रस के सहायक और परिपोषक मात्र हैं। उनकी भाषा व्रजभाषा है, जिसमें प्रसाद और माधुर्य गुणों की प्रधानता है। मधुर शब्दों का प्रयोग उन्होंने प्राय सबसे अच्छा किया है। भाषा के माधुर्य के साथ-साथ अर्थ गाम्भीर्य उनकी रचना का विशेष गुण है। दोहा, कवित्त और सवैया तीन छन्दों का प्रयोग उन्होंने किया है।

इनके काव्य-गुण में व्रजभाषा की सरलता, कल्पना की अधिकता, सूक्ष्म-भावों की सरसता, मधुर वर्णन आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी मृत्यु सन् १७१६ई० में हुई, ऐसा माना जाता है। किन्तु यह समय अप्रामाणिक ही जान पड़ता है, क्योंकि इतनी लम्बी उम्र प्राप्त करना असम्भव ही लगता है। १०० वर्ष से भी अधिक आयु प्राप्त करने की सूचना कहीं नहीं मिलती है। इनकी भाषा का उदाहरण निम्नलिखित छन्द के द्वारा दिया जा सकता है—

> एकहि भौन दुरे इक संग ही, अंग सों अंग छुवायो कन्हाई।
> कंप छुट्यो, घन स्वेद बढ्यो, तनु रोम उठ्यो, अँखिया भरि आई॥
> कुन्दन को रंग फीको लगे, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
> आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु विलासन की सरसाई॥
> को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसकानि मिठाई॥

इस उदाहरण से मतिराम की श्रृङ्गारिक प्रवृत्ति और उनकी कल्पनाप्रियता का प्रमाण मिल जाता है।

भूषण :—भूषण (सं० १६७०-१७७२) का वास्तविक नाम क्या था, इसका पता नहीं। इनके बड़े भाई का नाम चिंतामणि त्रिपाठी था और पिता

मिश्र बन्धुओं ने देव को हिन्दी-साहित्य का श्रेष्ठ कवि सिद्ध किया है। इसके विरुद्ध में पद्मसिंह शर्मा तथा लाला भगवानदीन ने बिहारी को श्रेष्ठ बतलाया है।

अब यह प्रश्न उठता है कि किसे श्रेष्ठ माना जाय। वास्तव तो यह है कि सभी व्यक्तियों की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। सबका अपना-अपना व्यक्तित्व होता है। देव अपने स्थान पर महान हैं तो बिहारी अपने स्थान पर। दोनों के बीच अन्तर तो है ही। यह स्वाभाविक भी है। दोनों को कसौटी पर कसना दोनों के महत्व को समाप्त करना है। दोनों ने शृंगार का श्रेष्ठ वर्णन किया है। देव में विस्तार है तो बिहारी में गठुपन। बिहारी के दोहे देखने में छोटे हैं फिर भी वे हृदय पर सीधे चोट करते हैं। कहा भी गया है—

सतसइया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर॥

देव ने घनाक्षरी और सवैये की रचना की है और बिहारी ने दोहों की। दोनों में भक्ति-भावना की तीव्रता है। नीति और उपदेश में भी दोनों ने समान कार्य किया है।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र के शब्दों में ही दोनों का अलग-अलग महत्व सिद्ध होता है।

"बिहारीलाल की कविता यदि जुही या चमेली का फूल है तो देव की कविता गुलाब या कमल का फूल।" इससे सिद्ध होता है कि दोनों में फूल की कोमलता एवं फूल का सौन्दर्य है। दोनों सुवासित होते हैं। हाँ यह हो सकता है कि किसी को चमेली का फूल अच्छा लगे और किसी को गुलाब का। अच्छे तो दोनों ही हैं। अच्छाई नापने का कोई ऐसा यन्त्र नहीं है, जिससे माप-तौल कर यह बताया जा सके कि किसकी अच्छाई कितनी डिग्री की है।

मति राम :—मतिराम रीतिकाल के प्रतिभासम्पन्न एवं ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनके जीवन का विस्तृत वर्णन 'हिन्दी नवरत्न' में मिलता है। इनका जन्मकाल १६०३ ई० माना जाता है। प्रसिद्ध कवि मतिराम उत्तर-प्रदेश के कानपुर जिले में स्थित टिकमापुर के निवासी और प्रसिद्ध कवि चिन्तामणि और भूषण के भाई थे। मतिराम ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपना परिचय नहीं दिया है, अतः इनके जन्मकाल और इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

मतिराम का अधिकांश समय बूँदी दरबार में व्यतीत हुआ। वहाँ के हाड़ा राजाओं की वीरता और उनके चरित्र का वर्णन इन्होंने अपने अलंकार ग्रन्थ 'ललित ललाम' में किया है। इस पुस्तक में जिन राजाओं के नाम वर्णित हैं वे निम्नलिखित हैं-

राव सुरजन, राव राजाभोज, राव रतनसिंह, महाराज छत्रसाल और दीवान भावसिंह। इनके ग्रन्थों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं :—

साहित्यकार, लक्षणशृङ्गार, ललितललाम, फूलमंजरी, मतिराम सतसई, रसराज। रसराज रसिकजनों का कण्ठहार है। इसमें जिन भावों के वर्णन हुए हैं वे प्रधानतया किशोर एवं युवावस्था से सम्बन्ध रखते हैं। यह शृङ्गार रस और नायिका-भेद पर लिखा गया ग्रन्थ है। ललितललाम भावसिंह के आश्रय में लिखा गया अलंकार-ग्रन्थ है।

मतिराम का रीतिकालीन कवियों के बीच अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान है। हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत वे उच्च प्रतिभासम्पन्न कवि माने जाते हैं। अपने उदाहरणों में मतिराम ने अपना काव्य-कौशल भरपूर दिखाया है। बिहारी की भाँति दूर की कौड़ी लाने और वचनों की विचित्रता में वह इतने निपुण नहीं हैं जितने अपने वचनों की सरसता और स्वाभाविकता में। कहीं-कहीं उन्होंने बहुत फड़कते हुए भाव प्रदर्शित किये हैं। उनकी रचनाओं में व्यर्थ का आडम्बर नहीं है, वे रस के सहायक और परिपोषक मात्र है। उनकी भाषा व्रजभाषा है, जिसमें प्रसाद और माधुर्य गुणों की प्रधानता है। मधुर शब्दों का प्रयोग उन्होंने प्रायः सबसे अच्छा किया है। भाषा के माधुर्य के साथ-साथ अर्थ गाम्भीर्य उनकी रचना का विशेष गुण है। दोहा, कवित्त और सवैया तीन छन्दों का प्रयोग उन्होंने किया है।

इनके काव्य-गुण में व्रजभाषा की सरलता, कल्पना की अधिकता, सूक्ष्म-भावों की सरसता, मधुर वर्णन आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी मृत्यु सन् १७१६ई० में हुई, ऐसा माना जाता है। किन्तु यह समय अप्रामाणिक ही जान पड़ता है, क्योंकि इतनी लम्बी उम्र प्राप्त करना असम्भव ही लगता है। १०० वर्ष से भी अधिक आयु प्राप्त करने की सूचना कहीं नहीं मिलती है। इनकी भाषा का उदाहरण निम्नलिखित छन्द के द्वारा दिया जा सकता है—

> एकहि भौन दुरे इक संग ही, अंग सों अंग छुवायो कन्हाई।
> कंप छुट्यो, घन स्वेद बढ्यो, तनु रोम उठ्यो, अँखिया भरि आई॥
> कुन्दन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
> आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई॥
> को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहे मुसकानि मिठाई॥

इस उदाहरण से मतिराम की शृङ्गारिक प्रवृत्ति और उनकी कलानाप्रियता का प्रमाण मिल जाता है।

भूषण :—भूषण (सं० १६७०-१७७२) का वास्तविक नाम क्या था, इसका पता नहीं। उनके बड़े भाई का नाम चिन्तामणि त्रिपाठी था और पिता

का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। उनका जन्म तिकवाँपुर जिला कानपुर में हुआ था और वह कश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि उनके समय में उनका गाँव विद्वानों का केन्द्र था। इसलिये अपने शैशव काल में भूषण ने उनके सम्पर्क से विशेष प्रेरणा ग्रहण की और कविता करने लगे। वे रीतिकालीन शृङ्गार के भावों के समर्थक नहीं थे। उनके सामने राष्ट्र का प्रश्न था। छत्रपति शिवाजी और पन्ना नरेश छत्रसाल बुंदेला की वीरता की और उनकी राष्ट्रप्रियता की कहानियाँ उनके कानों तक पहुँच चुकी थीं। बूँदी नरेश राव अथवा छत्रसाल हाडा छत्रपति शम्भाजी, छत्रपति शाहूजी, मुगल सम्राट औरंगजेब, चित्रकूट पति हृदयराम, सोलंकी कुमाऊँ-नरेश, उद्योत चन्द्र, गढ़वा, श्री नगर नरेश फतहशाह (१७४१-७३) रीवा नरेश अवधूत सिंह (सं० १७५७ १८१२, जयपुर नरेश सवाई सिंह (सं० १७५६-१८१३,) दिल्ली नरेश जहाँगीर शाह (सं० १७६६ ७०), असोथर नरेश भगवन्तराय (स १७७०-९७) आदि से उनका परिचय था और उनमें अधिकांश उनके आश्रयदाता थे। कहा जाता है कि वे छत्रपति शिवाजी से मिले थे और उनके साथ रहकर सं० १७३१ में अपने गाँव आये थे। इसी प्रकार यह भी प्रसिद्ध है कि सं० १७५५ में चित्रकूट पति हृदयराम सोलंकी ने उनकी रचनाओं से प्रभावित होकर उन्हें 'भूषण' की उपाधि दी थी। शिवाजी से उनका परिचय सर्वप्रथम (सं० १७२३) में हुआ था। उस समय भूषण अपने भाई चिन्तामणि के पास गये थे। चिन्तामणि औरंगजेब के आश्रित कवि थे। और उन्हीं के द्वारा भूषण को मुगलदरबार में प्रवेश मिला था। जयपुर नरेश सवाई जयसिंह के प्रयत्न से ही शिवाजी दिल्ली दरबार में गये थे और बन्दी बना लिए गये थे। उनकी वीरता और जातीयता से प्रभावित होकर भूषण उनके बन्दी गृह से भागने पर उनके दरबार में चले गये और वहाँ १७३१ तक रहे। इसके पश्चात् उन्होंने कई राज्यों की यात्रा की और शिवाजी के अनुकूल वातावरण तैयार करते रहे एवं शक्ति संगठन करते रहे। उनकी तीन रचनायें मिलती हैं—(१) शिवराज भूषण, (२) शिवाबावनी और (३) छत्रसाल दशक।

भूषण रीतिकालीन परम्परा में होते हुए भी उसकी भाव धारा से प्रभावित नहीं थे। उनके आदर्श थे—छत्रपति शिवाजी और छत्रसाल बुँदेला, जो उस समय औरंगजेबी अत्याचारों के विरुद्ध अपनी तलवारें सौंत कर खड़े हो गये थे। इसलिए उनकी कविता, आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में 'कवि-कीर्ति' सम्बन्धी एक अविचल सत्य का दृष्टान्त है।' उसमें जनता की आशा-अभिलाषा है, जनता का हृदय है। न जाने कितने कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में गीत गाए हैं, पर उनका आज पता नहीं है। इस दिशा में भूषण अजर अमर हैं। उन्होंने ऐसे समय में अपनी विरोचित रागिनी छेड़ी थी जब हिन्दू जाति पर विपत्ति की

किया। उनके गाने से बादशाह प्रसन्न तो बहुत हुआ, पर उनकी ढिठाई सहन न कर सका। उसने उन्हें नगर से निकाल दिया। जब वह चलने लगे तब उन्होंने सुजान से भी साथ चलने के लिये कहा, पर वह नहीं गयी। इससे वह विरक्त हो गये और वृन्दावन जाकर निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। उनका शेष जीवन वहीं बीता। मरते समय उन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था।

बहुत दिनान की अवधि आस पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठिजान को,
कहि-कहि आवन छबीले मन भावन को
गहि-गहि राखत ही दै-दै सनमान को,
झूठी बतियानी की पत्यानि तें उदास ह्वै के
अब ना घिरत घनआनन्द निदान को,
अधर लगे हैं आनि करि के पयान प्राण
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

घनानन्द ने कई ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से 'सुजान सागर', 'घनानंद कवित्त', 'रस केलिबल्ली', 'कृपाकान्त निबन्ध', 'कोकसागर' और 'विरह लीला' प्रमुख हैं। उनकी कविता में शृङ्गार के वियोग पक्ष का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। अपनी रचनाओं में उन्होंने सुजान को ही सम्बोधित किया है जो लौकिक पक्ष में नायिका और आध्यात्मिक पक्ष में श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है, फिर भी भक्ति काव्य में उनकी रचनाओं का स्थान नहीं है। वह आदि से अन्त तक शृङ्गारी कवि हैं। प्रेम दशा की व्यंजना ही उनके काव्य का प्रधान लक्ष्य है। हृदय के उल्लास और प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा का वर्णन जैसा उन्होंने किया है वैसा किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है। इसीलिए उनका वियोग-वर्णन बाह्यार्थ-निरूपक न होकर अन्तर्वृत्ति-निरूपक है। बिहारी की-सी उछल-कूद उनके विरह वर्णन में नहीं है। उनकी भाषा व्रजभाषा है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। वह उनकी अनुभूति की अनुगामिनी है। उन्होंने उसे अपनी काव्य-शक्ति भी प्रदान की है। लक्षणा और व्यंजना से उन्होंने उसमें वह शक्ति भर दी है जो उसे काव्योचित बनाने में समर्थ है।

आचार्य केशव :—भक्तिकाल में आचार्य केशव के भक्ति स्वरूप की चर्चा हो चुकी है। यहाँ उनके आचार्य स्वरूप की चर्चा भी कर दी जाय।

संस्कृत में आचार्य उस व्यक्ति को कहा जाता था जो काव्यांग निरूपण करता था और काव्य के विभिन्न अंगों को विभिन्न उदाहरणों से पुष्ट करता था। आ० केशव ने भी ऐसे ग्रन्थ लिखे। काव्यांग निरूपण सम्बन्धी काव्यग्रन्थों

में 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' प्रसिद्ध हैं। 'कविप्रिया' में अलकारों तथा 'रसिकप्रिया' में रसों का विवेचन मिलता है। एक प्रकार से इन दोनों में सस्कृत परम्परा का अनुकरण मात्र दिखलाई देता है। इन्हें रीति शास्त्र का हिन्दी सस्करण कहा जा सकता है। इनमें मौलिकता जैसी कोई वस्तु नहीं दिखलायी देती। रसिकप्रिया में जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं वे सचमुच ही बड़े प्रभावक और श्रृंगारिक हैं।

इन ग्रन्थों की रचना केशव ने पाठकों के लिये नहीं कर शिक्षकों के लिए की, यदि ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। बहुत-से आलोचकों ने इन्हें आचार्य की कोटि में रखा है किन्तु आचार्यों की भाँति इनमें मौलिकता का अभाव है, अतः इन्हें संस्कृत-आचार्य परम्परा के अन्तर्गत न रखकर हिन्दी आचार्य परम्परा में रख सकते हैं।

आ० केशव ने उपर्युक्त वर्णित ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वीरसिंह देव चरित', 'जहाँगीर जस चन्द्रिका', 'विज्ञानगीता' आदि ग्रन्थ भी लिखे। इन सभी ग्रन्थों के आधार पर केशव को रीतिकालीन कवियों में प्रमुख स्थान दिया जाता है।

पद्माकर :—रीतिकाल के अन्तिम श्रेष्ठ अलकारिक कवियों में पद्माकर भट्ट का नाम प्रसिद्ध है। इनका जन्म सन् १७५३ ई० बतलाया जाता है। ये सागर के रहने वाले थे। इनके पिता तथा इनके परिवार के अन्य सदस्य भी कवि थे। इनकी मृत्यु गगा तट पर कानपुर में सन् १८३३ ई० में ८० वर्ष की अवस्था में हुई। ये अनेक राजदरबारों में रहे। इनको नागपुर के राजा रघुनाथ राव, जयपुर के महाराज प्रताप सिंह, उदयपुर के महाराणा भीमसिंह आदि राजाओं से बहुत सम्मान, दान आदि मिला। इन्हें कविराज शिरोमणि की उपाधि मिली।

पद्माकर के नाम से 'हिम्मत बहादुर विरुदावली', 'पद्माभरण', 'जगद्विनोद', 'रामरसायन', प्रताप सिंह विरुदावली नामक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

काव्यगत रमणीयता की दृष्टि से इनकी बराबरी बिहारी ही कर सकते हैं। इसी कारण ये रीतिकाल के प्रमुख कवि माने जाते हैं। इनके काव्य में सरलता, भावों की मधुर कल्पना, सजावट, चित्राकन आदि गुण देखे जाते हैं। भाषा पर इनका अद्भुत अधिकार था। भाषा की शक्ति से ये पूर्ण परिचित थे। भावानुकूल भाषा के प्रयोग में इन्हें काफी सफलता मिली है। आ० शुक्ल को भी इनकी भाषा की श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ी।

इनकी भाषा सरस, सुव्यवस्थित, व्याकरण से शुद्ध तथा अर्थ प्रधान है। सवैया तथा कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग भी इन्होंने सुन्दर ढग से किया है। रस के निर्वाह में भी इन्हें पूर्ण सफलता मिली है। अनुप्रास और यमक अलकारों के प्रयोग में इन्हें बड़ा आनन्द मिलता है। श्रृंगार वर्णन में ये कहीं-कहीं तो

में 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' प्रसिद्ध हैं। 'कविप्रिया' में अलंकारों तथा 'रसिकप्रिया' में रसों का विवेचन मिलता है। एक प्रकार से इन दोनों में संस्कृत परम्परा का अनुकरण मात्र दिखलाई देता है। इन्हें रीति शास्त्र का हिन्दी संस्करण कहा जा सकता है। इनमें मौलिकता जैसी कोई वस्तु नहीं दिखलायी देती। रसिकप्रियर में जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं वे सचमुच ही बड़े प्रभावक और श्रृंगारिक हैं।

इन ग्रन्थों की रचना केशव ने पाठकों के लिये नहीं कर शिक्षकों के लिए की, यदि ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। बहुत-से आलोचकों ने इन्हें आचार्य की कोटि में रखा है किन्तु आचार्यों की भाँति इनमें मौलिकता का अभाव है, अतः इन्हें संस्कृत-आचार्य परम्परा के अन्तर्गत न रखकर हिन्दी आचार्य परम्परा में रख सकते हैं।

आ० केशव ने उपर्युक्त वर्णित ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वीरसिंह देव चरित', 'जहाँगीर जस चन्द्रिका', 'विज्ञानगीता' आदि ग्रन्थ भी लिखे। इन सभी ग्रन्थों के आधार पर केशव को रीतिकालीन कवियों में प्रमुख स्थान दिया जाता है।

पद्माकर :—रीतिकाल के अन्तिम श्रेष्ठ अलंकारिक कवियों में पद्माकर भट्ट का नाम प्रसिद्ध है। इनका जन्म सन् १७५३ ई० बतलाया जाता है। ये सागर के रहने वाले थे। इनके पिता तथा इनके परिवार के अन्य सदस्य भी कवि थे। इनकी मृत्यु गंगा तट पर कानपुर में सन् १८३३ ई० में ८० वर्ष की अवस्था में हुई। ये अनेक राजदरबारों में रहे। इनको नागपुर के राजा रघुनाथ राव, जयपुर के महाराज प्रताप सिंह, उदयपुर के महाराणा भीमसिंह आदि राजाओं से बहुत सम्मान, दान आदि मिला। इन्हें कविराज शिरोमणि की उपाधि मिली।

पद्माकर के नाम से 'हिम्मत बहादुर विरुदावली', 'पद्मा भरण', 'जगद्विनोद', 'रामरसायन', प्रताप सिंह विरुदावली नामक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

काव्यगत रमणीयता की दृष्टि से इनकी बराबरी बिहारी ही कर सकते हैं। इसी कारण ये रीतिकाल के प्रमुख कवि माने जाते हैं। इनके काव्य में सरलता, भावों की मधुर कल्पना, सजावट, चित्रांकन आदि गुण देखे जाते हैं। भाषा पर इनका अद्भुत अधिकार था। भाषा की शक्ति से ये पूर्ण परिचित थे। भावानुकूल भाषा के प्रयोग में इन्हें काफी सफलता मिली है। आ० शुक्ल को भी इनकी भाषा की श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ी।

इनकी भाषा सरल, सुव्यवस्थित, व्याकरण से शुद्ध तथा अर्थ प्रधान है। सवैया तथा कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग भी इन्होंने सुन्दर ढंग से किया है। रस के निर्वाह में भी इन्हें पूर्ण सफलता मिली है। अनुप्रास और यमक अलंकारों के प्रयोग में इन्हें बड़ा आनन्द मिलता है। श्रृंगार वर्णन में ये कहीं-कहीं तो

लिया। उनके गाने से बादशाह प्रसन्न तो बहुत हुआ, पर उनकी ढिठाई सहन न कर सका। उसने उन्हें नगर से निकाल दिया। जब वह चलने लगे तब उन्होंने सुजान से भी साथ चलने के लिये कहा, पर वह नहीं गयी। इससे वह विरक्त हो गये और वृन्दावन जाकर निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। उनका शेष जीवन वहीं बीता। मरते समय उन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था।

बहुत दिनान की अवधि आस पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठिजान को,
कहि-कहि आवन छबीले मन भावन को
गहि-गहि राखत ही दै-दै सनमान को,
झूठी बतियानी की पत्यानि तें उदास ह्वैके
अब ना घिरत घनआनन्द निदान को,
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

घनानन्द ने कई ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से 'सुजान सागर', 'घनानन्द कवित्त', 'रस केलिवल्ली', 'कृपाकान्त निबन्ध', 'कोकसागर' और 'विरह लीला' प्रमुख हैं। उनकी कविता में शृङ्गार के वियोग पक्ष का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। अपनी रचनाओं में उन्होंने सुजान को ही सम्बोधित किया है जो लौकिक पक्ष में नायिका और आध्यात्मिक पक्ष में श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है, फिर भी भक्ति काव्य में उनकी रचनाओं का स्थान नहीं है। वह आदि से अन्त तक शृङ्गारी कवि हैं। प्रेम दशा की व्यंजना ही उनके काव्य का प्रधान लक्ष्य है। हृदय के उल्लास और प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा का वर्णन जैसा उन्होंने किया है वैसा किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है। इसीलिए उनका वियोग-वर्णन बाह्यार्थ-निरूपक न होकर अन्तर्वृत्ति-निरूपक है। बिहारी की-सी उछल-कूद उनके विरह वर्णन में नहीं है। उनकी भाषा ब्रजभाषा है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। वह उनकी अनुभूति की अनुगामिनी है। उन्होंने उसे अपनी काव्य-शक्ति भी प्रदान की है। लक्षणा और व्यंजना से उन्होंने उसमें वह शक्ति भर दी है जो उसे काव्योचित बनाने में समर्थ है।

आचार्य केशव —भक्तिकाल में आचार्य केशव के भक्ति स्वरूप की चर्चा हो चुकी है। यहाँ उनके आचार्य स्वरूप की चर्चा भी कर दी जाय।

संस्कृत में आचार्य उस व्यक्ति को कहा जाता था जो काव्यांग निरूपण करता था और काव्य के विभिन्न अंगों को विभिन्न उदाहरणों से पुष्ट करता था। आ० केशव ने भी ऐसे ग्रन्थ लिखे। काव्यांग निरूपण सम्बन्धी काव्यग्रन्थों

में 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' प्रसिद्ध हैं। 'कविप्रिया' में अलकारों तथा 'रसिकप्रिया' में रसों का विवेचन मिलता है। एक प्रकार से इन दोनों में संस्कृत परम्परा का अनुकरण मात्र दिखलाई देता है। इन्हें रीति शास्त्र का हिन्दी संस्करण कहा जा सकता है। इनमें मौलिकता जैसी कोई वस्तु नहीं दिखलायी देती। रसिकप्रिया में जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं वे सचमुच ही बड़े प्रभावक और शृंगारिक हैं।

इन ग्रन्थों की रचना केशव ने पाठकों के लिये नहीं कर शिक्षकों के लिए की, यदि ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। बहुत-से आलोचकों ने इन्हें आचार्य की कोटि में रखा है किन्तु आचार्यों की भाँति इनमें मौलिकता का अभाव है, अतः इन्हें संस्कृत-आचार्य परम्परा के अन्तर्गत न रखकर हिन्दी आचार्य परम्परा में रख सकते हैं।

आ० केशव ने उपर्युक्त वर्णित ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वीरसिंह देव चरित', 'जहाँगीर जस चन्द्रिका', 'विज्ञानगीता' आदि ग्रन्थ भी लिखे। इन सभी ग्रन्थों के आधार पर केशव को रीतिकालीन कवियों में प्रमुख स्थान दिया जाता है।

पद्माकर :—रीतिकाल के अन्तिम श्रेष्ठ अलंकारिक कवियों में पद्माकर भट्ट का नाम प्रसिद्ध है। इनका जन्म सन् १७५३ ई० बतलाया जाता है। ये सागर के रहने वाले थे। इनके पिता तथा इनके परिवार के अन्य सदस्य भी कवि थे। इनकी मृत्यु गंगा तट पर कानपुर में सन् १८३३ ई० में ८० वर्ष की अवस्था में हुई। ये अनेक राजदरबारों में रहे। इनको नागपुर के राजा रघुनाथ राव, जयपुर के महाराज प्रताप सिंह, उदयपुर के महाराणा भीमसिंह आदि राजाओं से बहुत सम्मान, दान आदि मिला। इन्हें कविराज शिरोमणि की उपाधि मिली।

पद्माकर के नाम से 'हिम्मत बहादुर विरुदावली', 'पद्मा भरण', 'जगद्विनोद', 'रामरसायन', प्रताप सिंह विरुदावली नामक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

काव्यगत रमणीयता की दृष्टि से इनकी बराबरी बिहारी ही कर सकते हैं। इसी कारण ये रीतिकाल के प्रमुख कवि माने जाते हैं। इनके काव्य में सरलता, भावों की मधुर कल्पना, सजावट, चित्रांकन आदि गुण देखे जाते है। भाषा पर इनका अद्‌भुत अधिकार था। भाषा की शक्ति से ये पूर्ण परिचित थे। भावानुकूल भाषा के प्रयोग में इन्हें काफी सफलता मिली है। आ० शुक्ल को भी इनकी भाषा की श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ी।

इनकी भाषा सरस, सुव्यवस्थित, व्याकरण से शुद्ध तथा अर्थ प्रधान है। सवैया तथा कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग भी इन्होंने सुन्दर ढंग से किया है। रस के निर्वाह में भी इन्हें पूर्ण सफलता मिली है। अनुप्रास और यमक अलंकारों के प्रयोग में इन्हें बड़ा आनन्द मिलता है। शृंगार वर्णन में ये कहीं-कहीं तो

लिया। उनके गाने से बादशाह प्रसन्न तो बहुत हुआ, पर उनकी ढिठाई सहन न कर सका। उसने उन्हें नगर से निकाल दिया। जब वह चलने लगे तब उन्होंने सुजान से भी साथ चलने के लिये कहा, पर वह नहीं गयी। इससे वह विरक्त हो गये और वृन्दावन जाकर निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। उनका शेष जीवन वहीं बीता। मरते समय उन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था।

> बहुत दिनान की अवधि आस पास परे,
> खरे अरबरनि भरे हैं उठिजान को,
> कहि-कहि आवन छबीले मन भावन को
> गहि-गहि राखत ही दै-दै सनमान को,
> झूठी बतियानी की पत्यानि तें उदास ह्वै के
> अब ना घिरत घनआनन्द निदान को,
> अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्राण
> चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

घनानन्द ने कई ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से 'सुजान सागर', 'घनानन्द कवित्त', 'रस केलिवल्ली', 'कृपाकान्त निबन्ध', 'कोकसागर' और 'विरह लीला' प्रमुख हैं। उनकी कविता में शृङ्गार के वियोग पक्ष का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। अपनी रचनाओं में उन्होंने सुजान को ही सम्बोधित किया है जो लौकिक पक्ष में नायिका और आध्यात्मिक पक्ष में श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है, फिर भी भक्ति काव्य में उनकी रचनाओं का स्थान नहीं है। वह आदि से अन्त तक शृङ्गारी कवि हैं। प्रेम दशा की व्यंजना ही उनके काव्य का प्रधान लक्ष्य है। हृदय के उल्लास और प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा का वर्णन जैसा उन्होंने किया है वैसा किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है। इसीलिए उनका वियोग-वर्णन बाह्यार्थ-निरूपक न होकर अन्तर्वृत्ति-निरूपक है। बिहारी की-सी उछल-कूद उनके विरह वर्णन में नहीं है। उनकी भाषा ब्रजभाषा है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। वह उनकी अनुभूति की अनुगामिनी है। उन्होंने उसे अपनी काव्य-शक्ति भी प्रदान की है। लक्षणा और व्यंजना से उन्होंने उसमें वह शक्ति भर दी है जो उसे काव्योचित बनाने में समर्थ है।

आचार्य केशव —भक्तिकाल में आचार्य केशव के भक्ति स्वरूप की चर्चा हो चुकी है। यहाँ उनके आचार्य स्वरूप की चर्चा भी कर दी जाय।

संस्कृत में आचार्य उस व्यक्ति को कहा जाता था जो काव्यांग निरूपण करता था और काव्य के विभिन्न अंगों को विभिन्न उदाहरणों से पुष्ट करता था। आ० केशव ने भी ऐसे ग्रन्थ लिखे। काव्यांग निरूपण सम्बन्धी काव्यग्रन्थों

में 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' प्रसिद्ध हैं। 'कविप्रिया' में अलकारों तथा 'रसिकप्रिया' में रसों का विवेचन मिलता है। एक प्रकार से इन दोनों में संस्कृत परम्परा का अनुकरण मात्र दिखलाई देता है। इन्हें रीति शास्त्र का हिन्दी संस्करण कहा जा सकता है। इनमें मौलिकता जैसी कोई वस्तु नहीं दिखलायी देती। रसिकप्रिया में जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं वे सचमुच ही बड़े प्रभावक और शृंगारिक हैं।

इन ग्रन्थों की रचना केशव ने पाठकों के लिये नहीं कर शिक्षकों के लिए की, यदि ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। बहुत-से आलोचकों ने इन्हें आचार्य की कोटि में रखा है किन्तु आचार्यों की भाँति इनमें मौलिकता का अभाव है, अतः इन्हें संस्कृत-आचार्य परम्परा के अन्तर्गत न रखकर हिन्दी आचार्य परम्परा में रख सकते हैं।

आ० केशव ने उपर्युक्त वर्णित ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वीरसिंह देव चरित', 'जहाँगीर जस चन्द्रिका', 'विज्ञानगीता' आदि ग्रन्थ भी लिखे। इन सभी ग्रन्थों के आधार पर केशव को रीतिकालीन कवियों में प्रमुख स्थान दिया जाता है।

पद्माकर :—रीतिकाल के अन्तिम श्रेष्ठ अलकारिक कवियों में पद्माकर भट्ट का नाम प्रसिद्ध है। इनका जन्म सन् १७५३ ई० बतलाया जाता है। ये सागर के रहने वाले थे। इनके पिता तथा इनके परिवार के अन्य सदस्य भी कवि थे। इनकी मृत्यु गंगा तट पर कानपुर में सन् १८३३ ई० में ८० वर्ष की अवस्था में हुई। ये अनेक राजदरबारों में रहे। इनको नागपुर के राजा रघुनाथ राव, जयपुर के महाराज प्रताप सिंह, उदयपुर के महाराणा भीमसिंह आदि राजाओं से बहुत सम्मान, दान आदि मिला। इन्हें कविराज शिरोमणि की उपाधि मिली।

पद्माकर के नाम से 'हिम्मत बहादुर विरुदावली', 'पद्मा भरण', 'जग-द्विनोद', 'रामरसायन', प्रताप सिंह विरुदावली नामक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

काव्यगत रमणीयता की दृष्टि से इनकी बराबरी बिहारी ही कर सकते हैं। इसी कारण ये रीतिकाल के प्रमुख कवि माने जाते हैं। इनके काव्य में सरलता, भावों की मधुर कल्पना, सजावट, चित्रांकन आदि गुण देखे जाते हैं। भाषा पर इनका अद्भुत अधिकार था। भाषा की शक्ति से ये पूर्ण परिचित थे। भावानुकूल भाषा के प्रयोग में इन्हें काफी सफलता मिली है। आ० शुक्ल को भी इनकी भाषा की श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ी।

इनकी भाषा सरस, सुव्यवस्थित, व्याकरण से शुद्ध तथा अर्थ प्रधान है। सवैया तथा कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग भी इन्होंने सुन्दर ढग से किया है। रस के निर्वाह में भी इन्हें पूर्ण सफलता मिली है। अनुप्रास और यमक अलंकारों के प्रयोग में इन्हें बडा आनन्द मिलता है। शृंगार वर्णन में ये कहीं-कहीं तो

सीमा का उल्लंघन भी कर गये हैं। इनकी भाषा तथा इनकी काव्यगत विशेषता को सिद्ध करने में निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

१—एरे मति मन्द चन्द, आवत न तोहि लाज,
हो के द्विजराज, काज करत कसाई के।
२—फाग की भीर, अभीरिन में गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर, ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
❀ * * ❀
नैन नचाइ कह्यो मुसुकाइ, 'लला फिर आइयो खेलन होरी'।

भिखारी दास :—शृंगारकालीन आचार्यों में शीर्ष स्थानीय हैं—भिखारी दास जी। ध्वनि, रस, अलंकार, गुण, दोष इत्यादि सभी विषयों पर आपने लक्षण ग्रन्थ लिखे। लक्षणों को प्रस्तुत करते समय इन्होंने अपने आचार्य पक्ष को प्रस्तुत किया है और उदाहरणों में इन्होंने अपने कवि स्वरूप को चित्रित किया है। ये रसलीन के समकालीन थे। इनके जन्म के विषय में भी अन्दाज पर काम लेना पड़ता है। इनका जन्म सं० १७५५ के करीब बतलाया जाता है। इनके काव्य ग्रन्थों में काव्य-निर्णय, विष्णुपुराण, अमर-कोश, रस-सारांश आदि प्रमुख हैं। 'काव्य निर्णय' इनका सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ है। काव्य के विभिन्न अंगों के विवेचन में इनको काफी सफलता मिली है। यह ग्रन्थ ही इन्हें कीर्ति प्रदान करता है।

कवि के रूप में भी ये कम प्रसिद्ध नहीं हैं। शृंगार निरूपण में इन्हें काफी सफलता मिली है।

भिखारी दास की भाषा साहित्यिक है। इनके शब्द नपे तुले और सीधे हैं। सरल शब्दों के माध्यम से इन्होंने गहन भावों को व्यक्त किया है।

रीतिकाल के अनुरूप शृंगार ही इनका प्रमुख विषय रहा, पर इन्होंने सदैव मर्यादा का ध्यान रखा। देव की तरह निम्न वर्गीय स्त्रियों का नायिका के रूप में वर्णन न करके दूती रूप में किया है। शब्दों की कलाबाजी और दूर की कौड़ी लाने का प्रयास इनके काव्य में नहीं किया जाता। इनकी भाषा की सुगमता एवं इनके भावों की श्रेष्ठता निम्नलिखित उदाहरणों से सिद्ध होती है —

१—आगे के सुकवि रिझिहैं तौ कविताई,
न तु राधिका, कन्हाई सुमिरन को बहानो है।
२—घाँघरे झीन सों, सारी महीन सों, पीन नितंबन भार उठै लचि।
बास सुबास सिंगार सिंगारनि, बोझनि ऊपर बोझ उठै मचि॥
३—मदन गरब हर हरि कियो, लगि परदेस पयान।
बढ़ै बैर नाते अली मदन हरत मो प्रान॥

रसलीन :—

रसलीन सैयद गुलाम नबी का उपनाम है। ये हरदोई कस्बा के बिलग्राम के रहने वाले थे। इनके मामा मीर अब्दुल जलील 'बिलग्रामी' भी हिन्दी के कवि थे और उनके दोहे रहीम के समकक्ष रखे जा सकते हैं। इसी से रसलीन को हिन्दी काव्य-रचना की प्रेरणा प्राप्त हुई। रामनरेश त्रिपाठी के अनुमान द्वारा इनका जन्म सन् १६८६ ई० माना जाता है।

रसलीन केवल कवि ही नहीं थे वरन् एक सुयोग्य सैनिक, तीरन्दाज और घुड़सवारी में निपुण थे। ये नवाब सफदर जंग की सेवा में थे और उनकी सेना के साथ पठानों के विरुद्ध युद्ध करते हुए आगरा के समीप सन् १७५० ई० में मारे गये।

इनकी रचना दोहों में है। इनमें चमत्कार और उक्ति की विचित्रता है। इनके दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—अंग दर्पण, रसप्रबोध। अंगदर्पण नखशिख सम्बन्धी रचना है और रसप्रबोध रस-भाव, नायिका भेद, षट्ऋतु आदि प्रसंग से युक्त सर्वश्रेष्ठ काव्य है।

शिवसिंह ने इनको अरबी-फारसी का आलिम-फाजिल और भाषा कविता में अत्यन्त निपुण बतलाया है। इनका प्रसिद्ध दोहा जिसे लोग प्रायः बिहारी का मान लेते हैं नीचे दिया जा रहा है।

> अमिय, हलाहल, मदभरे, सेत, स्याम रतनार।
> जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त रीतिकाल में बेनी, मंडन, कुलपति मिश्र, दूलह, आलम, गिरिधर, बोधा आदि कवि प्रसिद्ध हैं।

रीतिकालीन काव्य के दोष :—

रीतिकाल के काव्य पर कुछ विद्वानों ने दोषारोपण भी किया है।

पहला दोष अश्लीलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहाँ कवियों ने नग्न शृंगार का वर्णन किया है वहाँ अश्लीलता आ गयी है। यह अश्लीलता युग के अनुसार ही काव्य में आयी है। वह युग ही ऐसा था जिसमें शृङ्गार का आना स्वाभाविक था। इस प्रकार के वर्णन कालिदास के साहित्य में भी हुए हैं। वहाँ इसे अश्लील नहीं कहा गया। जिन शब्दों को (जैसे नितम्ब, उरोज आदि) आज हम अश्लील कहते हैं वे संस्कृत साहित्य में अश्लील नहीं माने गये। अतः हिन्दी में यदि इन शब्दों का प्रयोग हुआ तो इस साहित्य को अश्लील मानना उचित नहीं है, क्योंकि हिन्दी में संस्कृत साहित्य से ही ये शब्द आये हैं।

दूसरा दोष यह लगाया गया है कि यह काव्य समाज को प्रगति प्रदान करने में समर्थ नहीं है। रीतिकाव्य में हमें व्यापक रूप से जीवन का प्रतिबिम्ब नहीं मिलता, यह सत्य है। रीतिकाव्य वास्तव में यौवन का मादक और विलासपूर्ण काव्य है। यौवन को जीवन से अलग कैसे किया जा सकता है? यह भी तो मानव जीवन का एक आवश्यक अवसर है। मादकता भी तो जीवन की मांग है। इसके अतिरिक्त रीतिकाल के काव्य में कहीं-कहीं ऐसी उक्तियाँ हैं जो जीवन का अनुभव कराती हैं।

तीसरा दोष आश्रयदाताओं की झूठी प्रशंसा है। यह प्रशंसा भी सर्वथा व्यर्थ सिद्ध नहीं होती है। ऐसी प्रशंसा से भी ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है। यदि आश्रयदाताओं की प्रशंसा भी कला और काव्य की रक्षा हो जाय तो इसे दोष नहीं गुण ही मानना चाहिए। प्रशंसा झूठी ही क्यों न हो पर काव्य-गुण से युक्त तो अवश्य है। जिन राजाओं ने कवियों को शरण दी और उन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा दी तो उन राजाओं की प्रशंसा भी महत्वपूर्ण ही है।

इसी प्रकार इस काव्य में विलासप्रियता, रूढ़िवादिता, सूक्ष्म-विवेचन का अभाव, गद्य का अभाव, दृश्यकाव्य का अभाव, शब्द-शक्ति-विवेचन का अभाव आदि अन्य कई न्यूनताएं बतलायी गयी हैं। पर ये सभी न्यूनताएं काव्य की न्यूनताएं नहीं कही जा सकतीं क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि किसी एक ही युग में साहित्य या काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विकास एक ही साथ हो जाय। विलासिता, रूढ़िवादिता, शृंगारिकता आदि का आना समय के अनुकूल आवश्यक हो गया था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य की दृष्टि से रीति-कालीन काव्य श्रेष्ठ काव्य है।

आधुनिक काल (गद्यकाल)
(१९०० से आजतक)

आधुनिक युग हिन्दी साहित्य का नवोन्मेष युग है। इसमें आकर नवीन विचार धाराएँ पल्लवित होती हैं। इसका अर्थ यह नहो कि नवीन विचार आधुनिक युग में ही प्रारंभ हुए। ऐसे विचार करीब ४०-५० वर्षों पूर्व ही हिन्दी जगत् में आ गये थे, पर साहित्य-रूप में आधुनिकता का पल्लवन वि० सं० १९२५ से हुआ। अतः आधुनिक युग को हम मुख्यतः दो भागों में बाँट सकते हैं—१९५० से १९२५ तक संक्रान्ति युग और सं० १९२५ से आजतक स्वस्थ युग। इन दोनों वर्गों के आधार पर आधुनिक हिन्दी साहित्य का विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का आगमन क्यों हुआ और कैसे हुआ यह तो नहीं बतलाया जा सकता, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में अर्थात् सं० १८५० के लगभग से ही भारत की परिस्थितियाँ और स्थितियाँ पूर्णतः बदल गई। इन्हीं बदली हुई परिस्थितियों में नवीन प्रकार का साहित्य १९०० वी शताब्दी में आने लगा। इसी १९०० वीं शताब्दी के नवीन साहित्य को आधुनिक साहित्य कहा गया।

आधुनिक साहित्य को जन्म देने में निम्नलिखित—राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियाँ सहयोग देती है :—

राजनैतिक परिस्थिति :—आधुनिक युग में शासन पूर्णतः अंग्रेजों के हाथ में आ गया। विजित प्रदेशों में शासन व्यवस्था अंग्रेजों के ढंग की थी। अब भारत की शासन-व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्था प्रायः अंग्रेजों द्वारा स्थापित ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में थी। व्यापारिक उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त स्थापित कम्पनी के द्वारा अब सम्पूर्ण देश का शासन होने लगा। अंग्रेज गवर्नर नये-नये नियमों के द्वारा धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत को हड़पने लगे। डलहौजी की हड़प नीति ने कई देशी रियासतों को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। बचे-खुचे छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य अंग्रेजों के चंगुल में फंस गये।

भारतीय जनता विदेशियों की स्वार्थपरक नीति से अवगत थी। कुछ सचेत कार्यकर्त्ताओं और राष्ट्रभक्तों ने देश में स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीयता का बीजवपन किया। इनमें बिठूर के नाना साहब प्रमुख थे। सन् १८५७ में यही बीज स्वतन्त्रता-संग्राम रूपी अग्नि में परिणत हुआ। स्वतन्त्रता का पावन संघर्ष

प्रारंभ हुआ और यह संघर्ष प्रायः एक वर्ष तक चलता रहा। इस संघर्ष में भारत के वीरों तथा युद्ध वीरांगनाओं ने अपनी अटूट देश-भक्ति तथा अपने अविरल साहस का परिचय दिया। शक्ति तथा एकता के अभाव में यह संग्राम असफल सिद्ध हुआ और भीषण अग्नि में हमें युद्ध देश रत्नों को भी खोना पड़ा।

राष्ट्रीयता का महादग्ध समाप्त नहीं हुआ और सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई। आगे चलकर अब कांग्रेस पार्टी स्वाधीनता-संस्था के रूप में कार्य करने लगी। इसी के साथ-साथ अंग्रेजों के विरोध में अनेक विरोधी और आन्दोलनकारी संस्थाओं की स्थापना हुई। भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, तिलक आदि इन संस्थाओं के प्रमुख नेता और कार्यकर्त्ता बने। इसी समय प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया। यह युद्ध सन् १९१९ में समाप्त हुआ। युद्ध के समाप्त होने पर भारतीयों ने अंग्रेजों से स्वतंत्रता की मांग की। इनकी यह मांग निर्दयतापूर्वक ठुकरा दी गयी। यही नहीं, बल्कि हम पर तरह-तरह के अत्याचार भी किये गये। रौलट ऐक्ट और जालियाँवालाबाग के हत्याकाण्ड से हमारे धैर्य का पुल टूट गया।

राजनीति में गाँधीजी का प्रवेश भारत तथा भारतीयों के लिये वरदान सिद्ध हुआ। इस कर्णधार ने अपने सबल हाथों से हमें पकड़ा और अपने शक्तिशाली कंधों पर बैठाकर राजनीति को इस भीषण अग्नि से निकालने का प्रयास करना प्रारम्भ किया। अपने असहयोग आन्दोलन तथा अहिंसा नीति से इस युगावतार ने अंग्रेजों को आश्चर्यचकित कर दिया। अंग्रेजों का यही आश्चर्य भय में बदल गया और इसी भय ने उन्हें हत्यारा तथा क्रूर बनाया। स्वतन्त्रता संग्राम तथा असयोग आन्दोलन के कार्यकर्त्ताओं – मोतीलाल, लाजपतराम, आजाद आदि को जेल में ठूस दिया गया।

कांग्रेस पार्टी में भी मतभेद प्रारम्भ हो गया। हिन्दू महासभा तथा मुस्लिम लीग इसकी उपशाखाएँ थीं। अभी देश परतंत्र ही था कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का झगड़ा बढ खड़ा हुआ। इसी आपसी मतभेद की स्थिति में सन् १९४२ में गाँधीजी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन प्रारंभ हुआ। अन्त में सन् १९४६ में ब्रिटेन की सरकार ने भारत में अन्तर सरकार बनाने की अनुमति दी। सन् १९४६ में हिन्दू-मुसलमानों का भयंकर संघर्ष शुरू हुआ। दंगा के समाप्त होनेपर १५ अगस्त सन् १९४७ में भारत को स्वर्णिम स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत विकास की ओर उन्मुख हुआ।

धार्मिक परिस्थिति :—धर्म के क्षेत्र में एक तरफ राजाराम मोहन राय तथा स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त कार्य कर रहे थे तो दूसरी तरह ईसाई धर्म का प्रचार बढ रहा था। राजाराम मोहन राय तथा दयानन्द ने धार्मिक रूढियों का

विरोध किया। इन्होंने हिन्दू संस्कृति तथा भारतीय धर्म का प्रचार किया। इनके द्वारा हमारे धर्म में सुधारवादी दृष्टिकोण आने लगा। बाद में राजाराम मोहन राय पश्चिम के धर्म की ओर झुक गये और भारतीय संस्कृति को हेय दृष्टि से देखने लगे। स्वामी दयानन्द ने ईसाई धर्म के विरोध में आर्य समाज की स्थापना की और धार्मिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। इन्होंने प्राचीन स्वरूप धर्म के प्रति आस्था तथा वेदों के प्रति श्रद्धा का भाव व्यक्त किया।

ऐनी बेसेन्ट नामक एक विदेशी नारी ने थियासफिकल सोसाइटी के द्वारा भारतीय धर्म को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया। धर्म के क्षेत्र में इसी समय परमहंस रामकृष्ण तथा इनके शिष्य विवेकानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने वैज्ञानिक-बौद्धिकता का विरोध किया तथा भारतीय आध्यात्मिकता का पुनरुत्थान किया। इन्होंने धर्म के सच्चे स्वरूप को व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

अरविन्द और गाँधी ने भी आधुनिक धर्म को नवीन रूप प्रदान किया। अरविन्द ने कर्म, उपासना और ज्ञान से समन्वित धर्म का सिद्धान्त बनाया। गाँधी जी ने धर्म, अहिंसा तथा सत्य का अस्त्र दिया।

आधुनिककाल : परिस्थितियाँ

(१) राजनैतिक — अंग्रेजों का शासन – राष्ट्रीयता-आन्दोलन, गाँधी का आगमन - स्वतन्त्रता की प्राप्ति।

(२) धार्मिक — राजा राममोहन तथा दयानन्द के सिद्धान्त–ईसाई धर्म का प्रचार—रामकृष्ण तथा विवेकानन्द का आगमन।

(३) सामाजिक—पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार — सद्विचारों का प्रचार-नारी उत्थान।

भारतीय धर्म साधना जहाँ एक तरफ उक्त महा-मानवों की दृष्टि से प्रांजल और शुद्ध हो रही थी वहीं दूसरी तरफ ईसाई धर्म से प्रभावित भी। धार्मिक रूढ़ियों तथा आडम्बरों से ऊबकर जनता एक सरल मार्ग का अनुसरण चाहती थी। ईसाई धर्म प्रचारकों ने इन्हें एक सरल मार्ग बता दिया। भारत के अधिक लोग इस धर्म में दीक्षित होने लगे। स्वामी दयानन्द तथा गान्धी आदि हिन्दू धर्म समर्थकों के प्रयास के बावजूद भी ईसाई धर्म का प्रभाव भारत पर रहा ही।

इसका कारण यह था कि हिन्दू धर्म बड़ा ही कट्टर हो गया था। इस धर्म में बाहरी आचरण का अधिक महत्व बढ़ गया था। हिन्दुओं का भगवान नीची जाति के लोग के स्पर्श मात्र से दूषित हो जाता था। ढोंग की प्रबलता से सात्विक धर्म की सत्यता नष्ट हो रही थी। इस प्रकार धर्म की अवस्था राजनीति की ही भाँति दयनीय थी।

सामाजिक परिस्थिति :—आधुनिक युग क्रान्ति का युग है। राजनीति, धर्म और समाज सब क्षेत्रों में क्रान्ति मची थी। आंग्ल-भारत सम्पर्क बढ़ता जा रहा था। राजाराम मोहनराय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण, तथा गांधी आदि समाज सुधारकों ने समाज को उन्नतिशील बनाने का प्रयास किया।

राष्ट्र-चेतना से हीन मानव के मन में राष्ट्रीयता का आगमन हुआ। धर्म-सुधारकों तथा समाज उन्नायकों के उपदेशों से भारतीय समाज का नैतिक तथा बौद्धिक धरातल उन्नत हो रहा था।

पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आने से भारतीय सभ्यता तथा भारतीय रीति-रिवाज में भी परिवर्तन हुए। शिक्षा के प्रति अभिरुचि, नारी के प्रति अभिरुचि, नारी के प्रति सम्मान, पुरातन रूढ़ियों के प्रति घृणा के भाव जन-जन तक पहुँचने लगे। इसी समय समाज को गांधी जी, अरविन्द, विवेकानन्द, जैसे व्यक्तित्व मिले। इन व्यक्तियों ने भारतीय जनता में आत्मबल, नैतिकता, दृढ़ता, उदारता और अन्य चारित्रिक गुणों का विकास किया। सहनशीलता, प्रेम, एकता, त्याग आदि मानवीय गुणों का प्रसार भी इस युग में बढ़ा। इस युग के सामाजिक आन्दोलनों के द्वारा बाल विवाह, पूंजीवाद, जमींदारी-प्रथा, अन्धविश्वासों का घोर विरोध किया गया। विधवा-विवाह को उचित बतलाया गया और नारियों को सम्मानित किया गया।

समाज की उक्त दशा में किसी भी देश का विकास सम्भव है। स्वतन्त्रता के पूर्व ही समाज सुधारकों तथा पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आने से भारतीय समाज ऊपर उठ रहा था। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में और भी विकास हुआ। अंग्रेजों की स्वार्थ-भावना से हमारा कल्याण ही हुआ। उन्होंने रेल, डाक-तार आदि साधनों को देकर हमें सभ्यता के आलोक में खड़ा किया। इनकी शिक्षा-नीति भी हमारे लिए शिरस्त्राण बन गयी और हमने अंग्रेजी के अध्ययन से अन्तर्राष्ट्रीय-सम्पर्क स्थापित किया।

आर्थिक और साहित्यिक परिस्थिति :—आधुनिक युग को अर्थ की दृष्टि से भारत के लिये असन्तोषजनक युग माना जाता है। अंग्रेजों ने अपनी व्यापारिक एवम् आर्थिक नीति के द्वारा भारत का धन-शोषण करना अपना लक्ष्य बनाया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भारतीय उद्योग-धन्धों को नष्ट किया और

उसके स्थान पर विदेशी उद्योग-धन्धों को स्थापित किया। कुछ लोगों के अनुसार अंग्रेजों की यह नीति भारत के लिये कल्याणकारी ही सिद्ध हुई, किन्तु इसकी इस नीति से भारत को तत्काल हानि ही हुई। भारतीय ऐश्वर्य को विदेशियों ने समाप्त कर दिया। अर्थ के साधनों को इन्होंने बर्बाद कर दिया और देश के धन को विदेश भेज दिया। अर्थ की यह परिस्थिति भारतेन्दु के शब्दों में यथार्थ रूप में चित्रित हुई है :—

पै धन विदेश चलि जात, यहै अति ख्वारी।

स्वतन्त्रता के पूर्व तक भारत की यही दशा रही। धन का अभाव बढ़ गया। कृषकों की हालत खराब हो गई। कुछ इने-गिने व्यक्तियों के पास धन रह गया। स्वतन्त्रता के पश्चात् आर्थिक परिस्थिति को सुधारने का सफल प्रयास प्रारम्भ हुआ। आज भी अर्थ की दृष्टि से हम आत्म निर्भर नहीं हो पाये हैं, यह अंग्रेजों की शोषण-नीति का दुष्परिणाम ही है।

आधुनिक काल का साहित्य सभी दृष्टियों से अपने पूर्ववर्ती साहित्य से भिन्न है। उपर्युक्त राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थिात ने हिन्दी साहित्य पर भी अपनी छाप लगा दी। साहित्य में भी अंग्रेजों के अत्याचार का विरोध बढ़ा, राष्ट्रीयता का प्रचार हुआ और समाज उन्नयन का स्वर गूँज उठा। धार्मिक रूढ़ियों तथा आर्थिक विषमता के प्रति व्यंग्य और रोष के भावों को आधुनिक साहित्य ने व्यक्त किया। इस युग में गद्य और पद्य दोनों साहित्यों का सृजन हुआ। शैलीगत तथा भाषागत परिवर्तन भी देखे गये।

आधुनिक काल की प्रवृत्तियाँ एवम् विशेषताएँ :—आधुनिक साहित्य विषय, शैली और चमत्कार सभी दृष्टियों से विशिष्ट साहित्य है। यह साहित्य दो रूपों में विकसित होता है – गद्य-साहित्य और पद्य-साहित्य। गद्य और पद्य दोनों प्रकार के साहित्यिक रूपों के आधार पर इस युग की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(१) खड़ी बोली गद्य का विकास :—आधुनिक युग की सबसे प्रमुख घटना खड़ी बोली गद्य का विकास है। अमीर खुसरो की मुकरियों तथा दो सौ बावन वैष्णवों तथा चौरासी वैष्णवों के वार्ता-साहित्य में गद्य का प्रारम्भिक सूत्र देखा जाता है, किन्तु अविच्छिन्न रूप में खड़ी बोली गद्य का प्रारम्भ और विकास दोनों कार्य आधुनिक काल में ही होते हैं। भारतेन्दु युग का गद्य प्रचारार्थ लिखा गया था, इसलिये उसमें नाना प्रकार की त्रुटियाँ रहीं। द्विवेदी जी ने उन सभी त्रुटियों को दूर कर खड़ी बोली गद्य को शुद्ध और परिष्कृत किया। छायावाद और उत्तर छायावाद के साहित्यकारों ने गद्य को इतना सबल और समर्थ बना दिया कि खड़ी बोली गद्य अब केवल सीधे-साधे मनोभावों को व्यक्त

ही नहीं कर सका, बल्कि उसे व्यंग्यात्मक, हास्य प्रधान आदि शैलियों में व्यक्त किया। इस युग में उपन्यास, कहानी, नाटक आदि सभी गद्य-रूपों का विकास हुआ।

(२) खड़ी बोली पद्य का विकास :—आधुनिक युग के पूर्ववर्ती युगों में पद्य साहित्य में कभी डिंगल का प्रयोग हुआ, कभी ब्रज का, कभी अवधी का और कभी ब्रज और अवधी दोनों का। आधुनिक युग के द्विवेदी काल में आकर पद्य की भाषा खड़ी बोली हो जाती है। ब्रज भाषा में भी पद्य साहित्य लिखा गया, किन्तु कम।

खड़ी बोली व्यावहारिक और जनप्रचलित थी। द्विवेदी जी ने इसमें ही काव्य लिखने का उपदेश दिया, क्योंकि इसके माध्यम से कवि अपने भावों को सरलता-पूर्वक पाठकों के हृदय तक पहुँचा सकते थे। इस उद्देश्य से द्विवेदी जी ने पद्य में भी खड़ी बोली का प्रयोग किया और दूसरे कवियों को भी खड़ी बोली में कविता लिखने के लिये निमन्त्रित किया। इस आमन्त्रण को अनेक कवियों ने स्वीकार किया और खड़ी बोली-पद्य साहित्य के विकास में योगदान दिया। विभिन्न भाव नाना प्रकार की शैलियों में पद्य में भी व्यक्त हुए। छायावाद, रहस्यवाद तथा प्रगतिवाद आदि काव्य खड़ी बोली पद्य के विकास-चिह्न हैं।

(३) राष्ट्रीयता का विकास :—राष्ट्र और मातृभूमि प्रेम जन्म से ही मानवों में विद्यमान होता है, किन्तु हिन्दी साहित्य में मानवों का यह प्रेम वीरगाथाकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल में स्पष्टतः व्यक्त नहीं हो सका। आधुनिक काल की परिस्थितियाँ राष्ट्र-प्रेम का आह्वान करने लगीं और साहित्कारों ने भी राष्ट्र प्रेम को अभिव्यक्ति देना प्रारम्भ किया।

राष्ट्रप्रेम के उद्घोषकों में सबसे पहले भारतेन्दु ने कदम बढ़ाया। अपने देश, अपनी भाषा और अपनी जाति के विकास के लिये उन्होंने भावात्मक प्रयास किया। अंग्रेजों की नीति का विरोध कर भारतीयता की स्थापना करने में भारतेन्दु एवं भारतेन्दु काल के अन्य साहित्यकारों का प्रयास प्रशंसनीय रहा। द्विवेदी युग, प्रसाद युग और प्रगतिवादी युग के साहित्यकारों ने राष्ट्रीयता की ध्वनि को सर्वव्यापक बना दिया। माखन लाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा नवीन, मैथिलिशरण गुप्त, प्रसाद, दिनकर आदि कवियों की वाणी में राष्ट्र-प्रेम का नारा सुनाई पड़ रहा है।

(४) जीवन से सम्बन्धित साहित्य :—साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। जीवन की परिस्थितियों का चित्र किसी युग के साहित्य पर पड़ना ही है। वीरगाथा काल संघर्षों का युग था अतः वीरगाथा कालीन साहित्य में युद्धों का चित्रण है। भक्तिकाल ईश्वरोपासना का युग था अत भक्तिकालीन

साहित्य में राम, कृष्ण तथा ब्रह्म के स्वरूप की वन्दना हुई। रीतिकाल यशोगान तथा शृङ्गार-प्रियता का युग था, अतः इस युग के साहित्य में राजाओं को प्रसन्न करने के उद्देश से चित्रित शृङ्गारिक चित्र मिलते हैं। आधुनिक युग में राष्ट्र संकट में था। रूस, अमेरिका, इटली और जर्मनी की राजनीतिक क्रान्तियों से भारत प्रभावित हुआ और इस देश के साहित्यकारों को भी प्रेरणा मिली। देश की परिस्थितियों तथा पाश्चात्य क्रान्तियों के प्रभाव से हमारे साहित्यकारों ने साहित्य में भी जीवन की परिस्थितियों को चित्रित किया। सबसे पहले भारतेन्दु ने साहित्य को जीवन से जोड़ा। समाजसुधार और राष्ट्रोन्नति की पुकार गूंज उठी। द्विवेदी जी के सहयोगियों ने जीवन का यथार्थ निरूपण किया। प्रेमचन्द जी ने कृषकों की दयनीय-दशा तथा जमींदारों के अत्याचार का सत्य और यथार्थ अंकन किया। दिनकर, यशपाल आदि ने जीवन की विषमताओं का आर्थिक धरातल पर विवरण प्रस्तुत किया। इस प्रकार सामाजिक, आर्थिक धार्मिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक सभी परिस्थितियों का वर्णन करने के लिए आधुनिक साहित्य सचमुच विशिष्ट साहित्य है।

आधुनिककाल : विशेषताएँ

(१) खड़ी बोली-गद्य का विकास
(२) खड़ी बोली-पद्य का विकास
(३) राष्ट्र प्रेम का प्रचार
(४) जीवन से सम्बन्धित साहित्य
(५) प्रकृति का सुन्दर चित्रण
(६) व्यक्तिगत जीवन का वर्णन
(७) मनोवैज्ञानिक चित्रण
(८) रूपकत्व एवं प्रतीकात्मक शैली
(९) आनन्द की सृष्टि
(१०) बुद्धि का परिचय
(११) मार्क्सवादी साहित्य

(५) **प्रकृति का सुन्दर चित्रण** :—रीतिकाल ने प्रकृति की स्वतन्त्रता को नष्ट कर दिया था। प्रकृति, प्रेम और शृङ्गार के भावों को उद्दीप्त करने में सफल सिद्ध हुई। कालिदास की प्रकृति शृङ्गारिकता में बंध गई। आधुनिक साहित्य के

प्रकृति को कारागार से मुक्त किया। प्रकृति का सौन्दर्य बोलने लगा। प्रात:काल का चित्र सबको हँसाने लगा और कोयल सबको आनन्दित करने लगी। हरिऔध का स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण कितना मोहक है, इसका सहज अनुमान आप इस उदाहरण से लगा सकते हैं :—

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती, कमलिनी कुल-वल्लभ की प्रभा॥

प्रसाद, पन्त तथा डा० रामकुमार वर्मा की रचनाओं में प्रकृति का रमणीय और प्रभावक चित्र स्थान-स्थान पर मिलता है। प्रसाद जी के पद्य में भी प्रकृति की सुन्दर हँसी खिलखिला रही है। उनके काव्य में प्रकृति के रमणीय पक्ष को लेकर सुन्दर और रूपमय गाने हैं। जैसे- बीती विभावरी जागरी।

अम्बर-पनघट में डुबो रही ताराघट उषा नागरी।

इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी प्रकृति के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। प्रकृति के कोमल चित्रण में सफलता प्राप्त करने के लिये ही पन्त जी को 'प्रकृति का सुकुमार कवि' कहा गया है।

(६) व्यक्तिगत जीवन का वर्णन : प्रत्येक युग का साहित्यकार अपने युग की गतिविधियों से प्रभावित होता है, प्रभावित ही नहीं बल्कि अनुप्रेरित भी होता है। भारतीय साहित्य में भी साहित्यकारों ने अपने समाज के विभिन्न क्षेत्रों का चित्रण किया। भारतीय परम्परा के अनुसार यह चित्रण उचित था।

आधुनिक युग के छायावादी काव्य में परम्परा के विपरीत एक नयी परम्परा स्थापित हुई। व्यक्तिगत जीवन के प्रेम, दुख आदि का चित्रण हुआ। व्यक्तिगत जीवन की करुण कहानी रहस्यात्मक और अव्यक्त रूप में हमारे साहित्य में मुखरित हुई। आँसू जैसा मानवीय विरह काव्य इसी युग में लिखा गया।

(७) मनोविज्ञान के प्रति रुचि :—मनोविज्ञान, मानव-मन का अध्ययन प्रस्तुत करता है। यह साहित्य को अधिक प्रभावक और आकर्षक बनाता है। चरित्रों का जबतक मनोवैज्ञानिक विवेचन नहीं होता तबतक उनका चित्रण चित्ताकर्षक और यथार्थ नहीं होता। आधुनिक साहित्य प्रत्येक चरित्र का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। मनोवैज्ञानिकता का विकास करने में जैनेन्द्रजी एवम् इलाचन्द्र जोशी का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

(८) रूपकत्व एवम् प्रतीकात्मक शैलियों का प्रयोग :—रूपकत्व और प्रतीकात्मकता आधुनिक युग की प्रमुख काव्य शैलियाँ हैं। छायावादी काव्य की ये प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस युग के साहित्य ने प्रकृति, मानव, जीव, जन्तु सबका एक रूप खड़ा कर दिया है। प्रसाद जी ने प्रात:काल का कितना सुन्दर रूप वर्णित किया है, इसका परिचय हमें उनके छायावादी काव्य से मिलता

है। 'अम्बर पनघट में डुबो रही ताराघट उषा-नागरी' में रूपक अलंकार के माध्यम से प्रकृति का रूप चित्रित किया गया है। अम्बर को पनघट का रूप दिया गया है तो उषा को नागरी का।

रूपकत्व के अतिरिक्त प्रतीकों का प्रयोग भी इस युग की काव्यगत विशेषता है। यहाँ सन्ध्या, दुःख का प्रतीक है तो प्रातः या उषा सुख एवं आनन्द का। फूल सुख के अर्थ में, शूल दुःख के अर्थ में, झंझा झकोर-गर्जन मानसिक द्वन्द्व के अर्थ में, नीरद-माला नाना भावनाओं के अर्थ में प्रयुक्त हुए।

(९) आनन्द की सृष्टि :— आधुनिक साहित्य सदैव जीवन को आनन्द की ओर जाने की प्रेरणा देता है। छायावादी एवम् कुछ और कलाकारों ने जीवन को मंगलमय बनाने की चेष्टा की है। इनका चित्रण कहीं भी अमंगलमय नहीं हुआ है। समाज का यथार्थ चित्रण कर पुनः कल्याण की ओर जाने का सन्देश भी इस साहित्य के द्वारा हमें मिलता है। जीवन के संघर्षों का चित्रण कर स्वयम् प्रसाद जी ने भी आनन्द की सृष्टि की है। उनकी 'कामायनी' कृति में अन्तिम सर्ग 'आनन्द' इसी विशेषता की ओर लक्ष्य करता है। बच्चन जी भी जीवन को आनन्दमय बनाने की कल्पना करते हैं।

(१०) अति बौद्धिकता—आधुनिक युग की कला-कृतियों एवम् इसके कलाकारों में अत्यन्त अधिक बौद्धिकता है। प्रत्येक नया कवि या नया साहित्यकार अपनी रचनाओं में अपनी बौद्धिकता का परिचय देता है। पुराने आलोचक और लेखक भी इस बुद्धि-सम्पन्न ज्ञान-दान से परे नहीं हैं। उनकी आलोचनाएँ भी कहीं कहीं सौन्दर्य-बोध कराने में असमर्थ हो जाती हैं। प्रयोगवादी साहित्य में बौद्धिकता की अधिकता है। इस बुद्धिवाद की प्रधानता के कारण ही नयी कविता स्पष्ट है।

हिन्दी के अन्य युगों की कविता सीधे-सादे ढंग से भावों को व्यक्त करती थी। आज कई कारणों से साहित्य नाना प्रकार की शैलियों तथा नाना प्रकार के भावों को व्यक्त कर रहा है। कविता, आलोचना, निबन्ध, आदि सभी विधाओं में आज बुद्धिवाद का चमत्कार ही दिखाई देता है।

आधुनिक युग की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त, दुःख की अधिकता, प्रकृति में चैतन्यता, रहस्यात्मकता, मार्क्सवादी सिद्धान्त की झलक, कलाप्रियता, हास्य की सृष्टि, मुक्त छन्द का प्रचार, आदि कई विशेषताएँ देखी जाती हैं। आधुनिक युग की किसी न किसी विधा में ये विशेषताएँ किसी न किसी रूप में देखी जाती हैं।

आज के साहित्य में मार्क्सवाद का प्रभाव भी देखा जाता है। अर्थ की विषमता के प्रति विरोध का भाव सर्वसाधारण का भाव बन गया है। आलो-

में पद्य का सर्वथा ह्रास हो गया था इस युग में पद्य और गद्य साथ साथ चलते रहे। दोनों का विकास होता रहा।

गद्य का प्रारम्भ हिन्दी साहित्य में बहुत पहले से ही माना जाता है। गोरखनाथ ने भी गद्य लिखा था। सं० १४०० के आस पास कुछ गोरख पन्थी साहित्य व्रजभाषा में मिलता है। इसके अतिरिक्त महाप्रभु वल्लभाचार्य ने व्रजभाषा गद्य में 'शृंगार-रस मण्डन' लिखा। उनके पौत्र श्री गोकुलनाथ ने व्रज-भाषा में प्रचुर वार्ता साहित्य (चौरासी वैष्णवों की, दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता) प्रस्तुत किया।

व्रजभाषा गद्य की कोमलता आधुनिक युग के संघर्षमय भावों को प्रस्तुत करने में असमर्थ थी। खडी बोली जनता की बोली थी। इस बोली में साहित्य की रचना से देश को अधिक लाभ हो सकता था। अंग्रेजों ने भी अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए खडी बोली को उपयुक्त समझा। पादरियों ने भी अपनी बाइबिल का अनुवाद पहले-पहल खडी बोली हिन्दी में किया। शासन की सुव्यवस्था के लिए जन साधारण से सम्बन्ध-स्थापना की आवश्यकता पडी। सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकता था जब अंग्रेज भी हिन्दी पढते और समझते। इसीलिए अंग्रेजों ने फोर्टविलियम के मदरसे में उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी भाषा (खडी बोली) के अध्यापन और अध्ययन का प्रबन्ध किया।

खडी बोली गद्य का प्रारम्भ यद्यपि अमीर खुसरो की मुकरियों से माना जाता है, किन्तु उस समय का गद्य केवल नाममात्र के लिए था। खुसरो ने स्थान-स्थान पर कहा है बूझो तो जानूँ। यह सिद्ध करता है कि खडी बोली का प्रारम पहले ही हो चुका था किन्तु यह खडी बोली साहित्यिक नहीं थी। इसे साहित्यिक रूप आधुनिक युग में दिया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में वास्तविक रूप में हिन्दी गद्य का सूत्रपात हुआ। इस समय तक साहित्य में व्रजभाषा का ही प्राधान्य था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक और कुछ बाद तक की कई पुस्तकों की टीकाएँ व्रजभाषा के गद्य में लिखी गईं। परन्तु यह गद्य साहित्यिक नहीं बन सका। खडी बोली गद्य ही अन्त तक साहित्य का महत्वपूर्ण और प्रभावशाली वाहन बना। फोर्टविलियम कालेज के हिन्दी उर्दू के अध्यापक जान गिलक्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू में पुस्तकें लिखाने का प्रयत्न किया। गिल्काइस्ट ने कुछ भाषा मुन्शियों की नियुक्ति की। भाषा मुन्सियों में श्री लल्लू लालजी और सदल मिश्र ने हिन्दी गद्य में पुस्तकें लिखी।

फोर्ट विलियम कालेज ने हिन्दी के विकास में योग अवश्य दिया, पर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि फोर्ट विलियम कालेज में ही गद्य का सूत्रपात हुआ।

फोर्ट विलियम कालेज के भाषा मुन्शियों के पूर्व ही दिल्ली निवासी मुन्शी सदासुख-लाल और इंशाअल्ला खाँ ने हिन्दी गद्य में पुस्तक लिखना शुरू कर दिया था।

खड़ी बोली गद्य के प्रारम्भिक लेखकों में मुन्शी सदासुख लाल, मुन्शी इंशा-अल्ला खाँ, लल्लू लाल जी तथा सदल मिश्र के अतिरिक्त राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मण सिंह का भी नाम गौरव के साथ लिया जाता है।

मुन्शी सदासुख लाल 'नियाज' :—वे 'नियाज' उपनाम से प्रसिद्ध थे। ये दिल्ली निवासी थे। चुनार में सरकारी पद पर आसीन रहकर इन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत किया। इनके जीवन के अन्तिम दिन प्रयाग में भगवत भजन में व्यतीत हुए। ये उर्दू और फारसी के अच्छे लेखक और सुकवि थे। भाषा की दृष्टि से इनका बहुत महत्त्व है। उर्दू के लेखक होते हुए भी इन्होंने तत्कालीन पंडिताऊ भाषा का जो वास्तविक लोक प्रचलित भाषा थी, व्यवहार किया। इसकी भाषा कुछ निखरी हुई और सुव्यवस्थित है। भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग मिलता है। अपनी सबसे अधिक महत्व-पूर्ण पुस्तक 'सुखसागर' के अतिरिक्त मुन्शी जी ने 'ज्ञानोपदेश माला' नामक पुस्तक विष्णु पुराण के आधार पर लिखी जिसका अपूर्ण रूप ही उपलब्ध है। सदासुख लालजी की भाषा में सहज प्रवाह, स्वाभाविकता और स्पष्टता है। इनकी भाषा का एक उदाहरण देखिये 'यद्यपि ऐसा विचार से हमलोग नार्ग तक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य हो उसे कहना चाहिये, कोई बुरा माने कि भला माने।'

मुन्शी इंशाअल्ला खाँ :—फोर्ट विलियम कालेज के बाहर स्वतन्त्र रूप से हिन्दी गद्य लेखकों में मुन्शी इंशाअल्ला खाँ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी गद्य के सूत्रपात में इन्होंने योगदान दिया। इन्होंने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम 'रानी केतकी की कहानी' या 'उदयभानु-चरित' है। इनका उद्देश्य एक भाषा में लिखने का था, जिसमें हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट न हो। ये संस्कृत मिश्रित भाषा से बचना चाहते थे।

इंशाअल्ला खाँ फारसी के बड़े विद्वान थे और उर्दू के शायर भी। इनका जन्म मुर्शिदाबाद में सन् १७६४ में हुआ था और इनकी मृत्यु सन् १८१७ में हुई। ये दिल्ली के शाह आलम द्वितीय के दरबार में रहे। तत् पश्चात ये लखनऊ में नवाब के यहाँ आकर रहने लगे। मुर्शिदाबाद, दिल्ली और लखनऊ तीनों स्थानों पर शाही दरबारों में इन्होंने पर्याप्त मान तथा धन प्राप्त किया। हिन्दी में इनकी कीर्ति का आधार स्तम्भ है—'उदय भानु चरित' अथवा 'रानी केतकी की कहानी।'

इंशाअल्ला खां का उद्देश्य हिन्दी को ऐसा रूप प्रदान करना था जिसमें एक ओर तो हिन्दी का प्रकृति-रूप बना रहे और दूसरी ओर संस्कृत के तत्सम तद्भव रूपों की भरमार न हो। कुछ अंशों तक इंशा को इस कार्य में सफलता मिली, पर आगे चलकर 'हिन्दी की छुट' वाले आदर्श को खाँ निभा नहीं सके। इतना होते हुए भी यह स्वीकार करने में किसी को सन्देह नहीं होगा कि इंशाअल्ला खाँ की भाषा प्रारम्भिक गद्य लेखकों में सबसे अधिक रोचक, चटकीली, सजीव, मुहावरेदार और चलती हुई थी। हिन्दी गद्य के विकास में उन्होंने एक नवीन शैली को जन्म दिया। इनकी भाषा में काफी कलाकारी भी प्रकट होती है। यथा—

'सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सबको बनाया।' यह खड़ी बोली गद्य का विकसित उदाहरण है। मुसलमान होकर भी इंशा ने खड़ी बोली गद्य को स्थापित करने का बीड़ा उठाया, अतः हिन्दी गद्य लेखकों तथा हिन्दी साहित्य में उन्हें अवश्य ही गौरवपूर्ण महत्व मिलना चाहिए।

लल्लू लाल जी :—लल्लूलाल जी का जन्म सन् १७६४ में एवं स्वर्गवास १८२६ में हुआ। ये आगरे के गुजराती ब्राह्मण थे। हिन्दी, संस्कृत और गुजराती के ये जानकार थे। फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता, के अध्यक्ष जान गिलक्राइस्ट के आदर्श से उन्होंने 'प्रेमसागर' की रचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'सिंहासन बतीसी' 'सकुन्तला नाटक' और 'माधोनल' की भी रचना की। कुछ लोगों का कहना है कि सिंहासन बतीसी, शकुन्तला नाटक और 'माधोनल, के लेखक लल्लूलाल जी नहीं हैं। जो कुछ भी हो लल्लूलाल जी का हिन्दी साहित्य में महत्व अवश्य है। उनकी कीर्ति का स्तम्भ है—'प्रेमसागर'। हिन्दी खड़ी बोली गद्य के विकास में इस पुस्तक का बहुत बड़ा महत्त्व है। इनकी भाषा सुव्यवस्थित है, पर स्थान स्थान पर शब्द के विकृत रूप भी मिलते है। इनकी भाषा में तुक और अनुप्रास का बाहुल्य सा है। इनके वाक्य कहीं-कहीं बड़े हो गये है और मुहावरों का प्रयोग कम है। प्रेमसागर में फारसी और तुरकी के शब्द भी बीच बीच में आ गये हैं। इनकी भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव भी दिखलाई देता है। इतना होने पर भी लल्लूलालजी की भाषा में लालित्य काफी आ सका है।

सदल मिश्र :—सदल मिश्र (सं० १८३१-१९०६) बिहार प्रान्त के अन्तर्गत आरा जिला के निवासी थे। लल्लूलाल जी की भाँति वे भी फोर्ट विलियम कालेज में भाषा मुन्शी थे। इन्होंने गिलक्राइस्ट के कथनानुसार 'नासिकेतोपाख्यान', का अनुवाद चन्द्रावली के नाम से किया। इन्होंने व्यावहारिक खड़ी बोली का

प्रयोग किया। इनकी भाषा में पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। इनकी भाषा में अधिक प्रवाह है। इस भाषा को बाद की साहित्यिकभाषा का मार्गदर्शक कहा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गद्य की एक साथ परम्परा चलाने वाले उपर्युक्त चार लेखकों में से आधुनिक हिन्दी का पूरा-पूरा आभास मुन्शी सदासुख और सदल मिश्र की भाषा में ही मिलता है। इन दो में भी सदासुख लाल की भाषा अधिक महत्त्व की है।

उक्त चार गद्य लेखकों के अतिरिक्त राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह स्वामी दयानन्द, श्रद्धाराम फुलौरी, आदि महानुभावों की रचनाओं से भी खड़ी बोली का बड़ा कल्याण हुआ। इन चार महारथियों के अतिरिक्त खड़ी बोली गद्य के विकास में ईसाइयों के धर्म प्रचारकों का भी हाथ रहा।

स्वामी दयानन्द :—बङ्गाल में राजाराम मोहन राय ने 'वेदान्त सूत्रों' का भाष्य ग्रन्थ तथा 'बङ्गदूत' नामक हिन्दी पत्र के द्वारा हिन्दी भाषा की सेवा की। इस समाज-भक्त की ही भाँति गुजरात निवासी स्वामी दयानन्द जी ने भी खड़ी बोली हिन्दी के विकास में सहायता पहुँचायी। स्वामी जी यद्यपि संस्कृत के धुरन्धर विद्वान थे तथापि उन्होंने अपने लोकविख्यात ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' को हिन्दी खड़ी बोली गद्य में ही सन् १८७८ में प्रकाशित कराया। स्वामी जी के कारण पंजाब में खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार हुआ। इनके गद्य में साहित्यिकता तो कम मिलती है किन्तु इसमें तर्क तथा व्याख्यान की प्रभावशाली शक्ति अवश्य मिलती है।

श्रद्धाराम फुलौरी :—राजा राममोहन राय तथा स्वामी दयानन्द के अनुरूप ही आगे चलकर श्रद्धाराम फुलौरी ने हिन्दी भाषा और धर्महित विषयक आन्दोलन जारी रखे। श्रद्धाराम फुलौरी पंजाब निवासी थे। सम्माननीय कथा-वाचक होने के साथ ही आप बड़े प्रभावशाली व्याख्यानदाता थे। आपने हिन्दी काव्य, उपन्यास एवम् निबन्ध सभी कुछ लिखा। इनकी अन्य पुस्तकों में 'आत्म-चिकित्सा' 'तत्वदीपक' 'धर्मरक्षा' आदि प्रसिद्ध हैं। इनका गद्य सुलझा हुआ और प्रौढ़ तो है ही साथ ही उसमें कठिन आध्यात्मिक तथ्यों को सरल भाषा में प्रकट कर देने की पूर्ण क्षमता भी है।

राजा शिवप्रसाद :—राजा शिवप्रसाद का जन्म सं० १८०० में काशी में हुआ। इनका परिवार बहुत ही शिक्षित था। १६ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी, बङ्गला, हिन्दी तथा उर्दू भाषा की अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। अंग्रेजों की नीति का भलीभाँति समर्थन करने के कारण इन्हें सं० १९१३ में सरकारी इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स के पद पर नियुक्त किया

गया। इस पद पर रहकर इन्होंने हिंदी भाषा का प्रचार तथा प्रसार किया, इसीलिये हिन्दी के विकास में इनका नाम श्रद्धा से लिया जाता है। इन्होंने 'राजा भोज का सपना' नामक ग्रन्थ खड़ी बोली गद्य में लिखा। इस पुस्तक में खड़ी बोली गद्य का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया। बाद में चलकर राजा साहब की हिन्दी में उर्दू के अधिक शब्द आने लगे। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने उर्दू-हिंदी की खिचड़ी पकाई। कुछ विद्वानों का ऐसा भी कथन है कि राजा साहब अपने समय की अंग्रेजियत की पद प्रशंसा एवं प्रतिष्ठा की बाढ़ में बह चुके थे। इतना होने पर भी, राजा की हिन्दी सेवा को भुलाया नहीं जा सकता। 'उनकी मानव धर्म सार' नामक पुस्तक तथा उनके 'बनारस' अखबार से खड़ी बोली हिन्दी के विकास में बड़ी सहायता मिली।

राजा लक्ष्मण सिंह :—राजा लक्ष्मण सिंह का जन्म आगरे में सं० १८२६ में हुआ। बचपन में इन्हें संस्कृत तथा फारसी की शिक्षा मिली। बाद में इन्होंने अंग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। इन्होंने कई रूपों में राजसेवा की, कभी अनुवादक के रूप में, कभी डिप्टी कलक्टर के रूप में और कभी पहले दर्जे के डिप्टी कलक्टर के रूप में।

राजा लक्ष्मण सिंह ने राजा शिवप्रसाद की उर्दू मिश्रित हिन्दी का विरोध कर शुद्ध तथा संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार किया। इन्होंने संस्कृत-गर्भित हिन्दी के प्रचार के लिए सबसे पहले संस्कृत की प्रसिद्ध पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया। इन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', मेघदूत' तथा 'रघुवंश' का अनुवाद संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली हिन्दी में किया। राजा साहब के 'शकुन्तला' नाटक में हिन्दी भाषा का साहित्यिक स्वरूप देखने में आता है। जनता तक शुद्ध खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार करने के लिये उन्होंने आगरे से 'प्रजा हितैषी' नामक एक पत्र सम्पादित किया। इस प्रकार राजा लक्ष्मण सिंह ने खड़ी बोली गद्य को एक ऐसी सीमा पर खड़ा कर दिया जहाँ से नित्यप्रति उसका विकास ही होता चला गया।

१८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जो कुछ साहित्य के नाम पर खड़ी बोली हिन्दी गद्य में लिखा गया, वह सब ललित साहित्य की कोटि में ही रखा जा सकता है। ललित साहित्य का प्रारम्भ तो भारतेन्दु से होता है।

हिन्दी गद्य के प्रचार, प्रभाव एवं प्रसार की दृष्टि से हम आधुनिक गद्य-साहित्य को चार कालों में विभाजित करते हैं :

(१) भारतेन्दु युग (सन् १८६८ से १८८८ तक)
(२) सन्धि युग (सन् १८८९ से १९०२ तक)

(३) द्विवेदी युग (सन् १६०३ से १६३६ तक)

(४) प्रगतिशील या वर्तमान युग (सन् १६३६ से आज तक)

उपर्युक्त विभाजन प्रो० जीवन प्रकाश जोशी का है। यह विभाजन यद्यपि उचित है फिर भी छात्रों को भ्रम में डालने वाला है, अतः खड़ी बोली हिन्दी गद्य साहित्य को निम्नलिखित युगों में सुविधा की दृष्टि से बाँटा जा सकता है :

(१) प्रथम चरण : भारतेन्दु युग

(२) द्वितीय चरण : द्विवेदी युग

(३) तृतीय चरण : यौवन युग

(४) चतुर्थ चरण : उत्तर छायावाद युग

प्रथम चरण (भारतेन्दु युग) :—भारतेन्दु युग के प्रारम्भिक क्षणों में भारत की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियाँ विषाक्त हो गई थीं। आर्थिक दृष्टि से भी हमारा देश पतन की ओर जा रहा था। कला और व्यवसाय भी पाश्चात्य के प्रभाव से दबता जा रहा था।

सन् १८५७ के बाद अंग्रेजी हुकूमत का सिक्का चालू हो गया। सन् १८५७ का गदर भी असफल सिद्ध हुआ। राष्ट्रीयता की भावना भारतीयों में जड़ पकड़ती जा रही थी। ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार से भारतीयों को ईसाइयत के आकर्षण से बचाकर प्राचीन वैदिक धर्म की ओर झुकाया जा रहा था। भारत का पेट भर रहा था किन्तु उसका बल घटता जा रहा था। सतोष की आड़ में आलस्य एवं प्रमाद पनप रहा था। भारतेन्दु युग में इस प्रकार भारत की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियाँ विषाक्त थीं।

उपर्युक्त परिस्थिति में भारतेन्दु एवं भारतेन्दु मण्डली के साहित्यकार यदि अपने राष्ट्रीय गौरव, देश-प्रेम एवं जातीय विकास का सन्देश नहीं देते तो क्या देते ? इन सभी संघर्षों के फलस्वरूप भारतेन्दुकालीन साहित्यकारों ने देश की तत्कालीन परिस्थिति का चित्रण कर लोगों को देश-प्रेम, समाज-प्रेम एवम् भाषा-प्रेम आदि के उपदेश दिये। इन साहित्यकारों का लक्ष्य युग सुधार एवम् युग-सुविधा की ओर था। इनका उद्देश्य खड़ी बोली गद्य को युग के अनुरूप आगे बढ़ाना भी था। इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति भारतेन्दु ने की और अपने साहित्य के द्वारा भारत के अतीत गौरव का चित्रण कर, समाज की अवनति का अश्रुप्लावित चित्रणकर तथा देश-सुधार तथा समाज सुधार का व्यापक संदेश दे अपना जातीय कर्तव्य निभाया। यही कारण है कि भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी गद्य ही नहीं बल्कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक माने जाते हैं।

भारतेन्दु मण्डली के साहित्यकारों का साहित्य जन-कल्याणवादी और सुविधावादी साहित्य था। अतः इस साहित्य की भाषा अधिक पुष्ट और प्राञ्जल

न हो सकी। भारतेन्दु का दृष्टिकोण यह रहा कि भाषा का प्रयोग ऐसा होना चाहिये जिसको सभी अपना सकें। उन्होंने प्रचलित उर्दू शब्दों तथा संस्कृत के तद्भव और तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया। इतना होने पर भी इस युग के लेखकों ने बड़े साहस से इस समय खड़ी बोली गद्य-साहित्य-सृजन का ओर दिखलाया।

भारतेन्दु मंडल के गद्यकारों में निम्नलिखित व्यक्तियों का विशेष महत्व है— ठाकुर जगमोहन सिंह प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, श्री निवास दास, किशोरीलाल गोस्वामी, बद्री नारायण चौधरी (प्रेमघन), आदि। इन सभी साहित्यकारों को दिशा देने वाले भारतेन्दु हैं, अतः इनका परिचय अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए। इनके अतिरिक्त अन्य गद्यकारों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीनिवास दास, बद्रीनारायण चौधरी आदि का परिचय प्राप्त करना भी आवश्यक है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :—भारतेन्दु का जन्म काशी में सन् १८५० ई० में हुआ था। इनके पिता गोपालचन्द्र उपनाम गिरधरदास उच्च कोटि के सच्चे कवि थे। इन्हें माता पिता का स्नेह अधिक दिनों तक नहीं मिल सका। १५ वर्ष की अवस्था में ही इनकी शिक्षा का क्रम टूट गया। इनकी मृत्यु सन् १८८४ में हो गई। इस अल्प आयु में ही भारतेन्दु ने साहित्य की बहुत सेवा की। इन्होंने लगभग दो सौ पुस्तकों की रचना की। ये लगभग बीस भाषाओं के ज्ञाता थे। साहित्य के क्षेत्र में कोई भी ऐसी शैली और रूप नहीं छोड़ा जिसको अपनाकर उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय न दिया हो। गद्य के रूपों में इन्होंने नाटक, निबन्ध, उपन्यास सभी कुछ लिखे। गद्य रूपों में पत्र-पत्रिकाएँ भी इनके द्वारा सम्पादित हुई। ये कवि भी थे। इनका कवि स्वरूप काव्य के विकास में वर्णित होगा। यहाँ इनके गद्यात्मक स्वरूप का वर्णन ही आवश्यक है।

नाटककार के रूप में भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' 'अन्धेर नगरी' 'विषस्य विषमौषधम्' 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' 'नीलदेवी' 'सत्य हरिश्चन्द्र' आदि नाटक दिये।

भारतेन्दु जी हमारे सामने निबन्ध लेखक तथा इतिहास लेखक के रूप में भी आते हैं। इनके निबन्ध में 'हम मूर्ति पूजक हैं; 'सूर्योदय' 'होली' आदि प्रसिद्ध हैं। इनके इतिहास ग्रन्थों में 'काश्मीर कुसुम' तथा 'महाराष्ट्र देश का इतिहास', मुख्य हैं।

पत्रकार के रूप में भारतेन्दु जी ने कवि-वचन सुधा, हरिश्चन्द्र सुधा, बाल-बोधिनी आदि पत्रों का सम्पादन किया। इन पत्रों में उस युग के निबन्ध प्रकाशित हुए।

उपर्युक्त सभी रूपों में भारतेन्दु जी ने हिन्दी की अतुलनीय सेवा की। इनके प्रभाव से बहुत से लेखकों ने हिन्दी साहित्य में योग देना प्रारम्भ किया और इनके चारों ओर उज्ज्वल नक्षत्रों का एक मंडल बन गया।

बालकृष्ण भट्ट : - आपके पूर्वज मालवा के निवासी थे। आपकी माता भी सुशिक्षित थीं, अतः बचपन से ही आपकी रुचि विद्या-प्राप्ति की ओर रही। इन्हें मैट्रिक तक शिक्षा मिली। प्रयाग की कायस्थ पाठशाला के अध्यापक, हिन्दी प्रदीप के सम्पादक पं० बालकृष्ण भट्ट हिन्दी गद्यकारों में स्टील की भाँति स्मरण किये जाते हैं। इन्होंने अपने निबन्ध में स्थान-स्थान पर सुन्दर मुहावरों और कहावतों का प्रयोग किया है। 'हिन्दी प्रदीप' पत्रिका के द्वारा इन्होंने निरन्तर ३२ वर्षों तक हिन्दी गद्य साहित्य का सृजन किया। इनके निबन्ध में अच्छे व्यंग चित्र भी पाये जाते हैं। इनकी भाषा में अरबी और अंग्रेजी के शब्दों का भी व्यवहार हुआ है। इनके निबन्धों में इनकी विद्वत्ता झलकती है। निबन्धकारों में इनका स्थान महत्वपूर्ण है। इनके निबन्धों में 'कल्पना शक्ति' 'धर्म का महत्व' आदि प्रमुख हैं। इन्होंने सैकड़ों निबन्धों का सृजन कर हिन्दी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया।

प्रताप नारायण मिश्र :—(संवत् १९१३-१९५१) मिश्र जी मनमौजी, अलमस्त व्यक्तित्व के मजेदार व्यक्ति थे। उन्नाव उनकी जन्मभूमि थी और कानपुर उनका वासस्थान। इनके गद्य लेखन की शैली व्यंग और विनोदपूर्ण थी। इनके निबन्धों के विषय देश-दशा, तथा नागरी-हिन्दी प्रचार आदि हैं। इनके निबन्धों में मनोयोग' 'हमारी आवश्यकता' 'खुशामद' 'माँ' आदि प्रमुख हैं। ये नाटककार एवं पत्रकार भी हैं। इनके नाटकों में 'कलि कौतुक' 'गो-संकट' 'ज्वारी खुआरी' आदि उल्लेखनीय हैं। इन्होंने 'ब्राह्मण' पत्र के द्वारा हिन्दी भाषा, हिन्दी साहित्य तथा समाज सेवा की प्राण पण से चेष्टा की। इनकी खड़ी बोली हिन्दी में बैसवाड़ी, पूर्वी, एवं ब्रज शब्दों का प्रयोग हुआ है। जनता पर इनके निबन्धों का प्रभाव अन्य निबन्धकारों से अधिक रहा। मिश्र जी ने प्रायः १३ अनूदित पुस्तकें भी हिन्दी जगत् को दीं। इस प्रकार मिश्र जी की महत्ता स्वयं सिद्ध होती है।

लाला श्रीनिवास दास :—लाला जी का जन्म दिल्ली में स० १९०८ में हुआ। श्री निवास दास जी के लिखे चार ग्रन्थ मिलते हैं—'तप्ता-संवरण' 'संयोगिता स्वयम्वर' 'रणधीर प्रेम मोहिनी' तथा 'परीक्षा गुरु'। इन चार पुस्तकों में तीन नाटक हैं और एक उपन्यास। इनके 'परीक्षा गुरु' से ही हिन्दी उपन्यास-साहित्य का प्रारम्भ माना जाता है। इनकी मृत्यु २६ वर्ष की अवस्था में हो गई, नहीं तो इनके द्वारा हिन्दी साहित्य की और भी सेवा हुई होती।

लाला जी की भाषा सयत है। कहीं-कहीं पर आंचलिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। व्याकरण सम्बन्धी भूलों के रहते हुए भी इनकी भाषा अप्रभावक नहीं है। इनकी शैली—सवादात्मक तथा वर्णनात्मक है। गद्य के विकास में इन शैलियों का अधिक महत्व है।

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' :—प्रेमघन जी का जन्म मिरजापुर के एक अभिजात ब्राह्मण वश में स० १९१२ में हुआ था। इनकी मृत्यु स० १९७९ में बतलाई जाती है। उपाध्याय बद्री नारायण जी चौधरी नाटककार, लेखक और कवि के रूप में भारतेन्दु मडल में प्रतिष्ठित थे।

चौधरी साहब ने कई नाटक लिखे। इनके नाटकों में 'भारत सौभाग्य' 'प्रयाग समागम', 'वीराङ्गना रहस्य' (अपूर्ण) आदि प्रसिद्ध हैं। 'प्रेमघन' जी ने पत्रकार के रूप में 'आनन्द कादम्बिनी' का सफलतापूर्वक सम्पादन किया। इस पत्र में चौधरी जी के लेख प्रकाशित होते रहे। बाद में चल कर इन्होंने 'नागरी-नीरद' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला।

समालोचना का सूत्रपात भी चौधरी जी से माना जाता है। इन्होंने अपने पत्र कादम्बिनी में 'सयोगिता स्वयवर' की विस्तृत आलोचना की।

उपाध्याय जी की तबीयत रईसो की थी, पर उनकी शैली शिल्पी की भाँति। उनकी भाषा में भी रङ्गीनी की झलक मिलती है।

उपर्युक्त वर्णित साहित्यकारों के अतिरिक्त भारतेन्दु युग में **बाबू तोताराम, प० केशवभट्ट, प० राधाचरण गोस्वामी, प० अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास, ठाकुर जगमोहन सिंह** आदि साहित्यकारों ने हिन्दी खडी बोली गद्य के विकास में योग दिया।

द्वितीय चरण : द्विवेदी युग :—भारतेन्दु युग के पश्चात् द्विवेदी युग का आगमन होता है। इस युग में आते आते गद्य का स्वरूप कुछ बदल जाता है। अग्रेजी पढे लिखे व्यक्ति भी अब हिन्दी की सेवा में रत हो जाते हैं। हिन्दी में गद्य-लेखकों की सख्या बढने लगी। परिणाम यह हुआ कि भाषा इस धूम में बिगडने लगी। अच्छे-अच्छे लेखकों की भाषा में भी उर्दू, अग्रेजी, सस्कृत, फारसी आदि के शब्द आने लगे। लेखकों की ही भाँति अब हिन्दी में पाठकों की भी कमी नहीं रही। पाठकों के मनोरजन के लिए बगला के उपन्यासों के अनुवाद भी लिखे जाने लगे और लेख भी। हिन्दी में बंगला के शब्द आने लगे। अंग्रेजी पढे-लिखे लोगों के लेखों में अग्रेजी के शब्द आने लगे। इनके वाक्य भी अंग्रेजी के वाक्य जैसे ही होते थे। इनके वाक्यों को अग्रेजी पढे-लिखे लोग ही समझ सकते थे।

भारतेन्दु युग के साहित्यकारों ने व्याकरण के नियमों पर अधिक ध्यान नहीं दिया। इन्होंने वाक्य-विन्यास की सफाई पर भी ध्यान नहीं दिया। द्विवेदी युग में भी कुछ समय तक शब्द और वाक्य विन्यास की त्रुटि चलती रही, किन्तु बाद में महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से हिन्दी भाषा शुद्ध और परिष्कृत होने लगी। 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से द्विवेदी जी ने लेखकों को भाषा की अशुद्धियाँ दिखा दिखाकर उनको बहुत कुछ सावधान कर दिया।

इस उत्थान में विषय में भी विविधता आई। विषय के साथ-साथ शैली में भी अनेकरूपता आई। भाव, व्याकरण, अभिव्यंजना सारी दृष्टियों से इस युग का गद्य साहित्य भारतेन्दु युग से अधिक आगे बढ़ा। अब हिन्दी गहन, गम्भीर, सूक्ष्म और गूढ़ विचारों को व्यक्त करने में कुछ-कुछ समर्थ होने लगी।

इस युग में उपन्यास और कथा साहित्य का विकास हुआ। नाटक के क्षेत्र में अधिक उन्नति हुई। फिर भी कुछ उत्कृष्ट अनूदित और मौलिक नाटक इस युग के साहित्य में आये।

द्विवेदी युग के प्रमुख साहित्यकार

बाबू देवकीनन्दन खत्री :— बाबू देवकीनन्दन खत्री का जन्म काशी में संवत् १९१८ में हुआ। उनके पिता का नाम लाला ईश्वरी दास था। बाबू देवकीनन्दन, द्विवेदी युग से पूर्व 'नरेन्द्र मोहिनी' 'कुसुम कुमारी' तथा 'वीरेन्द्र वीर' नामक उपन्यास लिख चुके थे। द्विवेदी युग में इन्होंने 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' नामक उपन्यास लिखकर अत्यधिक ख्याति प्राप्त की। हिन्दी में उनकी कीर्ति के आधारस्तम्भ ये दो ऐयारी पूर्ण उपन्यास ही हैं। मुन्शी प्रेमचन्द के अनुसार इन उपन्यासों की प्रेरणा खत्री जी ने फारसी के 'तिलस्म होशरुबा' से प्राप्त की। 'तिलस्म होशरुबा' लगभग २०० पृष्ठों का एक विशालतम ग्रंथ है, जिसके रचयिता अकबर के प्रसिद्ध दरबारी फैजी माने जाते हैं।

इन उपन्यासों में मानव जीवन के राग द्वेष अथवा सामाजिक उत्थान-पतन का चित्रण नहीं मिलता। चरित्र-चित्रण का भी अभाव है। वास्तव में इनका उद्देश्य किसी 'किस्से' द्वारा जनता का मनोरंजन करना था और निस्सन्देह इन्हें अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में अभूतपूर्व सफलता भी मिली। उस समय में इससे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ कोई और दूसरा नहीं था। मनोरंजक कथानक के अतिरिक्त इन उपन्यासों की लोकप्रियता का एक कारण इनकी सरल सुबोध तथा सीधी-सादी भाषा थी। इनमें साहित्यिक हिन्दी के स्थान पर सरल हिन्दुस्तानी को अपनाया गया। इनके 'भूतनाथ' नामक उपन्यास ने भी पर्याप्त सफलता प्राप्त की।

महावीरप्रसाद द्विवेदी—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म रायबरेली जिले के दौलतपुर नामक ग्राम में संवत् १९२१ में हुआ। उन्होंने देहाती

मदरसे में उर्दू तथा संस्कृत पढने का प्रयत्न किया। बाद में अंग्रेजी पढ़ने के लिये वे रायबरेली के जिला स्कूल में चले गये। फिर चार वर्ष फतहपुर तथा उन्नाव के स्कूलों में लगाये। इधर घर की आर्थिक दशा बराबर बिगड़ती जा रही थी। अन्त में तार का (Telegraph) कार्य सीखकर २५ रु० मासिक की नौकरी कर ली। नौकरी करते हुए उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा। बङ्गला, मराठी तथा गुजराती भाषाएँ इसी नौकरी काल में ही सीख लीं। सन् १९०३ में उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन कार्य सम्भाला। यहीं से उनका साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हुआ। सं० १९९५ में उनका देहान्त हो गया।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के माध्यम से हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार में योग ही नहीं दिया वरन् कितने वर्षों तक पथ-प्रदर्शन किया। द्विवेदी जी के समय तक कविता के क्षेत्र में खड़ी बोली का राज्य स्थापित हो चुका था। वह शिक्षित वर्ग जो हिन्दी के प्रति उदासीन रहता था, इस ओर बढने लगा। स्वयं द्विवेदी जी की प्रेरणा से कितने लेखक इस क्षेत्र में आये। उपन्यास-सम्राट मुन्शी प्रेमचन्द तथा प्रसिद्ध कहानी लेखक सुदर्शन को उर्दू से हिन्दी में लाने का श्रेय द्विवेदी जी को ही प्राप्त है। इस प्रकार खड़ी बोली में पर्याप्त मात्रा में साहित्य-सृजन होना प्रारम्भ हो गया था पर अभी तक खड़ी बोली का एक रूप स्थिर न हो पाया था। कवि अपनी तुकांत सुविधा के लिये शब्दों के मनमाने रूप गढ लिया करते थे। व्याकरण सम्बन्धी भूलें तो रचनाओं में प्रायः यत्र तत्र रह जाती थीं। शब्दावली तथा वाक्य-विन्यास में प्रान्तीयता भी आ जाती थी। आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से खड़ी बोली का 'संस्कार' करके ही छोड़ा। उनके प्रयास से भाषा को व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध करने तथा एक निश्चित रूप करने के लिए स्वतन्त्र रूप से एक आन्दोलन हो खड़ा हो उठा। भाषा का आदर्श रूप जनता के सामने रखने के लिये द्विवेदी जी ने स्वयम् कविताएँ लिखीं। उन्होंने इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से दो विभिन्न शैलियों को अपनाया—संस्कृत गर्भित समास-पद्धति और सरल सुबोध, स्वतन्त्र पद्धति। तत्कालीन सभी साहित्यकारों पर उनके इस साहित्यिक नेतृत्व का पूरा प्रभाव पड़ा। 'हरिऔध' जी ने दोनों प्रकार की शैलियों में काव्य रचना की।

समालोचना के क्षेत्र में भी द्विवेदी जी ने नेतृत्व किया। यद्यपि भारतेन्दु युग में चौधरी बद्रीनारायण 'प्रेमघन' ने लाला श्री निवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना प्रस्तुत करके हिन्दी समालोचना का सूत्रपात कर दिया था पर अभी उसमें आपेक्षित संयम, विश्लेषणात्मकता एवं विविधता न आ पाई थी। द्विवेदी जी ने कई आलोचना-ग्रंथ लिखे और सर्वदा एक नवीन आलोचना पद्धति को जनता के सामने प्रस्तुत किया। उनके प्रसिद्ध आलोचना-ग्रन्थ हैं—

'नैषध-चरित चर्चा', 'हिन्दी कालिदास की समालोचना', लाला सीताराम की रचनाओं की आलोचना, 'नाट्य शास्त्र'; 'विक्रमांक-देव-चरित चर्चा'; 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति'; 'प्राचीन पण्डित और कवि' 'रसज्ञ रंजन'; 'साहित्य संदर्भ'; 'आलोचनांजलि 'समालोचना समुच्चय', 'साहित्य सीकर'। द्विवेदी जी उच्चकोटि के अनुवादक भी थे।

कामता प्रसाद गुरु :—सुप्रसिद्ध व्याकरणाचार्य कामता प्रसाद गुरु का जन्म संवत् १९३२ में सागर में हुआ था। हिन्दी के अतिरिक्त मराठी, बंगला, उड़िया, फारसी, अंग्रेजी तथा उर्दू भी उनको खूब आती थी। यद्यपि आज हिन्दी में वे व्याकरणाचार्य के रूप में ही याद किये जाते हैं तथापि वे उपन्यासकार, नाटककार, निबन्ध-लेखक एवं कवि भी थे। उनके प्रकाशित ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं 'सत्यप्रेम' उपन्यास), 'सुदर्शन' (नाटक), 'देशोद्धार' (निबन्ध-संग्रह) 'भौमासुर', ब्रजभाषा पद्य। 'विनय पचासा' (ब्रजभाषा पद्य, पुष्पावली' (खड़ी बोली काव्य)। व्याकरण तो उन्होंने कई लिखे : 'भाषा वाक्य' 'पृथक्करण' 'सहज हिन्दी रचना' 'हिन्दी व्याकरण'। संवत् २००५ में उनका देहान्त हो गया।

बालमुकुन्द गुप्त :—बालमुकुन्द गुप्त का जन्म संवत् १९२२ में रोहतक जिले के गुरयानी नामक ग्राम में हुआ था।

गुप्तजी हमारे सामने कई रूप में आते हैं। पत्रकार के रूप में सबसे पहले उन्होंने चुनार में 'अखबारे चुनार' नामक पत्र का सम्पादन किया। लाहौर पहुँचने पर उन्होंने 'कोहनूर' सम्पादित किया। कालाकांकर नरेश राजा रामपाल सिंह ने अपने प्रसिद्ध समाचार पत्र 'हिन्दी हिन्दोस्थान, के सम्पादक मंडल का इन्हें सभापति बना दिया था। कुछ दिनों के लिये गुप्त जी ने इसी पद पर काम किया था। बाद में अपने घर लौट आये। वहाँ पर 'बङ्गवासी' सम्वादपत्र के स्वामी से इनका परिचय हुआ बंगवासी सम्पादक बाबू अमृतलाल चक्रवर्ती ने इन्हें अपना सहकारी सम्पादक नियुक्त किया। देहली में सम्वत् १९६४ में इनका देहान्त हो गया।

गुप्तजी का व्यंग तथा विनोद उनके लेखों में अधिक खिला। वास्तव में हिन्दी में गुप्तजी की प्रसिद्धि का आधार उनके ये निबन्ध ही हैं। निबन्धकार के रूप में गुप्त जी की विशेषता है—किसी सामयिक अथवा राजनीतिक परिस्थिति को लेकर अत्यन्त आत्मीयता पूर्वक फड़कती हुई भाषा में अपनी विनोद तथा व्यंग शक्ति का परिचय देना। उनके इस प्रकार के निबंध 'शिवशम्भु का चिट्ठा' नामक ग्रन्थ में संग्रहीत हैं। इन निबन्धों की भाषा की सजीवता तथा व्यंग-विनोद की सूक्ष्मता देखने योग्य है। वास्तव में गुप्त जी स्वभाव से ही विनोदी थे। आचार्य द्विवेदी ने 'भाषा और व्याकरण' वाले अपने लेख में 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर ही उनसे छेड़-छाड़ शुरू कर दी।

किशोरीलाल गोस्वामी :—किशोरी लाल गोस्वामी का जन्म वृन्दावन में सम्वत् १९२२ में हुआ था। इनके पिता का नाम गोस्वामी वासुदेव लाल था।

गोस्वामीजी के ग्रन्थों की संख्या लगभग डेढ़ सौ है। इनमें से ६३ उपन्यास हैं। गोस्वामी जी की कीर्ति का आधार यही विशाल उपन्यास साहित्य है। इन उपन्यासों की सूची से पता चलता है कि किशोरी लाल जी ने तिलस्मी, ऐयारी, जासूसी, सामाजिक, तथा ऐतिहासिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया। सामाजिक उपन्यासों में सामाजिक जीवन की विविधता के चित्रण तथा विश्लेषण का अभाव है। ऐतिहासिक तथ्यों के निरूपण का स्थान प्रेम-गाथा वर्णन ने ले लिया है। वास्तव में इन उपन्यासों का उद्देश्य भी ऐयारी, तिलस्मी उपन्यासों की भाँति जनता का क्षणिक मनोरंजन करना ही है। गोस्वामी जी के कुछ प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम इस प्रकार हैं :—

'रजिया बेगम', मल्लिका देवी', 'जिन्दे की लाश', 'लखनऊ की कब्र' 'जड़ाऊ कंगन में लाल भुजग' तथा 'रोहितास गढ़ की रानी।'

गोस्वामी जी ने स्पष्ट रूप से दो शैलियों को अपनाया है। 'रजिया बेगम' नामक उपन्यास का वाक्य विन्यास, शब्दावली तथा अभिव्यक्ति का ढंग सभी कुछ उर्दू से प्रभावित है। इसके बिलकुल विपरीत 'मल्लिका देवी' में संस्कृत गर्भित समास पद्धति वाली शैली का उपयोग हुआ है। इन दोनों से दूर गोस्वामी जी ने जहाँ पर सीधी सच्ची भाषा को अपनाया है वहाँ पर उनकी शैली में अनोखी रोचकता आ गई है।

द्विवेदी युग के इन गद्यकारों के अतिरिक्त इस युग में गोपालराम गहमरी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, डा० श्यामसुन्दर दास, अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि साहित्यकारों का भी प्रमुख स्थान है। इनमें कुछ ने हिन्दी गद्य को नया रूप एवं नया प्रकार दिया। हिन्दी के विषय में इनका योग भी प्रशसनीय रहा।

तृतीयचरण : यौवनकाल :—आधुनिक हिन्दी साहित्य का तृतीय युग *साहित्यिक दृष्टि से प्रौढतम युग है। भाषा, भाव और शिल्प तीनों दृष्टियों से* यह काल प्रौढतम काल है। इस युग में उच्चकोटि के उपन्यास, निबन्ध, नाटक तथा कहानियाँ प्रस्तुत की गई। इस युग में अनेक कलाकारों की महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुई। इन रचनाओं पर हिन्दी जगत् को भी गर्व है।

इस युग का कथा यथार्थवादी है, नाटक साहित्य ऐतिहासिक है और आलोचना-साहित्य शास्त्रीय और सैद्धान्तिक है। यह युग उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द जी का है, नाटक के क्षेत्र में प्रसाद जी का और आलोचना के क्षेत्र में रामचन्द्र शुक्ल का।

द्विवेदी युग में गद्य की भाषा का रूप पर्याप्त परिमार्जित हो चुका था परन्तु फिर भी उसमें प्रौढ़ विषयों के अभिव्यक्तिकरण की क्षमता नहीं आ पायी थी। गद्य के विकास का पूर्ण और बहुमुखी रूप तृतीय चरण में पूर्ण हुआ। शैली के विकास की दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द और प्रसाद की शैलियाँ पूर्ण विकसित हैं। शुक्ल जी ने समास शैली तथा विश्लेषणात्मक शैली का प्रणयन किया। प्रेमचन्द जी ने सरल और मिश्रित गद्य का ऐसा स्वरूप उपस्थित किया जो जनसाधारण की भाषा का रूप था। व्याकरण की दृष्टि से यह युग बहुत आगे है। व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ मिलती अवश्य हैं पर कम। प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रसाद जी ने अपने नाटकों में अंकित किया। ऐतिहासिक नाटकों की सृष्टि होने लगी। समस्या-प्रधान नाटकों की ओर भी दृष्टि गई। समीक्षात्मक निबन्धों से गद्य का पूर्ण विकास हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तृतीय उत्थान काल में खड़ी बोली गद्य का पूर्ण विकास हुआ।

तृतीय चरण के प्रमुख गद्यकार :—तृतीय उत्थान काल के गद्यकारों में असंख्य साहित्यकार आते हैं, किन्तु इन सबका पथप्रदर्शन प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद और आ० रामचन्द्र शुक्ल करते हैं।

प्रेमचन्द :—प्रेमचन्द जी बनारस के पास ही एक गांव में उत्पन्न हुए थे। इनका परिवार बड़ा निर्धन था। आपका वास्तविक नाम धनपत राय था। मैट्रिक पास करते-करते उनकी आर्थिक स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि अपना निर्वाह वे पुरानी पुस्तक बेचकर भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने स्कूल में मास्टरी कर ली थी और स्कूलों के डिप्टी इन्सपेक्टर तक की अवस्था तक पहुच चुके थे। अन्त में इन्होंने नौकरी छोड़ दी और जीवन की अन्तिम घड़ियों तक संघर्ष का जीवन बिताया। ये दरिद्रता में जन्मे, दरिद्रता से ही जूझते-जूझते समाप्त हो गये। संघर्ष में जीवन व्यतीत करने पर भी इन्होंने इतना सुन्दर साहित्य दिया कि हिन्दी कहानी और उपन्यास क्षेत्र के नायक बन गये।

इनके पूर्व भी उपन्यास लिखे गये थे किन्तु उन उपन्यासों में चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। इन्होंने अपने पात्रों का सजीव और प्रभावपूर्ण चित्रण किया। इनकी रचनाओं में भारतीय परिस्थिति का यथार्थ चित्रण हुआ है। ग्रामीण दृश्यों के चित्रण में इन्होंने बड़ी कुशलता दिखलाई है। राजनीतिक आन्दोलन का चित्र भी इनकी कर्मभूमि में दिखाई देता है। इनकी भाषा बड़ी ही सरल और अत्यन्त सुगम है। उपन्यास साहित्य में विशेष सफलता प्राप्त करने के कारण इन्हें उपन्यास सम्राट कहा गया। इनके उपन्यासों में 'प्रतिज्ञा' 'वरदान' सेवा सदन' 'निर्मला' 'गबन' 'प्रेमाश्रम' 'रङ्गभूमि' 'कायाकल्प'

'गोदान' आदि प्रमुख हैं। इन सभी उपन्यासों में मानव-जीवन की परिस्थितियों तथा घटनाओं का यथार्थ तथा आदर्श से मिश्रित जीवन चित्रित हुआ है।

कहानी लिखने में भी प्रेमचन्द जी को बड़ी सफलता मिली। कहानियों में अपने जीवन के उपेक्षित लोगों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। घरेलू जीवन के अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं के ऊपर भी इनकी कहानियों में प्रकाश डाला गया है। इनकी कहानियों में 'बड़े घर की बेटी' 'रानी सारन्धा' 'शतरञ्ज के खिलाड़ी' 'प्रेमद्वादशी' 'मानसरोवर' (अष्टभाग) आदि प्रसिद्ध हैं।

प्रेमचन्द जी की प्रतिभा नाटक साहित्य में भी देखी गई है। इन्होंने कुछ नाटक भी लिखे जिनमें 'कर्बला' प्रसिद्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचद जी ने उपन्यास, कहानी और नाटक तीनों प्रकार के साहित्य की सेवा की।

प्रेमचद जी की भाषा उर्दू मिश्रित हिन्दी है। उर्दू कोई विदेशी भाषा नहीं है जिसे हिन्दू नहीं समझ सकें। इनकी भाषा जनप्रिय है। कहीं कहीं मुसलमान पात्रों की भाषा कठिन हो गई है क्योंकि वे कठिन उर्दू बोलते हैं किन्तु इससे कहानी समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। पात्रोनुकूल भाषा का प्रयोग परिस्थितियों में स्वाभाविकता लाने के लिये आवश्यक ही है। प्रेमचन्द जी ने इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये पात्रोनुकूल भाषा की सृष्टि की। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और 'सुदर्शन' प्रेमचन्द के पथ के अनुयायी बने। प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकारों में जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी आदि आते हैं।

जयशंकर प्रसाद :—प्रसाद जी काशी के सुंघनी साहु के प्रतिष्ठित घराने में उत्पन्न हुए थे। यह घराना अपनी दान-वीरता के लिये प्रसिद्ध था। इनकी स्कूली शिक्षा ६वीं कक्षा तक ही सीमित रही। इन्होंने घर पर उर्दू, संस्कृत अंग्रेजी, हिन्दी और फारसी का अध्ययन किया था। इन्होंने साहित्य का सृजन कर हिन्दी को अत्यन्त उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। नाटक के क्षेत्र में इनकी मौलिकता और भी निखर उठी है। इन्हें कवि के रूप में अधिक सफलता मिली। इनका कवि स्वरूप ही सर्वत्र नाटक, कहानी और उपन्यास में दिखलाई देता है। इन्होंने काव्य क्षेत्र के समान नाटक क्षेत्र में भी क्रांति उपस्थित कर दी। प्रसाद जी के नाटक ऐतिहासिक तथा साहित्यिक हैं। इनके नाटकों में इतिहास का गम्भीर अध्ययन और मनन है। कथावस्तु का सफल निर्वाह सफल, चरित्र-चित्रण और गहन अनुभूति है। इन्होंने हिन्दी नाटक में एक बड़े अभाव की पूर्ति की। इनके नाटकों में राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, स्कन्दगुप्त, एकघूंट, चन्द्रगुप्त आदि प्रमुख है।

प्रसाद जी ने उपन्यास के क्षेत्र में भी नाम कमा लिया। 'तितली' और 'कंकाल' उपन्यास के क्षेत्र में प्रसाद जी को यशस्वी बनाने में समर्थ हैं। इन्होंने

द्विवेदी युग में गद्य की भाषा का रूप पर्याप्त परिमार्जित हो चुका था परन्तु फिर भी उसमें प्रौढ़ विषयों के अभिव्यक्तिकरण की क्षमता नहीं आ पायी थी। गद्य के विकास का पूर्ण और बहुमुखी रूप तृतीय चरण में पूर्ण हुआ। शैली के विकास की दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द और प्रसाद की शैलियाँ पूर्ण विकसित हैं। शुक्ल जी ने समास शैली तथा विश्लेषणात्मक शैली का प्रणयन किया। प्रेमचन्द जी ने सरल और मिश्रित गद्य का ऐसा स्वरूप उपस्थित किया जो जनसाधारण की भाषा का रूप था। व्याकरण की दृष्टि से यह युग बहुत आगे है। व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ मिलती अवश्य हैं पर कम। प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता को प्रसाद जी ने अपने नाटकों में अंकित किया। ऐतिहासिक नाटकों की सृष्टि होने लगी। समस्या-प्रधान नाटकों की ओर भी दृष्टि गई। समीक्षात्मक कृतियों से गद्य का पूर्ण विकास हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तृतीय उत्थान काल में खड़ी बोली गद्य का पूर्ण विकास हुआ।

तृतीय चरण के प्रमुख गद्यकार :—तृतीय उत्थान काल के गद्यकारों में असंख्य साहित्यकार आते हैं, किन्तु इन सबका पथप्रदर्शन प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद और आ० रामचन्द्र शुक्ल करते हैं।

प्रेमचन्द :—प्रेमचन्द जी बनारस के पास ही एक गांव में उत्पन्न हुए थे। इनका परिवार बड़ा निर्धन था। आपका वास्तविक नाम धनपत राय था। मैट्रिक पास करते-करते उनकी आर्थिक स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि अपना निर्वाह वे पुरानी पुस्तक बेचकर भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने स्कूल में मास्टरी कर ली थी और स्कूलों के डिप्टी इन्सपेक्टर तक की अवस्था तक पहुंच चुके थे। अन्त में इन्होंने नौकरी छोड़ दी और जीवन की अन्तिम घड़ियों तक संघर्ष का जीवन बिताया। ये दरिद्रता में जन्मे, दरिद्रता से ही जूझते-जूझते समाप्त हो गये। संघर्ष में जीवन व्यतीत करने पर भी इन्होंने इतना सुन्दर साहित्य दिया कि हिन्दी कहानी और उपन्यास क्षेत्र के नायक बन गये।

इनके पूर्व भी उपन्यास लिखे गये थे किन्तु उन उपन्यासों में चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। इन्होंने अपने पात्रों का सजीव और प्रभावपूर्ण चित्रण किया। इनकी रचनाओं में भारतीय परिस्थिति का यथार्थ चित्रण हुआ है। ग्रामीण दृश्यों के चित्रण में इन्होंने बड़ी कुशलता दिखलाई है। राजनीतिक आन्दोलन का चित्र भी इनकी कर्मभूमि में दिखाई देता है। इनकी भाषा बड़ी ही सरल और अत्यन्त सुगम है। उपन्यास साहित्य में विशेष सफलता प्राप्त करने के कारण इन्हें उपन्यास सम्राट कहा गया। इनके उपन्यासों में 'प्रतिज्ञा' 'वरदान' सेवा सदन' 'निर्मला' 'गबन' 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' 'कायाकल्प'

'गोदान' आदि प्रमुख हैं। इन सभी उपन्यासों में मानव-जीवन की परिस्थितियों तथा घटनाओं का यथार्थ तथा आदर्श से मिश्रित जीवन चित्रित हुआ है।

कहानी लिखने में भी प्रेमचन्द जी को बडी सफलता मिली। कहानियों में अपने जीवन के उपेक्षित लोगों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। घरेलू जीवन के अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं के ऊपर भी इनकी कहानियों में प्रकाश डाला गया है। इनकी कहानियों में 'बडे घर की बेटी' 'रानी सारन्धा' 'शतरञ्ज के खिलाडी' 'प्रेमद्वादशी' 'मानसरोवर' (अष्ठभाग) आदि प्रसिद्ध हैं।

प्रेमचन्द जी की प्रतिभा नाटक साहित्य में भी देखी गई है। इन्होंने कुछ नाटक भी लिखे जिनमें 'कर्बला' प्रसिद्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचंद जी ने उपन्यास, कहानी और नाटक तीनों प्रकार से साहित्य की सेवा की।

प्रेमचद जी की भाषा उर्दू मिश्रित हिन्दी है। उर्दू कोई विदेशी भाषा नहीं है जिसे हिन्दू नहीं समझ सकें। इनकी भाषा जनप्रिय है। कहीं कहीं मुसलमान पात्रों की भाषा कठिन हो गई है क्योंकि ये कठिन उर्दू बोलते हैं किन्तु इससे कहानी समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। पात्रोनुकूल भाषा का प्रयोग परिस्थितियों में स्वाभाविकता लाने के लिये आवश्यक ही है। प्रेमचन्द जी ने इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये पात्रोनुकूल भाषा की सृष्टि की। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और 'सुदर्शन' प्रेमचन्द के पथ के अनुयायी बने। प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकारों में जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी आदि आते हैं।

जयशंकर प्रसाद :—प्रसाद जी काशी के सुघनी साहु के प्रतिष्ठित घराने में उत्पन्न हुए थे। यह घराना अपनी दान वीरता के लिये प्रसिद्ध था। इनकी स्कूली शिक्षा ६वीं कक्षा तक ही सीमित रही। इन्होंने घर पर उर्दू, संस्कृत अंग्रेजी, हिन्दी और फारसी का अध्ययन किया था। इन्होंने साहित्य का सृजन कर हिन्दी को अत्यन्त उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। नाटक के क्षेत्र में इनकी मौलिकता और भी निखर उठी है। इन्हें कवि के रूप में अधिक सफलता मिली। इनका कवि स्वरूप ही सर्वत्र नाटक, कहानी और उपन्यास में दिखलाई देता है। इन्होंने काव्य क्षेत्र के समान नाटक क्षेत्र में भी क्रांति उपस्थित कर दी। प्रसाद जी के नाटक ऐतिहासिक तथा साहित्यिक हैं। इनके नाटकों में इतिहास का गम्भीर अध्ययन और मनन है। कथावस्तु का सफल निर्वाह सफल, चरित्र-चित्रण और गहन अनुभूति है। इन्होंने हिन्दी नाटक में एक बडे अभाव की पूर्ति की। इनके नाटकों में राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, स्कन्दगुप्त, एकघूंट, चन्द्रगुप्त आदि प्रमुख हैं।

प्रसाद जी ने उपन्यास के क्षेत्र में भी नाम कमा लिया। 'तितली' और 'कंकाल' उपन्यास के क्षेत्र में प्रसाद जी को यशस्वी बनाने में समर्थ हैं। इन्होंने

कहानियाँ भी लिखीं। छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी इनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं।

तृतीय युग के अन्य नाटककारों में रामकुमार वर्मा, प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट आदि विख्यात हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आपका जन्म सं० १६४१ में और देहावसान सं० १६६८ में हुआ था। मैट्रिक पास करने के उपरान्त आपने एफ० ए० कर कानूनगो की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने का असफल प्रयास किया। इसके बाद आप एक हाई स्कूल में आर्ट मास्टर हो गये। अध्यापक जीवन के प्रारम्भ होने पर ये साहित्य क्षेत्र में भी आये। आपके प्रारम्भिक निबन्ध सरस्वती तथा आनन्दकादम्बिनी में प्रकाशित हुए। 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का भी आपने बड़ी योग्यता से कुछ दिनों तक सम्पादन किया। इसके बाद आप हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुए तथा कुछ दिनों बाद आपने हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया।

आलोचकप्रवर रामचन्द्र शुक्ल इस युग की आलोचना की गतिविधियों के निर्माता हैं। उनके समीक्षा-सिद्धान्तों में भारतीय और पाश्चात्य दोनों सिद्धान्तों का समन्वय है। सूर, जायसी, तुलसी आदि की आलोचना की जो पद्धति आपने अपनायी वह सर्वथा मौलिक थी। उन्होंने समीक्षा का ऐसा मार्ग निर्मित किया जिस पर आजतक लोग बराबर चले आ रहे हैं। मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, निर्णयात्मक, तुलनात्मक आदि सभी प्रणालियों का उत्कृष्ट रूप उनकी आलोचना में दिखाई देता है।

इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं :—

हिन्दी साहित्य का इतिहास, तुलसीदास, सूरदास, जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, चिन्तामणि (दो भाग) आदि।

शुक्ल जी के जीवन की व्यक्तिगत गंभीरता उनकी शैली में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उनकी भाषा परिष्कृत, प्रौढ़ तथा संस्कृतनिष्ठ है। इनके वाक्य चुस्त होते हैं। किसी विषय का गम्भीर ढंग से प्रतिपादन शुक्लजी की एक विशेषता है। चाहे निबन्ध रचना हो या आलोचना शुक्लजी की शैली में वैयक्तिकता की छाप सर्वत्र दिखाई पड़ती है।

शुक्लजी आलोचक के अतिरिक्त कवि और कहानीकार भी हैं। किन्तु इन स्वरूपों में इन्हें उतनी सफलता नहीं मिली जितनी आलोचना और निबन्ध के स्वरूपों में।

आपने जो कुछ भी लिखा है वह हिन्दी की स्थायी निधि है। आप ही जैसे साहित्य-सेवियों के प्रयास से हिन्दी आज सफलता के उच्च सिंहासन पर आसीन

है। आपके आलोचनात्मक ग्रन्थ ऐसे हैं जिन पर हिन्दी का भव्य महल खड़ा हो सकता है। आज इनका नाम हिन्दी साहित्य में अमिट है।

चतुर्थ चरण : उत्तर छायावाद युग :— सन् १९३६ के पश्चात् विदेशी रोमांटिक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक, भौतिक, साहित्यिक, सामाजिक चिंताधाराओं एवं संस्कारों का प्रभाव बढ़ जाने के कारण समालोचना ही क्या यहाँ के साहित्य के प्रत्येक अंग का ढांचा ही बदल गया। इस साहित्य में वर्तमान परिस्थिति और विदेशियत के चित्र उभर कर आने लगे। इनमें स्वस्थता कम और अस्वस्थता अधिक है।

सन् १९३५ के बाद देश में चित्रपट के समान कुछ ऐसी घटनाएं घटीं जिनका प्रभाव साहित्यकार पर व्यापक रूप से पड़ा। इस समय देश में नया विधान लागू हुआ, नये मंत्रीमण्डल बनाये गये। साथ ही साथ समाज एवम् जीवन-सुधार सम्बन्धी कानून भी पास हुए, किन्तु इन कानूनों से जनता का अधिक लाभ नहीं हो सका। परिणामत: देश में असन्तोष की मात्रा बढ़ गयी। द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका से देश की राजनैतिक और आर्थिक दोनों परिस्थितियाँ बिगड़ गईं।

सन् ४२ की क्रांति ने फिर से एक नई राष्ट्रीय चेतना और देश-प्रेम की भावना को बढ़ाया। गाँधीवादी विचारों का राजनीति और समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। जीवन के संघर्षों और अभावों से हमारा साहित्य भी निराशावादी और विरोधात्मक बन गया। विदेशी साहित्यिकों तथा विचारकों ने भी हमारे साहित्य को कम प्रभावित नहीं किया। अंग्रेजी साहित्य के नये-नये विचार एवम् नयी नयी शैलियाँ ग्रंथ में भी आने लगी। फ्रायड और मार्क्स के सिद्धांतों का हिन्दी में भी प्रचलन बढ़ गया। उपन्यास, नाटक, कहानी, आलोचना सर्वत्र इन्हीं भावों की प्रधानता रही। इस प्रकार चतुर्थ चरण का गद्य साहित्य अहंवादी, कुंठावादी, अभाववादी, यथार्थवादी आदि कई नामों से पुकारा जा सकता है।

भाषा की दृष्टि से वर्तमान साहित्य सरस, सुन्दर एवं सुगठित बना। शुद्ध तत्सम् एवं तद्भव शब्दों का हिन्दी खड़ी बोली में समावेश कर भाषा का प्रयोग कलात्मक एवं गद्यात्मक बनाया गया।

शैली की दृष्टि से वर्तमान गद्य-साहित्य व्यक्तिगत एवम् मौलिक है। प्रत्येक साहित्यकार की अपनी शैली है। किसी की शैली सैद्धान्तिक है तो किसी की कलात्मक।

वर्तमान युग में नाटक, कहानी, निबन्ध-समालोचना, उपन्यास, पत्र-पत्रिका आदि अनेक विधाओं का विकास हुआ। इन सभी विधाओं में समालोचना और निबन्ध क्षेत्र में कुछ सबल और समर्थ साहित्यकार अपनी लेखनी चला रहे हैं।

इस युग के आलोचकों में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा आदि प्रमुख हैं।

इस युग के प्रमुख आलोचक डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं। श्री नन्द दुलारे वाजपेयी की भी गणना उच्च कोटि के आलोचकों में होती है। यहाँ एक आलोचक का परिचय देना ही पर्याप्त होगा, अत डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का ही उल्लेख किया जा रहा है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का जन्म वि० सं० १९६४ म बलिया जिला-अन्तर्गत दूबे छपरा नामक गाँव में हुआ। आप ने हिन्दू विश्वविद्यालय काशी से उच्च परीक्षाएं पास कीं। आप संस्कृत, हिन्दी, बंगला और अंग्रेजी के अच्छे जानकार हैं। इन्होंने शान्ति निकेतन तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कई वर्षों तक हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। आज आप चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

आपकी साहित्यिक सेवा तथा विद्वता से प्रभावित होकर लखनऊ विश्व-विद्यालय ने आपको स० २००६ में डाक्टर आफ लिटरेचर की उपाधि से सम्मानित किया। अपने ग्रंथ 'कबीर' पर आपको मंगला प्रसाद पारितोषिक मिल चुका है।

आप हमारे सामने आलोचक, निबन्धकार, इतिहास लेखक अध्यापक, कहानीकार आदि कई रूपों में आ चुके हैं। आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं—सूर साहित्य हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर' 'अशोक के फूल' 'बाणभट्ट की आत्म कथा' (उपन्यास)। 'चारु चन्द्र लेख (उपन्यास) हिन्दी साहित्य का आदिकाल आदि।

द्विवेदी जी की भाषा शुद्ध साहित्यिक हिन्दी है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही उर्दू के चलते शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं अंग्रेजी के शब्द भी मिलते है। विदेशी शब्दों का प्रयोग द्विवेदी जी ने बहुत सावधानी से किया है अत वे विदेशी शब्द भी स्वाभाविक लगते हैं।

द्विवेदी जी की शैली गवेषणात्मक, विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक प्रभावक तथा सरल है।

द्विवेदी जी हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकार हैं। उन्होंने मुख्यतः आलोचना तथा निबन्ध साहित्य पर लिखा है। इधर उनकी प्रवृत्ति उपन्यास की ओर भी बढ़ रही है। हिन्दी के प्राचीन तथा भक्ति साहित्य पर द्विवेदी जी का गहरा अध्ययन है। आपकी आलोचनात्मक तथा निबधात्मक कृतियाँ हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। आप प्रतिवर्ष अनेक छात्रों को शोध ग्रन्थ प्रस्तुत करने में सहायता देकर हिन्दी साहित्य की अतुलनीय सेवा कर रहे हैं। आप से हिन्दी साहित्य को अभी बड़ी आशा है।

यशपाल :—हिंदी के आधुनिक उपन्यासकारों तथा कहानीकारों में इनका प्रमुख स्थान है। ये प्रगतिशील जीवन दर्शन से ही नहीं वरन् साम्यवाद से प्रभावित हुए हैं। इनका जन्म कांगड़ा पहाड़ी प्रदेश में सन् १९०४ में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा गांव में प्राप्त कर ये लाहौर चले गये और वहाँ नेशनल कालेज से बी० ए० की परीक्षा पास की। वहीं पर तत्कालीन क्रान्तिकारियों से साथ हुआ और ये भी क्रांतिकारी बन गये। इन्हें जेल में भी जाना पड़ा। जेल से छूटने के बाद ये उपन्यास क्षेत्र में आये।

यशपाल जी ने कुछ उपन्यासों को अनूदित भी किया। अनूदित उपन्यासों के अतिरिक्त इनके कुछ मौलिक उपन्यास भी सामने आये। इनमें 'दादा कामरेड' देशद्रोही, दिव्या, 'पार्टी कामरेड' अमिता', मनुष्य के रूप' आदि प्रसिद्ध है। देश द्रोही तथा 'दादा कामरेड' राष्ट्र भक्तिपरक उपन्यास हैं। देश द्रोही में साम्यवादी विचारधारा स्पष्ट हो गई है। दिव्या ऐतिहासिक उपन्यास है। 'मनुष्य के रूप' में यशपाल जी की यथार्थवादी तथा सजीव भावनाएँ व्यक्त हुई हैं।

उपन्यास में जितनी सफलता यशपाल जी को मिली उतनी ही कहानी के क्षेत्र में भी। इनके कहानी संग्रहों में 'ज्ञानदान', 'फूलों का कुर्ता', 'पिंजड़े की उड़ान' धर्मयुद्ध आदि श्रेष्ठ है। इन कहानियों में भी साम्यवाद की समर्थन-भावना देखी जाती है। पात्रचयन, कथावस्तु संगठन, चरित्र-चित्रण आदि गुणों में ये काफी सफल हैं।

यशपाल जी पत्रकार एवम् निबन्धकार भी हैं। 'विप्लव' पत्र इन्हीं के द्वारा निकाला गया था। इनके निबन्ध संग्रहों में बात बात में बात' 'न्याय का संघर्ष' आदि प्रमुख है। 'गांधीवाद की शव परीक्षा' इनका व्यंगात्मक निबन्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यशपाल जी ने प्रायः गद्य की सभी विधाओं में कार्य किया है। भाषा की सरलता तथा शैली की सुगमता से इनके उपन्यास अधिक प्रभावक हैं।

हिन्दी साहित्य में आलोचना साहित्य का विकास

हिन्दी में आलोचना शब्द समालोचना और समीक्षा का पर्याय समझा जाता है, किंतु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन तीनों शब्दों में अर्थ-भिन्नता पायी जाती है। आलोचना का अर्थ गुण-दोष कथन है। समालोचना निःस्वार्थ भाव से गम्भीरतापूर्वक गुण दोष विवेचना को कहते हैं। समीक्षा का अर्थ साहित्य की मूल प्रवृत्तियों पर किसी साहित्यिक विधान के विवेचन की रीति है।

संस्कृत परम्परा की भाँति हिन्दी में भी गुण-दोष विवेचना की परम्परा बहुत पुरानी है।

सूर-सूर तुलसी ससि, उडगन केसव दास

*   *   *

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन

*   *   *

और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया

— आदि आलोचना का रूप आज के युग में मान्य और स्वीकृति नहीं हो सका। आज की आलोचना का प्रारम्भ भी आधुनिक युग से ही माना जाता है।

भारतेन्दु युग :—अन्य गद्य विधाओं की ही भाँति इस युग में समालोचना साहित्य का भी प्रारम्भ हुआ। यह गद्य का प्रारम्भिक युग था, अतः गद्यात्मक स्वरूपों में गम्भीरता की आशा करना व्यर्थ था। इस युग की प्रारम्भिक समालोचना का अग्रदूत भारतेन्दु को ही माना जा सकता है। इन्होंने 'कविवचनसुधा, 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मुद्राराक्षस नाटक' में समालोचनाएँ प्रकाशित कीं। इसके पश्चात् प्रताप नारायण मिश्र ने अपने 'ब्राह्मण' तथा बालकृष्णभट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से समालोचना साहित्य को बल दिया। इस युग के सबसे प्रबल और समर्थ आलोचक यदि किसी को माना जा सकता है तो वे हैं— बद्रीनारायण जी 'प्रेमघन'। इन्होंने श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की विशद् एवम् कड़ी आलोचना की। बालकृष्ण भट्ट ने भी 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से श्रीनिवासदास के 'उत्तम' नाटक की समालोचना अपने पत्र 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित की। इन साहित्य सेवियों को ही भारतेन्दु युग के समालोचकों में महत्व दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'अम्बिका दत्त व्यास' तथा गंगाप्रसाद अग्निहोत्री को भी समालोचकों की कोटि में रखा जा सकता है। इस युग की आलोचना अधिकतर परिचयात्मक ही हुई। समालोचना के नाम पर कोई पुस्तक भारतेन्दु युग में प्रकाशित नहीं हो सकी, फिर भी समालोचना की नींव-स्थापना में इस युग का महत्व कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।

द्विवेदी युग :—समालोचना का प्रारम्भ यद्यपि भारतेन्दु के जीवन काल में ही कुछ न कुछ हो गया था पर उसका कुछ अधिक वैभव इस द्वितीय उत्थान में ही दिखाई पड़ा। श्री युत पंडित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने पहले पहल विस्तृत आलोचना का रास्ता निकाला। समालोचना की पहली पुस्तक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' थी जो इस द्वितीय उत्थान के आरम्भ में ही निकली। इस पुस्तक में केवल दोषों का ही उल्लेख हो सका, गुण नहीं दिखलाये गये।

इसके उपरांत द्विवेदी जी ने कुछ संस्कृत कवियों को लेकर दूसरे ढंग की समालोचना कृतियाँ निकालीं, जिसमें विक्रमांकदेव चरित चर्चा' और 'नैषध चरित चर्चा मुख्य हैं। उनकी तीसरी कृति 'कालिदास की निरंकुशता' आलोचना साहित्य की श्रेष्ठ कृति है।

द्विवेदी जी की उपर्युक्त रचनाओं से हिन्दी का बहुत बड़ा कल्याण हुआ। इनके प्रकाशन से लेखक सावधान हो गए और भाषा तथा काव्य की त्रुटियाँ कम होने लगीं।

आलोचना के विकास में द्विवेदी युगीन 'मिश्र बन्धुओं' का नाम श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इन्होंने पाश्चात्य साहित्य का गम्भीर अनुशीलन किया था। इन्होंने कवियों की आलोचना करते समय जीवन, युग, भाव आदि को महत्व दिया है।

इनके दो आलोचनात्मक ग्रन्थ मुख्य हैं : 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्र बन्धु-विनोद'। इन कृतियों में हिन्दी के पुराने कवियों को समालोचना के लिये सामने खड़ा किया गया है। इस दृष्टि से मिश्र बन्धुओं ने निश्चय ही बड़ा आवश्यक कार्य किया।

द्विवेदी युग के अन्य आलोचकों में पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र तथा भगवानदीन की गणना की जा सकती है। पद्मसिंह शर्मा ने विहारी पर एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। शर्मा जी ने तुलनात्मक आलोचना को प्रश्रय दिया।

शर्मा जी ने बिहारी का महत्व प्रतिपादित किया। इसी महत्व के आक्रोश में आकर कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा, जिसमें बिहारी के दोषों की ओर संकेत किया गया और देव के गुणों का वर्णन। यह पुस्तक पुरानी परिपाटी की साहित्यिक समीक्षा के भीतर अच्छा स्थान पाने के योग्य है। 'देव और बिहारी' के प्रत्युत्तर में लाला भगवान दीन ने 'बिहारी और देव' नाम की पुस्तक निकाली।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी युग की आलोलना विशेषतः देव और बिहारी से सम्बन्धित है। इस युग की आलोचना यद्यपि रूढ़िगत ही है फिर भी इस युग में समालोचना की बहुत कुछ उन्नति हुई। इस युग ने तृतीय उत्थान' काल की उच्चकोटि की आलोचना को एक रास्ता दिखलाया। इसी रास्ते पर चलकर उन्होंने नये रास्तों की खोज की।

तृतीय उत्थान काल :—

तृतीय त्थान काल या शुक्ल युग में समालोचना का आदर्श भी बदला। इस युग में सैद्धांतिक, परिचयात्मक, तुलनात्मक तथा प्रभाववादी पद्धतियों पर

आलोचना होने लगी। कवि की कृतियों पर ही इस युग के आलोचकों का ध्यान नहीं गया वरन् कवियों की परिस्थियों पर भी उन्होंने ध्यान दिया। आलोचकों ने कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्य प्रवृत्ति की ओर भी ध्यान दिया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल :—ये इस युग के समर्थ समालोचकों में थे। आज भी इनकी गणना उच्चकोटि के समीक्षकों एवम् समालोचकों में होती है। यद्यपि डा० रामकुमार वर्मा ने आ० शुक्ल को तृतीय उत्थान काल के प्रमुख आलोचकों में द्वितीय स्थान दिया है फिर भी अन्य साहित्य समीक्षकों ने इनकी प्रमुखता ही स्वीकृत की है। उन्होंने सूर, तुलसी, जायसी, दीनदयाल गिरि और कबीर दास की जो विस्तृत और गम्भीर आलोचना की वह आज भी आलोचकों का पथ प्रदर्शन कर रही है। 'त्रिवेणी' 'जायसी ग्रन्थावली' 'गोस्वामी तुलसी दास' और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' इनकी आलोचनात्मक कृतियां हैं।

बाबू श्यामसुन्दर दास :—ये इस युग के द्वितीय प्रमुख आलोचक हैं। इन्होंने उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए साहित्य सम्बन्धी एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ लिखा जिसका नाम 'साहित्यालोचन' है। 'हिंदी भाषा और साहित्य' तथा 'रूपक रहस्य' इनके अन्य आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास जी की आलोचना अन्य आलोचकों का मार्ग प्रदर्शन करने में समय करने में समर्थ है।

स्व० लाला भगवान दीन ने भी सूर तुलसी और दीनदयाल गिरि की आलोचनाएँ की। इनके आलोचनात्मक ग्रंथों में 'सूर पंचरत्न' 'दोहावली' 'दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली' आदि सम्मिलित हैं।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल 'रूपक रहस्य' 'गोस्वामी तुलसी दास' 'कबीरग्रन्थावली' आदि ग्रन्थों में डा० श्याम सुन्दरदास के आदर्श को लेकर हमारे सामने आते हैं। निर्गुण काव्य धारा में उन्होंने संत कवियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण ढंग से विवेचन किया है। इनकी कृतियों से हमें इनके गम्भीर और व्यापक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

इसके पश्चात आलोचना और आलोचकों की धूम सी मच गई। डा० शुक्ल प्रो० सत्येन्द्र डा० नगेन्द्र, डा० हजारी प्रसाद जी एवं अन्य आचार्यों ने अपनी कृतियों में विभिन्न प्रकार के समालोचनादर्शों का प्रतिपादन किया।

कहानी, उपन्यास, काव्य व्याकरण काव्यांग सभी अंगों पर आलोचनाएँ प्रकाशित हुईं। हिंदी आलोचना का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि आगे चलकर इस तूफान को रोकना कठिन हो गया। इस युग के ग्रन्थों ने हिन्दी आलोचना साहित्य में नये नये दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं और उनसे उसका स्तर बहुत ऊँचा उठा है।

चतुर्थ उत्थान काल :—

वर्तमान युग में हमारे विभिन्न विश्वविद्यालयों की उदारता से हिन्दी आलोचना-क्षेत्र और भी व्यापक और विस्तृत हो गया है। प्रति वर्ष सैकड़ों की संख्या में आलोचनात्मक ग्रन्थ शोध ग्रन्थों के रूप में प्रकाशित होते है। उन ग्रन्थों में विषय और शैली दोनों विचारों से हम तृतीय उत्थानकाल से प्रगति देखते हैं। कवि और कवियों की मनोस्थिति का उल्लेख तो आचार्य शुक्ल ने अपने ग्रन्थों में ही कर लिया था, पर अभी इस क्षेत्र में कुछ और कार्य बाकी था। साहित्यकार की परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए विचार नहीं हुआ था। पाश्चात्य आदर्शों एवम् पद्धतियों पर भी अल्प मात्रा में ही काम हुआ था। इस कमी को इस उत्थान काल में पूर्ण किया गया।

अब आलोचनाएँ ऐतिहासिक, प्रभाववादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी तथा पाश्चात्य पद्धतियों पर होने लगी। मनोविश्लेषणात्मक, स्वच्छन्दतावादी, तथा मानवतावादी आलोचना पद्धति भी अपनायी गयी।

वर्तमान युग के आलोचकों में तृतीय युग के उदीयमान आलोचक डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य मिश्र, डा० गुलाब राय आदि का विशिष्ट स्थान है। इसके अतिरिक्त आज के आलोचकों में डा० रामविलास शर्मा, डा० व्रजकिशोर मिश्र, डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० उषा गुप्त आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी आधुनिक युग के प्रबुद्ध आलोचक हैं। चिन्तन की ओर उनका अधिक झुकाव है। उनकी आलोचना खोखली और ऊपरी बात पर आधारित नहीं होती। गहन अध्ययन और विशदज्ञान की प्रतिरूप आलोचना-कृतियाँ उन्हें आलोचना क्षेत्र में अमरता प्रदान करती हैं। 'सूर साहित्य' 'कबीर' नाथ सम्प्रदाय' आदि आलोचना ग्रन्थों में उनके मौलिक सिद्धांत व्यक्त हुए हैं। भारतीय और पाश्चात्य दोनों आदर्शों का समन्वय कर उन्होंने हिन्दी के विभिन्न कवियों, साहित्यकारों और उनकी रचनाओं पर विवेकपूर्ण ढंग से विवेचन किया है।

डा० नन्ददुलारे वाजपेयी आज वर्तमान आलोचकों के पथप्रदर्शक हैं। जिस प्रकार इनकी शारीरिक प्रतिभा इनके व्यक्तित्व का प्रकाश करती है ठीक उसी प्रकार इनकी साहित्यिक प्रतिभा इनकी आलोचनात्मक कृतियों में प्रतिबिम्बित होती है। इनकी आलोचना में वही लालिमा, वही चमक और वही सौन्दर्य है, जो इनकी प्रतिभा सम्पन्न आकृति पर है। आधुनिक साहित्यकारों पर इनकी जो विचाराभिव्यक्ति हुई है, वह स्वस्थ, न्यायपूर्ण एवं ज्ञान गरिमा से युक्त है। भारतीय तथा पाश्चात्य किसी भी कसौटी पर कसने पर इनकी आलोचना

खरी उतरती है। कुछ आधुनिक कवि इनकी सत्य आलोचना पर इनसे क्षुब्ध भी हैं। क्यों न हों? सत्यता हमेशा कटु ही होती है। प्रयोगवादी कविता की नग्नता तथा अर्थ शून्यता की ओर संकेत करने पर प्रयोगवादी क्षुब्ध नहीं होंगे तो क्या होंगे? किन्तु कमजोरियों की ओर संकेत से जो क्षुब्ध हों वे साहित्यकार नहीं हो सकते। यह सत्य है। वाजपेयी जी की आलोचना के ग्रंथों में 'आधुनिक साहित्य' 'बीसवीं शताब्दी' 'जयशंकर प्रसाद' आदि प्रमुख हैं।

आलोचना

हिन्दी में आलोचना का प्रारम्भ बद्रीनारायण 'प्रेमघन' द्वारा लिखित 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की आलोचना से माना जाता है। इसका विकास क्रम इस प्रकार है:—

भारतेन्दु युग—

बालकृष्ण भट्ट (सच्ची समालोचना)।

द्विवेदी युग—

द्विवेदी जी (कालिदास की आलोचना, नैषध चरित चर्चा)
कृष्णविहारी मिश्र (देव और बिहारी)
भगवान दीन (बिहारी और देव)
श्री श्यामसुन्दर दास (साहित्यालोचन)

तृतीय युग (शुक्ल युग)

शुक्ल (हिन्दी साहित्य का इतिहास, गोस्वामी तुलसीदास)
पदुमलाल (विश्व-साहित्य)
बड़थ्वाल (रूपक रहस्य)

डा० सत्येन्द्र ने लोक-साहित्य का अध्ययन करने और इस ओर पाठकों को प्रेरित करने में पूर्ण सहयोग दिया है। इनके 'ब्रजलोक साहित्य, का अध्ययन तथा 'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन', आलोचना के क्षेत्र में बहुप्रचलित हैं। इन्होंने लोकतात्विक अध्ययन में मध्ययुग के लोकजीवन और विश्वासों की प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की है। इसमें इन्होंने ज्ञानतत्व ठूँस-ठूँस कर भरे हैं।

प्रगतिशील आलोचकों में प्रकाशचन्द्र गुप्त और डा० रामविलास शर्मा के नाम आदर के साथ लिये जा सकते हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त की आलोचना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित जान पड़ती है। डा० रामविलास शर्मा भी मार्क्सवाद के समर्थक हैं। डा० रामविलास शर्मा की आलोचनात्मक कृतियों में 'निराला' 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, 'प्रेमचन्द' आदि प्रसिद्ध हैं।

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षकों में डा० नगेन्द्र की प्रमुखता को कोई चुनौती नहीं दे सकता। आज इनकी आलोचना एक नई दिशा की ओर अग्रसर हो रही है। पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर एक भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों के उन्नायक के रूप में हमें इन्हें याद करना चाहिये। 'भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका' 'विचार और विश्लेषण', 'आधुनिक हिन्दी नाटक' आदि इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

हमारे लिये सौभाग्य की बात है कि हमारे आलोचना-साहित्य में डा० सावित्री सिनहा, डा० उपा गुप्त तथा डा० मायारानी टण्डन जैसी समर्थ लेखिकाएं भी कार्य कर रही हैं। यह आलोचना साहित्य की प्रगति नहीं तो और क्या ?

हिन्दी साहित्य में नाटक का विकास

नाटक मुख्य रूप से दृश्य काव्य है। साहित्य की यह विधा दृश्य और काव्य दोनों विशेषताओं से विभूषित है। अपनी इन विशेषताओं के कारण ही नाटक, साहित्य की श्रेष्ठतम् विधा का स्थान ग्रहण करता है।

हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास यद्यपि आधुनिक युग में ही हुआ तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इस युग के पूर्व हिन्दी में नाटक नहीं लिखे गये। भारतेन्दु के पूर्व भी नाटकों का उल्लेख मिलता है। विश्वनाथ कृत 'आनन्द रघुनन्दन, हृदयराम कृत 'हनुमत नाटक' देव कृत (प्रसिद्ध कवि देव नहीं) 'देव माया प्रपच' आदि नाटक को इतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य का प्रथम नाटक भी माना है। इन मौलिक नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु पूर्वोत्तर काल में कुछ अनूदित नाटक हिन्दी में आये।

उपर्युक्त नाटकों में 'नहुप' नाटक ही नाटकीय तत्वों से परिपूर्ण है किन्तु यह भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। आधुनिक नाटकों का श्रीगणेश भारतेन्दु से ही होता है।

नाटकों के लिये अभिनयता आवश्यक है। सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही हमें ऐसे नाटक दिये जिनको रंगमंच पर खेला जा सकता था। इनके नाटक ऐतिहासिक, राष्ट्रीय, धार्मिक तथा सामाजिक हैं। इन्होंने 'भारत दुर्दशा' नाटक में भारत की दयनीय परिस्थिति का चित्रण किया तथा भारतीयों को अपनी परिस्थिति से परिचित कराकर स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता की ओर जाग्रत किया। 'अंधेर नगरी' में तत्कालीन राजाओं की ज्ञानशून्यता का वर्णन किया। "वैदिकी हिंसा-हिंसा नभवति" भारत की धार्मिक पतनोन्मुख प्रवृत्तियों का आकलन करने वाला एक प्रसिद्ध नाटक है। 'नील देवी' तथा 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' चरित्र प्रधान नाटिका हैं।

हिन्दी गद्य के विकास के इस प्रथम युग में भारतेन्दु के अतिरिक्त भारतेन्दु मण्डली के अन्य साहित्यकारों ने भी कुछ मौलिक नाटक लिखे। बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के नाटक भी नाटक साहित्य क्षेत्र को विस्तृत करने में समर्थ हैं। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने भी भारतेन्दु युग के नाटकीय वैशिष्ट्य को स्वीकार किया है।

बालकृष्ण भट्ट :—इनके नाटकों में 'कलिराज की सभा' 'रेल का विकट खेल' 'बाल विवाह' आदि प्रसिद्ध हैं। नाटकीय तत्वों के आधार पर विवेचन करने पर ये सभी नाटक सामान्य कोटि के सिद्ध होते हैं।

प्रतापनारायण मिश्र ने गो संकट, हठीहमीर, कलिप्रभाव, जुआरी खुआरी आदि नाटकों के द्वारा नाटक-साहित्य की श्रीवृद्धि की। इन्हीं के समकालीन 'प्रेमघन' जी के नाटकों में 'भारत सौभाग्य', 'वृद्धविलाप' प्रमुख हैं।

इनके अतिरिक्त इस युग के नाटककारों में श्री राधाचरण गोस्वामी, श्रीनिवास दास तथा अम्बिकादत्त व्यास के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं।

इन मौलिक नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु युग में संस्कृत तथा अंग्रेजी के नाटकों के अनुवाद भी प्रस्तुत किये गये।

इस काल के सम्पूर्ण नाट्य साहित्य को देखकर स्पष्टतः विदित हो जाता है कि इस युग में सभी प्रकार के नाटक-सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, लिखे गये। इन सभी प्रकार के नाटकों से जीवन के विविध विषयों को अभिव्यक्ति तो अवश्य मिली पर कला की उन्नति नहीं हो सकी। इन नाटकों की भाषा भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही पाई जाती है। स्थान-स्थान पर शब्द-विन्यास और वाक्य-विन्यास की त्रुटियाँ मिलती हैं। इतना होने पर भी भारतेन्दु युग के नाटकों के महत्व को नगण्य नहीं समझना चाहिये। इनके द्वारा हमारे समाज, हमारी राजनीति, धर्म और साहित्य का बड़ा कल्याण हुआ।

द्विवेदी युग नाटकों के विकास के लिये एक अमहत्वपूर्ण युग है। यह युग अनुवादों के लिये प्रसिद्ध है। संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी तीनों भाषाओं के नाटकों के अनुवाद हिन्दी में किये गये। इन अनुवादों की भाषा अप्रौढ़ और अव्यवस्थित है। अधिकांश अनूदित नाटक निम्नकोटि के हैं।

अंग्रेजी नाटकों में 'ऐज यू लाइक इट' 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' आदि का अनुवाद, गोपीनाथ पुरोहित ने 'मन भावन' तथा 'वेनिस का व्यापारी' के नाम से किया। गोपालराम गहमरी ने 'देश-दशा', 'बभ्रुवाहन' नाम से बंगला के नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किये। लाला सीताराम ने संस्कृत के नाटकों के आधार पर 'मेघदूत', 'मालविकाग्निमित्र', 'मृच्छकटिक' आदि नाटक लिखे।

उपर्युक्त अनुवादकों के अतिरिक्त इस युग में अयोध्यासिंह हरिऔध, डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, बद्रीनाथ भट्ट तथा लोचनप्रसाद पाण्डे जैसे श्रेष्ठ नाटककार भी हमारे सामने आये। रायदेवीप्रसाद पूर्ण, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों के नाटक भी डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार इस युग के श्रेष्ठ नाटक हैं।

श्री देवीप्रसाद पूर्ण ने 'चन्द्रकलाभानुकुमार' नामक एक साहित्यिक नाटक लिखा। यह नाटक मध्ययुगीन राजकुमार और राजकुमारियों के जीवन से सम्बन्धित है। इसकी कथा कल्पित है। इसमें अस्वाभाविकता अधिक है। इतना होने पर भी यह एक पठनीय नाटक है, दर्शनीय नहीं। माखनलाल चतुर्वेदी इस युग के अन्तिम* क्षण के प्रसिद्ध और उत्कृष्ट नाटककार हैं। इनका 'कृष्णार्जुन युद्ध'' इस युग का महान एवं प्रशंसनीय नाटक है। इसकी कथावस्तु प्राचीन है, पर इसमें जहाँ-तहाँ आधुनिकता का समावेश है। राष्ट्रीयता का भाव जागृत करने में यह नाटक बहुत सफल हुआ है। रंगमंच पर खेले जाने में भी यह नाटक सफल है। हास्यात्मक ढंग से लिखित, यह राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक नाटक इस युग का महान नाटक माना जाता है।

तृतीय उत्थानकाल या प्रसाद युग के नाटक :—प्रसाद युग नाटक के लिये वरदान युग कहा जा सकता है। कला, विषय और भाषा तीनों दृष्टियों से इस युग ने नाटक-साहित्य को प्रगति की सीमा पर ला दिया। हिन्दी साहित्य को इस युग ने जयशंकर प्रसाद, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवती प्रसाद वाजपेयी, गोविन्द बल्लभ पन्त, वृन्दावनलाल वर्मा, प्रेमचन्द, सुमित्रानन्दन पंत, लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे श्रेष्ठ नाटककार दिये। इन नाटककारों ने अपनी कलाकृतियों से नाटक साहित्य को समृद्ध किया। भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग नाटक के लिये उद्गम युग कहे जा सकते हैं। नाटक को उद्गम बिन्दु से हटाकर प्रशस्थ मार्ग पर लाने का एकमात्र सौभाग्य तृतीय उत्थान काल के नाटकारों को ही मिला।

संस्कृत साहित्य से आदर्श लेकर तथा पाश्चात्य शैली के अनुकरण में इस युग के सर्वश्रेष्ठ और महान नाटककार जयशंकर प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भावात्मक तथा प्रतीकात्मक नाटकों का सृजन किया। इनके ऐतिहासिक नाटकों में 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' 'ध्रुवस्वामिनी' 'जनमेजय का नाग यज्ञ' तथा भावात्मक नाटकों में 'कामना', 'एक घूंट' आदि महत्व प्राप्त कर चुके हैं। प्रसाद जी के नाटकों की भाषा पात्रोनुकूल है तथा शैली वर्णनात्मक तथा भावात्मक है। इनके नाटक अनअभिनेय अवश्य हैं किन्तु आवश्यक काँट-छाँट के पश्चात् सफलता पूर्वक खेले भी जा सकते हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के छात्रों ने इनके नाटकों को कई बार रंगमंच पर भी खेलकर यह बतला दिया है कि ये नाटक अभिनेय भी हैं।

---

* इसे कुछ इतिहासकारों ने तृतीय उत्थान काल का नाटक माना है किन्तु इसे द्वितीय में ही माना जाना चाहिये क्योंकि इसका प्रकाशन सं० १९७० में हुआ था।

गोविन्दवल्लभ पंत का स्थान भी नाट्य साहित्य में महत्वपूर्ण है। इनके नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक तीनों कोटि में आते हैं। इनका सर्वप्रिय और सर्वश्रेष्ठ नाटक 'राजमुकुट' पन्नादाई के त्याग-बलिदान को मूर्तरूप प्रदान करता है। 'वरमाला' में उन्होंने भारतीय पौराणिक कथा का आधार लिया है। 'अंगूर की बेटी' एक सामाजिक दुर्वृत्ति का चित्रण करने में समर्थ है। पंतजी के नाटक अभिनेय तो अवश्य हैं किन्तु प्रसाद जैसी साहित्यिक मनोवृत्ति उनके नाटकों में नहीं पाई जाती।

तृतीय उत्थान काल के तृतीय महत्वपूर्ण नाटककार हरिकृष्ण जी प्रेमी हैं। इस युग में प्रेमी जी के दो महत्वपूर्ण नाटक प्रकाशित हुये 'रक्षाबन्धन' और 'शिवा साधना'। इन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटकों में मुगलकालीन राजपूती गौरव की झलक और हिन्दू-मुसलिम एकता के भाव का चित्रण किया है।

उदयशंकर भट्ट पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटक लिखने में पूर्ण समर्थ सिद्ध हुए हैं। इनके भाव-नाट्य तथा गीति-नाट्य भी प्रसिद्ध है। इनके नाटकों में 'विक्रमादित्य', 'मुक्तिपथ', 'कुमारसम्भव', 'राधा' आदि प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त नाटककारों के नाटकों के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पंत का 'ज्योत्सना', लक्ष्मीनारायण मिश्र, का 'मुक्ति का रहस्य', 'राक्षस का मन्दिर, प्रेमचन्द जी के 'कवला 'संग्राम' आदि नाटक भी इस युग के विशिष्ट नाटक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में हमारे साहित्य में अनेक श्रेष्ठ नाटककारों का उदय हुआ जिन्होंने नई विचारधाराओं के नाटक लिखे। विचार, भाषा और शैली सभी प्रकार से इस युग के नाटक महत्वपूर्ण माने जाते हैं। चरित्र चित्रण, संवाद की प्रौढ़ता आदि विशेषताऐं भी इस युग के नाटकों में दीख पड़ती हैं।

चतुर्थ उत्थान काल :—चतुर्थ उत्थान काल सभी दृष्टियों से संक्रान्ति अभाव, आक्रोश और उपेक्षा का युग है। यथार्थवादिता इस युग की अपनी एक खास विशेषता है। आज का जीवन नाना प्रकार के भेद-भाव तथा समस्याओं से आन्दोलित हो रहा है। इन्हीं भावों के अनुरूप ही साहित्य में भी नये विचारों का आना स्वाभाविक है। नाटक साहित्य भी इन प्रवृत्तियों से अछूता नहीं रहा।

चतुर्थ उत्थान काल में गांधीवादी और मार्क्सवादी नाटकों का प्रणयन नाटक साहित्य के लिये एक उल्लेखनीय बात है।' इस युग में रङ्गमञ्च के विकास और प्रचार के साथ ही साथ नाटकों की भी बढ़ती हुई माँग को पूर्ण करने का प्रयास भी हो रहा है। आज के नाटक साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसके सभी लेखक रंगशाला में आ रहे हैं। आज का नाटककार अपने नाटक को पुस्तकालय में देखना नहीं चाहता, वह तो उन्हें रङ्गमञ्च पर देखना चाहता है।

इस युग में हम एक ओर पुराने नाटककारों, डा० रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास उदयशंकर भट्ट, गोविन्दबल्लभ पंत, जगदीशचन्द्र माथुर और विष्णु प्रभाकर को रचना-कार्य में संलग्न पाते हैं तो दूसरी ओर हम नये विकासशील नाटककारों—डा० लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश और नरेश मेहता के नाटकों में नये रूप-शिल्प का संकेत पा रहे हैं।

पुराने खेमे के नाटककारों में आज डा० रामकुमार वर्मा के नाटकों का विशेष महत्व है। उन्होंने अपने नाटकों में पात्रों के 'मनोविज्ञान' की ओर विशेष ध्यान दिया है। इनके तीन नाटक आज के प्रसिद्ध नाटकों में गिने जाते हैं। 'कला और कृपाण', 'अहिंसा की हिंसा', 'नाना फड़नवीस' आदि नाटक पौराणिकता और ऐतिहासिकता के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। वर्मा जी की भाषा सुव्यवस्थित है, संवाद उपयुक्त है और घटना-क्रम की योजना समुचित है।

हरिकृष्ण प्रेमी जी ऐतिहासिक नाटककार हैं। ये नाटकों में यथार्थवाद को संयत रूप में उपस्थित करने के लिये समर्थ हैं। इनके नाटकों में साहित्यिक तत्वों तथा वर्तमान समस्याओं का समावेश है। इधर से इनके नाटकों में 'रक्षा बंधन', 'संरक्षक, 'शतरंज के खिलाड़ी' 'साँपों की सृष्टि', आदि प्रमुख है। इन नाटकों में राष्ट्रीयता, तथा मानव-प्रेम आदि भावों की अभिव्यक्ति हुई है।

उपेन्द्रनाथ अश्क प्रमुखतः एकांकीकार हैं, पर कुछ नाटक इन्होंने भी लिखे हैं। इनमें 'अजोदीदी' विशेष उल्लेखनीय है। इनके 'कैद' नाटक नये विधान पर

नाटक का विकास

गिरिधरदास द्वारा रचित 'नहुष' नाटक से प्रारम्भ माना जाता है। इसके विकास क्रम को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

भारतेन्दु युग—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—भारत दुर्दशा, नील देवी। बालकृष्णभट्ट—रेलका विकट खेल—'बालविवाह'।

प्रतापनारायण—गो संकट, हठोहमीर।

प्रेमघन—भारत-सौभाग्य, वृद्ध विलाप।

द्विवेदी युग—

अनुवाद—मनभावन, वेनिस का व्यापारी।

देवी प्रसाद पूर्ण—चन्द्रकला भानुकुमार।

माखनलाल—कृष्णार्जुन युद्ध।

प्रसाद युग—

प्रसाद—चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त।

हरिकृष्ण – रक्षा बन्धन, शिवा साधना।

लक्ष्मीनारायण मिश्र—मुक्तिका रहस्य, राक्षस का मन्दिर।

चतुर्थ उत्थान—

रामकुमार वर्मा—कला और कृपाण, अहिंसा की हिंसा।

उपेन्द्रनाथ अश्क – अजो दीदी, कैद।

मोहन राकेश—आषाढ का एक दिन।

माथुर—कोणार्क, शारदीया।

लिखा गया नाटक है। इनके नाटकों में इनकी सांकेतिकता तथा भावुकता मुखरित हो उठी है।

मोहन राकेश के नाटकों की चर्चा इन दिनों काफी हुई। इनका 'आषाढ़ का एक दिन' विशिष्ट नाटक है। इसमें कालिदास की जीवन-झांकी प्रस्तुत की गई है। इनका यह पुरस्कृत नाटक इलाहाबाद, बनारस, लखनऊ और कलकत्ते के विभिन्न नाट्य दलों द्वारा प्रस्तुत किया जा चुका है।

रंगमंचीय कला से पूर्ण परिचित और अंग्रेजी तथा भारतीय नाटकों में अभिरुचि रखने वाले पारखी और मर्मज्ञ नाटककार डा० जगदीश चन्द्र माथुर ने अपनी सशक्त लेखनी से दो महत्वपूर्ण कृतियों की रचना की है। एक है—'कोणार्क', और दूसरा है 'शारदीया'। शारदीया में मानव प्रेम का उत्कृष्ट रूप दिखाई देता है। इनमें ऐतिहासिक तथ्यों की खोज, पात्रों का यथार्थ मनोवैज्ञानिक चित्रण, कल्पनाप्रियता तथा घटनाओं का सफल विवरण मिलता है।

इन नाटककारों के अतिरिक्त वृन्दावनलाल वर्मा, रांगेय 'राघव' गुरुदत्त, रमेश मेहता, सेठ गोविन्द दास, तथा डा० लक्ष्मीनारायण लाल आदि आज के प्रसिद्ध नाटककार हैं।

हिन्दी साहित्य में एकांकी का उद्भव और विकास :—

आधुनिक युग नाना प्रकार की समस्याओं का युग है। आज मानव जीवन इतना संघर्षमय और व्यस्त हो गया है कि इसमें लगातार तीन घन्टों तक बैठकर किसी नाटक का आनन्द लेना असम्भव सा हो गया है। मानव के व्यस्त जीवन में भी मनोरंजन और लोक-कल्याणार्थ कुछ हिन्दी साहित्य के विद्वानों ने एक नवीन प्रकार का नाटक लिखना शुरू किया। इस नाटक के नये रूप को 'एकांकी' की संज्ञा दी गयी। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है एकांकी एक ऐसा नाट्य प्रयत्न है जिसमें एक ही अंक होता है। इसमें जीवन की किसी एक घटना का संक्षिप्त कथानक प्रस्तुत किया जाता है, चरित्रों की जमघट न लगाकर कुछ ही पात्रों के माध्यम से कथानक को समाप्त किया जाता है। एकांकी की इन विशेषताओं के आधार पर हम एकांकी को नाटक का लघु रूप कह सकते हैं। जिस प्रकार कहानी उपन्यास का संक्षिप्त रूप है ठीक उसी प्रकार एकांकी भी नाटक का लघु और संक्षिप्त रूप है।

हिन्दी एकांकी का विकास संस्कृत नाटक के आधार पर न होकर पाश्चात्य नाट्य साहित्य के आधार पर हुआ। हिन्दी की आधुनिक एकांकियों पर पाश्चात्य नाटकों का तथा नाटककारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। 'इब्सन' और 'शा' का अनुकरण, नाट्य नियमों का पालन मानकर एकांकियों में हुआ है,

इसमें कोई सन्देह नहीं, पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि एकांकियों का प्रचलन पाश्चात्य नाट्य साहित्य के अनुकरण में हुआ। हिन्दी की एकांकियों में भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य साहित्य का सम्मिश्रण भारतीय एकांकीकारों की कला का परिणाम है।

भारतीय आदर्शों के आधार पर भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग में भी कुछ एकांकी नाटक प्रकाशित हुए, पर इसका सही उद्भव और विकास प्रसाद युग से ही माना गया है। कुछ विचारकों और इतिहासकारों ने प्रसाद के भाव नाट्य 'एक घूंट' को हिन्दी साहित्य का प्रथम एकांकी माना है। डा० नगेन्द्र ने स्पष्टतः कहा है कि 'एक घूट' हिन्दी साहित्य का प्रथम एकांकी रूप है। प्रसाद के पश्चात् आधुनिक हिन्दी साहित्य में एकांकी नाटकों और एकांकीकारों की भरमार हो गई। हिन्दी के श्रेष्ठ नाटककार भी इस ओर प्रवृत्त हुए। उदयशंकर भट्ट, डा० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, डा० जगदीशचन्द्र माथुर, भुवनेश्वर मिश्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री विष्णु प्रभाकर, श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी', आदि आज के प्रमुख एकांकीकार हैं। इन एकांकीकारों में कुछ का परिचय आवश्यक है।

एकांकी के क्षेत्र में सबसे पहले हम डा० रामकुमार वर्मा का नाम गौरव और श्रद्धा के साथ ले सकते हैं। आधुनिक युग के नाट्य शास्त्रियों में इनकी देन अमूल्य है। नाट्य साहित्य के अतिरिक्त इन्होंने इधर कुछ प्रसिद्ध एकांकी साहित्य का भी सृजन किया है। इनके एकांकी हिन्दी साहित्य में सरस और मार्मिक प्रभाव डालने वाले माने जाते हैं। इनमें इन्होंने समाज, मनोविज्ञान एवं इतिहास के चित्र अंकित किये हैं। इनके 'रेशमी टाई', 'चारुमित्रा', 'पृथ्वीराज की आँखें' नामक प्रसिद्ध एकांकी संग्रह निकल चुके हैं। डा० वर्मा ने इन एकांकियों में भारतीय और पाश्चात्य दोनों कलाओं का संयोग किया है। चरित्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन इन नाटकों की विशेषतायें हैं। आज तक इनके बीसों एकांकी संग्रह निकल चुके हैं। सामाजिक, पौराणिक, ऐतिहासिक साहित्यिक एकांकियों के अतिरिक्त हास्य प्रधान एकांकी भी वर्मा जी ने लिखे हैं।

प० भुवनेश्वर मिश्र एक सफल एकांकीकार हैं। सामाजिक विशेषताओं की तीखी अनुभूति भुवनेश्वर जी को थी। इनके एकांकी संग्रहों में 'कारवाँ', 'असर', 'पतिता' आदि प्रसिद्ध हैं। 'चंगेज खाँ', 'सिकन्दर' आदि इतिहास प्रसिद्ध नायकों पर भी इनके एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी इन कृतियों में मध्यवर्गीय समाज की खोखली नैतिकता पर गहरा प्रहार किया गया है। ये मध्यवर्गीय समाज के चित्रण में अधिक सफल हुये हैं।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क की गणना भी हिन्दी के श्रेष्ठ एकांकीकारों में की जाती है। इनकी लेखनी आज भी क्रियाशील है। इन्होंने अपने एकांकियों के द्वारा व्यक्ति और समाज की कुरीतियों पर तीखा व्यंग किया है। पारिवारिक समस्याओं को चित्रित करने वाले नाटक ही अधिक सफल हुये हैं। इनके एकांकी अभिनेय भी हैं। 'परदा गिराओ, परदा उठाओ', 'अधिकार का रक्षक', 'देवताओं की छाया में', आदि इनके प्रमुख एकांकी संग्रह हैं।

उपर्युक्त श्रेष्ठ एकांकीकारों के समक्ष रखे जाने वाले एकांकीकारों में श्री उदय शंकर भट्ट, श्री जगदीश चन्द्र माथुर, सेठ गोविन्ददास, श्री विष्णु प्रभाकर, डा० प्रेमनारायण टंडन आदि साहित्यकारों का भी रखा जा सकता है। डा० जगदीश चन्द्र माथुर ने 'भोरका तारा', तथा 'रीढ़ की हड्डी' आदि प्रसिद्ध एकांकी संग्रहों में हिन्दी साहित्य के एकांकी साहित्य को प्रगतिशील बनाया है।

उपर्युक्त सभी एकांकीकारों की सहायता से आज का एकांकी साहित्य सफलता की इस सीमातक पहुँच गया है कि नाटक की रचना की गति ही अवरुद्ध हो गई है। यही कारण है कि प्रौढ़ नाटक लिखने वाले श्री सीताराम जी चतुर्वेदी भी आज एकांकी की ओर झुक गये हैं। इनके एकांकियों की भी संख्या काफी है। ऐतिहासिक, व्यंगात्मक, पौराणिक आदि एकांकियों के सृजन में चतुर्वेदी जी की कला निखर उठी है। इनका एक एकांकी 'लग गई आग' आज भी हमारे हृदय में आग लगाने में समर्थ है।

नई पीढ़ी के एकांकीकार भी साहित्य सृजन में तल्लीन हैं। कर्तार सिंह दुग्गल, कमलाकान्त वर्मा, डा० धर्मवीर भारती, अमृत लाल नागर आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त कलाकारों के अतिरिक्त हमारे अन्य अनेक उदीयमान, सद्गुण साहित्य पारखी और प्रतिभा सम्पन्न कलाकार भी इस दिशा में सफलता पूर्वक कार्य कर रहे हैं। इन सभी एकांकीकारों के द्वारा एकांकी साहित्य की जो उन्नति हुई है, वह प्रशंसनीय है।

हिन्दी साहित्य में निबन्ध का विकास :—

आधुनिक काल गद्यकाल के नाम से अभिहित होता है। इस युग में गद्यात्मक स्वरूपों का जितना विकास हुआ उतना शायद और किसी स्वरूप का नहीं। निबन्ध इस स्वरूप की सर्वश्रेष्ठ विधा है। निबन्ध संस्कृत का शब्द है। इसका अर्थ है सुसबद्ध, किन्तु हिन्दी में इसका प्रयोग (Essay) के पर्याय रूप में हुआ है। 'एसे' (Essay) का अर्थ है —प्रयास। निबंध में निबन्धकार अपने विचारों को सुसम्बद्ध तथा शृंखलित रूप में अंकित करते हैं। हिन्दी साहित्य में

इसका प्रारम्भ नवीनतम है। इसका विकास गद्य के विकास के बाद ही होता है। यही कारण है कि भारतेन्दु युग के पूर्व हम इसकी रचना नहीं पाते। राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मण सिंह की गद्य-रचनायें उपलब्ध अवश्य होती हैं किन्तु उन्हें हम निबंध की परिभाषा में नहीं रख सकते।

निबन्ध साहित्य के उद्भव और विकास-क्रम का अध्ययन हम इन उत्थानों में कर सकते हैं :—

प्रथम उत्थान काल (भारतेन्दु युग—सं० १९२५-१९५०)
द्वितीय उत्थान काल (द्विवेदी युग—सं० १९५०-१९७५)
तृतीय उत्थान काल (रहस्यवाद छायावाद युग—सं० १९७६-१९९५)
चतुर्थ उत्थान काल (प्रगतिवाद-प्रयोगवाद युग—सं० १९९५-आज तक)

प्रथम उत्थानकाल (भारतेन्दु युग—सं० १९२५-१९५०)

इस युग के पूर्व हमारे साहित्य के कुछ कवियों ने गद्य के विकास की ओर प्रयास किये थे। निबन्ध के रूप में भी कुछ चेष्टायें अवश्य हुई थीं किन्तु उनकी गणना निबन्धों के रूप में भी नहीं की जा सकती। प० सदासुखलाल जी का 'सुरासुर निर्णय' लेख अपने में निबन्धात्मक स्वरूप की रक्षा करता अवश्य है किन्तु इसे आधुनिक निबन्ध की परिभाषा नहीं दी जा सकती है। वास्तविक निबन्धों का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से ही माना जाना चाहिये। हमारे प्रसिद्ध इतिहास-कारों ने इसे मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि भारतेन्दु युग में ही निबन्ध-रचना की परम्परा का सूत्रपात हुआ। निबंध साहित्य के सूत्रपात में भारतेन्दु युग की पत्र-पत्रिकाओं का बहुत बड़ा हाथ रहा। भारतीय समाज की परिवर्तित विचार-धाराओं में उस युग की पत्रिकाओं में निबन्ध निकलने लगे। ऐसा कहा जाता है कि पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी साहित्य के विकास का द्वार खोल दिया। सत्य भी है। इस युग की प्रमुख पत्रिकाओं, 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका', 'बालबोधिनी', 'ब्राह्मण', 'बनारस', 'अखबार', 'हिन्दी प्रदीप', 'आनन्दकादम्बिनी' में सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक निबन्ध निकलने लगे।

आधुनिक युग के अग्रगण्य, नायक और आधुनिक साहित्य के जनक भारतेन्दु के कर-कमलों से अनेक मौलिक निबन्ध प्रस्तुत हुए। ये ही इस युग के पहले निबन्धकार हैं। उनके निबन्धों में हम मूर्तिपूजक है, 'सूर्योदय', 'अपव्यय', 'होली', 'जातीय संगीत', आदि मुख्य हैं। निबन्ध के इन शीर्षकों को दृष्टि-गत करते हुए हमें यह कहना पड़ता है कि भारतेन्दुजी ने यथासम्भव सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक उत्थान के लिये प्रयास किये। इन निबन्धों की भाषा

-प्रवाहहीन एवं गतिहीन है। डा० रामकुमार वर्मा ने ठीक ही कहा है—'भारतेन्दु जी ने अपने अन्य साहित्यिक रूपों की रचनाओं में भाषा का रूप बड़ा प्रवाह-युक्त रक्खा है, किन्तु निबन्धों को पढ़ने में ऐसा लगता है जैसे लेखक एक-एक वाक्य सोच-सोचकर लिख रहा है।'

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद इस युग के निबन्ध लेखकों में बालकृष्ण भट्ट जी का नाम गौरव के साथ लिया जा सकता है। 'सभ्यता और साहित्य, कल्पना शक्ति', 'आत्मनिर्भरता', 'धर्म का महत्व', आदि निबन्धों से निबन्ध साहित्य को विकसित किया। इनकी भाषा में अनेक शब्दों का प्रयोग होता है। अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी के शब्दों का चयन भी इनके निबन्धों में बड़ी कुशलता एवं सफलतापूर्वक किया गया है। भाषा में गति और प्रवाह का आगमन भी होता है। सबसे बड़ी बात इनके निबन्धों के सम्बन्ध में जो कही जा सकती है वह है मनोरंजकता। इनके निबन्ध बड़े रूप, मनोरंजन और चुलबुलाहट से पूर्ण हैं।

प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु युग के आलोचक निबन्धकार माने जाते हैं। इनके निबन्ध इनकी पत्रकारिता के प्रतिनिधि हैं। पत्रों के अग्रलेखों में गम्भीरता का अभाव होता है। इसी प्रकार प्रतापजी के लेखों में भी सरलता एवं सुगमता पाई जाती है। व्यंग्यात्मक शैली इनकी प्रमुख शैली है। राष्ट्रीयता का जागरण भी इन्हीं के निबन्धों से होता है। 'उपाधि', 'प्रताप चरित्र', 'कॉंग्रेस की जय' 'बकमूर्ख' आदि इनके निबन्ध है। ये हिन्दी के प्रबल समर्थक थे।

मिश्रजी के ठीक विपरीत इसी युग में एक और निबन्धकार का जन्म होता है जिसका नाम श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' है। इनकी शैली बड़ी विलक्षण थी। ये किसी भी विचार को सीधे और सरल ढंग से लिखना ही नहीं जानते थे। इनकी अलंकारिता और समासशैली भारतेन्दु युग की कीर्ति है। इनकी भाषा अनुप्रासमयी और चुलबुलाती हुई होने पर भी उनका पद-विन्यास व्यर्थ आडम्बर के रूप में नहीं होता था। उनके लेख अर्थ गर्भित और सूक्ष्म विचारपूर्ण होते थे। 'हमारी मसहरी, फाल्गुन' 'मित्र' 'ऋतुवर्णन', परिपूर्ण पावस' आदि इनके प्रमुख निबन्ध हैं। ये सभी निबन्ध पद्यात्मक गद्य में हैं।

भारतेन्दु युग में उपर्युक्त प्रमुख निबन्धकारों के अतिरिक्त पं० अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहन सिंह, राधाचरण गोस्वामी, श्री निवास दास जैसे प्रतिभा सम्पन्न निबन्धकारों का जन्म हुआ। इसी युग के अन्त में श्री बालमुकुन्द गुप्त जी का आविर्भाव हुआ जिनकी निबन्ध-रचनाओं ने द्विवेदी काल की श्रीवृद्धि की।

द्वितीय उत्थानकाल (द्विवेदी युग—सं० १९५०-१९७५)

द्वितीय उत्थान काल में विषयों की नवीनता और व्यापकता एक प्रमुख विशेषता रही। इसमें शैली की अनेकरूपता का भी विस्तार एवं विकास हुआ। ऐसे लेखकों की संख्या बढ़ी जिनकी शैली में कुछ उनकी निज की विशिष्टता रहती थी। इनकी लिखावट को परख कर लोग कह सकते थे कि यह उन्ही की है। वाक्य विन्यास भी प्रगति पथ पर आरूढ़ हुआ। अर्थ गाम्भीर्य और अभिव्यंजना प्रणाली का भी इस युग में प्रसार हुआ। इतना होने पर भी निबन्ध की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इस युग के प्रायः उच्चकोटि के सभी निबन्ध तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। इस युग के निबन्धकारों की दिशायें सदैव बदलती रहती थी। फिर भी अधिकांश लेख हिन्दी-प्रदीप, सरस्वती, मर्यादा, इन्दु आदि प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। इस काल के भीतर जिनकी कुछ कृतियाँ निबन्ध कोटि में आ सकती है उनका संक्षेप में उल्लेख कर देना विषयानुकूल एवं न्यायसंगत होगा।

महावीरप्रसाद द्विवेदी इस युग के सबल, समर्थ और प्रशंसनीय निबन्धकार हैं। इनके प्रायः सभी निबन्ध 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। इनके निबन्ध अधिकतर पत्रकार शैली में लिखे गये है किन्तु इनके निबन्धों में विचारों की प्रधानता पायी जाती है। इनके स्थायी निबन्धों में दो ही चार आ सकते हैं। 'कवि और कविता' तथा 'प्रतिभा' आदि इनके उच्चकोटि के निबन्ध है। 'आर्य समाज का कोप' तथा 'क्या हिन्दी नाम की भाषा ही नहीं' आदि निबन्ध व्यास शैली में लिखे गये हैं। इन निबन्धों में समझाने-बुझाने वाली शैली ही देखी जाती है। द्विवेदी जी के निबन्ध के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'रसज्ञ रंजन' 'अद्भुत अलाप' 'साहित्य संदर्भ' 'साहित्य सीकर' 'विचार विमर्श' आदि प्रमुखता पा सकते हैं। द्विवेदी जी के इन निबन्धों की भाषा अत्यन्त शुद्ध, प्रौढ़ एवं प्रांजल है।

द्वितीय उत्थान काल में माधवप्रसाद जैसा प्रतिभाशाली, तेजस्वी, सनातन धर्मी, संस्कृतिरक्षक और स्वदेश प्रेमी अन्य कोई निबन्धकार नहीं हुआ। इनके भावात्मक निबन्ध अत्यत प्रमुख एव सहृदयुक्त है। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी प्रकार के निबन्ध इनके द्वारा लिखे गये। 'वेशर का भ्रम' 'धृति' और 'क्षमा' इनके प्रसिद्ध निबन्ध हैं। अन्य निबन्धों के विषय भारतेन्दु युग की ही भाँति पर्व, त्योहारों, ऋतुओं, तीर्थस्थानों, यात्राओं आदि से सम्बन्धित हैं। इनके निबन्धों का भाषा-सौंदर्य हमें पूर्णरूपेण अपने वश में कर लेता है। मिश्रजी की भाषा संस्कृत गर्भित एवम् प्रवाहमयी है।

बालमुकुन्द गुप्त को हम साहित्य पाठक कभी भूल नहीं सकते। इनकी व्यंग्यात्मक शैली हिंदी निबन्ध-साहित्य की स्थायी निधि है। इनके निबंधों में व्यक्तित्व का प्रकाशन एवं सौंदर्य है। इनका व्यंग्यात्मक निबंध 'शिवशम्भु का चिट्ठा' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके अन्य निबंध 'गुप्त निबंधावली' में संग्रहीत हैं। इनकी शैली विनोदपूर्ण, भावात्मक एवं व्यंग्यात्मक है। इनके विनोदपूर्ण, वर्णनात्मक विधान के भीतर भाव छुटे-छिपे से दिखलाई पड़ते हैं।

बाबू श्यामसुन्दर दास नागरी प्रचारिणी सभा के स्थापन-काल से ही लेकर बराबर हिंदी भाषा, कवियों की खोज तथा इतिहास आदि के सम्बन्ध में लेख लिखते आये हैं। इनके निबन्ध प्रायः आलोचनात्मक, गवेषणात्मक एवं विचारात्मक हैं। इनके निबन्धों की भाषा शुद्ध, सरल और गठी हुई है। इनकी हिंदी में अरबी-फारसी के शब्द नहीं आते। 'समाज और साहित्य', 'कला का विवेचन' आदि निबन्ध लिखकर बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने अपनी गवेषणात्मक, विवेचनात्मक तथा ऐतिहासिक प्रवृत्ति का परिचय दिया। इन निबन्धों में पांडित्यपूर्ण ओज एवं गाम्भीर्य है। इनकी निबन्ध रचनाओं में गद्य कुसुमावली तथा हिंदी भाषा और साहित्य मुख्य हैं।

द्विवेदी युग के अन्य निबन्धकारों में पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', सरदार पूर्णसिंह, गोपालराम गहमरी तथा गुलाब राय आदि के नाम लिये जाते हैं। गुलेरीजी के 'कछुआधरम', 'मारेसि मोहिं कुठाऊँ' आदि निबन्ध अपने गम्भीर और पांडित्य पूर्ण हास के लिये प्रसिद्ध हैं। इनकी वाणी अनेक गूढ़ शास्त्रीय विषयों तथा कथा-प्रसंगों की ओर विनोदपूर्ण संकेत करती हुई चलती है। अध्यापक पूर्णसिंह के 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम' और 'सच्ची वीरता' अपनी लाक्षणिकता के उत्कृष्ट नमूने हैं। गुलाब राय जी इस युग के प्रमुख निबंधकार माने जाते हैं। 'कर्तव्य सम्बन्धी रोग' 'निदान और चिकित्सा' 'समाज और कर्तव्य पालन' तथा 'फिर निराशा क्यों' आदि इनके विचारात्मक और भावात्मक, निबंध हैं। इनकी शैली समास शैली है तथा इनकी भाषा बड़ी ही चुस्त है।

तृतीय उत्थान काल—(रहस्यवाद-छायावाद युग)
(सं० १९७६-१९९५)

तृतीय उत्थान काल सभी दृष्टियों से विशिष्ट युग है। साहित्य की सभी विधाओं को भाव, कला, भाषा तथा शैली आदि सभी दृष्टियों से आगे बढ़ाने में इस युग का सक्रिय हाथ रहा है। क्या काव्य और क्या गद्य सभी इस युग के साहित्यकारों की लेखनी से ज्योतित और प्रभावपूर्ण हो गये। निबंध साहित्य के लिये यह तृतीय उत्थान काल विस्तार काल कहा जा सकता है।

इस विस्तार काल के प्रमुख निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल माने जाते हैं। इनके रूप में हिन्दी को सर्वप्रथम एक महान निबन्ध लेखक मिला। शुक्ल जी ने इस क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन्होंने भावात्मक, समीक्षात्मक तथा साहित्यिक निबंध लिखे। शुक्ल जी ने आलोचनात्मक तथा व्याख्यात्मक शैलियाँ अपनायी हैं। शुक्ल जी के निबन्धों के नाम हैं—भाव व मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा, भक्ति, घृणा, प्रेम, और ग्लानि, कविता क्या है, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद, मित्रता आदि। इनके अतिरिक्त इन्होंने सूर, तुलसी, जायसी, भारतेन्दु आदि पर भी व्याख्यात्मक तथा व्यावहारिक आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। इनके निबन्ध 'चिन्तामणि' (भाग १) व चिन्तामणि (भाग २) में संग्रहीत हैं। ये निबन्ध शुक्ल जी के व्यक्तिगत अनुभव के आधार हैं। इन निबन्धों से निबन्ध साहित्य का बड़ा ही विकास एवं प्रसार हुआ।

अब शुक्ल जी के पश्चात् इस युग के गण्यमान निबन्धकारों में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बाबू गुलाब राय वियोगी हरि, बाबू रायकृष्ण दास, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० नगेन्द्र, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प० शान्ति प्रिय द्विवेदी, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्धकार हैं। उन्होंने साहित्य, धर्म, जीवन और समाज को लेकर अत्यन्त सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। उनके निबन्ध 'पंचपात्र', 'मकरन्द-बिन्दु', 'प्रबन्ध पारिजात' और 'प्रदीप' में संग्रहीत हैं। इनके आलोचनात्मक और वैयक्तिक सभी निबन्ध श्रेष्ठ कोटि के हैं।

डा० धीरेन्द्र वर्मा के निबन्धों का संग्रह 'विचार धारा' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इन निबन्धों में खोज, हिन्दी प्रचार, हिन्दी साहित्य, समाज, राजनीति, समालोचना तथा अन्य विषयों के निबंध संग्रहीत हैं। वर्मा जी के विचार बड़े ही स्पष्ट और सुलझे हुए हैं। इनकी भाषा व्यावहारिक माधुरी से ओत प्रोत है।

रायकृष्ण दास ने इसी युग में गीताजलि पद्धति पर 'साधना', 'प्रवाल' तथा 'छाया पथ' नामक निबंध संग्रहों के निबंधों की रचना की। वियोगी हरि की 'भावना' और 'आर्तनाद' आदि रचनायें भी उत्कृष्ट कोटि की हैं।

महादेवी वर्मा इस युग की एक प्रसिद्ध निबंध लेखिका हैं। इनके साहित्यिक और सामाजिक विषयों पर लिखे गये निबंध बड़े ही गम्भीर और पुष्ट हैं।

इन निबंधकारों के अतिरिक्त इस युग के अन्य निबंधकारों के योगदान को भी नहीं भुलाया जा सकता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शास्त्रीय और सांस्कृतिक तथा गवेषणात्मक निबंधों को क्या छिपाया जा सकता है? उत्तर होगा—नहीं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र के विद्वत्तापूर्ण निबंध तथा डा० रामविलास शर्मा के सरस, व्यंगपूर्ण निबन्धों से सचमुच हिन्दी साहित्य का जो कल्याण हुआ है, वह अतुलनीय और अवर्णनीय है।

चतुर्थ उत्थान काल—(प्रगतिवाद-प्रयोगवाद)

(सं० १९९५—आज तक)

आज के हिन्दी साहित्य में निबन्धकारों की कमी नहीं है, पर अगणित निबंधकारों में कुछ निबन्धकार ही स्वस्थ्य साहित्य का सृजन कर रहे हैं। इन स्वस्थ्य निबंध साहित्य प्रणेताओं में तृतीय उत्थान काल के निबंधकार ही विशेष उल्लेखनीय हैं। ये निबन्धकार साहित्य और साहित्येतर सभी प्रकार के निबन्ध लिख रहे हैं। आज के निबंधों में जीवन के विविध विषय आ गये हैं और उन विषयों की अभिव्यक्ति भी विभिन्न शैलियों में हुई है। आज आलोचनात्मक, विवेचनात्मक, उपदेशात्मक, विचारात्मक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक आदि अनेक शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ है। विषय दृष्टि से आज विचार प्रधान और भाव प्रधान निबंध प्रमुख हैं और शैली की दृष्टि से कलात्मक एवं गवेषणात्मक निबंधों की प्रधानता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आज के निबन्ध भाव, विषय शैली सभी दृष्टियों से पहले से प्रगति पथ पर हैं। आज बहुत से प्राध्यापक कोटि के निबंधकार पाश्चात्य साहित्य की प्रेरणा से प्रेरित होकर तुलनात्मक निबंधों की रचना की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यह निबंध साहित्य के भाग्योदय का द्योतक है।

निबन्ध का विकास

प्रथम उत्थान—

भारतेन्दु—होली, हम मूर्ति-पूजक हैं।
बालकृष्ण-आत्मनिर्भरता, धर्म का महत्त्व।
प्रतापनारायण—उपाधि, बच्च-मूर्ख।
प्रेमघन—हमारी मसहरी, ऋतु वर्णन।

द्वितीय युग—

द्विवेदी जी—साहित्य सदर्भ, साहित्य-सीकर।
माधव प्रसाद—धृति, क्षमा।
बालमुकुन्द गुप्त—शिवशम्भु का चिट्ठा।
डा० श्यामसुन्दर दास—गद्य कुसुमावली, हिन्दी भाषा और साहित्य।
गुलेरी जी—कछुआ धरम

तृतीय उत्थान—

आ० शुक्ल—चिन्तामणि
डा० धीरेन्द्र वर्मा—विचारधारा।
रायकृष्णदास—छायापथ, प्रवाल

चतुर्थ उत्थान—

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—
अशोक के फूल, विचार और वितर्क
बेनीपुरी—माटी की मूरतें, मशाल।
विद्यानिवास—तुम चन्दन हम पानी, बनजारा।
दिनकर—नीम के पत्ते, अर्ध-नारीश्वर।

आज के प्रमुख निबन्धकारों में हम डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की ही गणना कर सकते हैं। इनके निबन्धों में 'अशोक के फूल' तथा 'आम फिर बौरा गये', प्रसिद्ध हैं। इनके अन्य निबन्ध 'कीर्तिलता' 'कल्पलता' विचार और वितर्क' में संगृहीत हैं। इनकी भाषा संस्कृतगर्भित एवं प्रौढ़ है। इनके निबन्धों को पढ़ने पर इनकी प्रगाढ़ अध्ययन शीलता तथा इनके विराट ज्ञान का पता चलता है। इनके साहित्य से भारतीय संस्कृति की बड़ी रक्षा हुई है। द्विवेदी जी आज भी साहित्य सेवा तत्परता से कर रहे हैं। इनके निबन्ध आज की प्रायः सभी साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं।

सफल कहानीकार तथा साम्यवादिता के प्रसारक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी' जी के निबन्ध यथार्थ, रोचक और और भावात्मक हैं। कृषकों का यथार्थ चित्र उपस्थित करने में इन्हें बड़ी सफलता मिली है। 'माटी की मूरतें' तथा 'मशाल' आदि इनके निबन्ध संग्रह हैं।

श्री विद्यानिवास मिश्र भी इस युग के कलात्मक निबन्धकारों में श्रेष्ठ माने जा सकते हैं। 'तुम चन्दन हम पानी', 'कदम्ब की फूली डाल', 'आँगन का पंछी' और 'बनजारा मन' के अनेक निबन्ध व्यक्ति प्रधान और साहित्यिक हैं। इनकी सरसता और कलात्मकता हिन्दी निबन्ध साहित्य की प्रगति की सूचिका है।

हमारे राष्ट्रीय कवि दिनकर की लेखनी ने भी निबन्ध साहित्य की आयु-वृद्धि में सफलता पूर्वक कार्य किया है।

इनके 'अर्ध नारीश्वर' और 'नीम के पत्ते' आदि इस युग के श्रेष्ठ निबंध हैं।

जैनेन्द्र के मनोवैज्ञानिक निबंध क्रमशः 'पूर्वोदय', 'सोच विचार' 'मंथन तथा मेरे साहित्य का 'श्रेय और प्रेय' में संग्रहीत हैं।

वर्तमान युग के अन्य निबंधकारों में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, यशपाल, डा० मनोरथ मिश्र, डा० बल्देव प्रसाद मिश्र आदि अनेक विद्वानों के नाम श्रद्धा के साथ लिये जा सकते हैं। आज के निबंधकारों की संख्या एक शतक से कमी नहीं होगी। इन सभी साहित्य-पुत्रों की सफल तूलिका से चित्रित निबंध साहित्य आज इस सीमा तक पहुँच गया है कि उसके अन्तरगत आज जीवन के सभी प्रकार के विषय आ गये हैं और उनकी शैलियाँ भी नाना रूपों में हमारे सम्मुख आ चुकी हैं। इस प्रकार हमारा निबंध साहित्य प्रगति पर है।

हिन्दी साहित्य में उपन्यास साहित्य का विकास और उद्भव :

हिन्दी साहित्य का आधुनिक अंग-उपन्यास आज के गद्यात्मक प्रयासों में सर्वश्रेष्ठ प्रयास है। गद्य की अनेक विधाओं के समान यह भी आधुनिक युग की देन है। एकांकी की ही भाँति इसका मूल स्वरूप भी संस्कृत साहित्य में ही ढूँढा जाता है। संस्कृत साहित्य में वृहत् कथाएँ तो थीं किन्तु आज की उपन्यास शैली उन युग में नहीं थी। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन ने हिन्दी साहित्यकारों को उपन्यास की ओर अग्रसर किया। आज हम उपन्यास साहित्य की दृष्टि में इतने आगे बढ़ गये हैं कि विश्व के प्रसिद्ध साहित्यों की शैली और कला के अनुकूल बड़े बड़े महान उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं। उपन्यासों के विकास को हम चार कालों में विभाजित कर इसका सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(१) प्रथम उत्थान काल (भारतेन्दु युग)
(२) द्वितीय उत्थान काल (द्विवेदी युग)
(३) तृतीय उत्थान काल (प्रेमचन्द युग)
(४) चतुर्थ उत्थान काल (यशपाल अज्ञेय युग)

(१) प्रथम उत्थान काल :—भारतेन्दु युग में नाट्य साहित्य का जितना विकास हुआ उतना कथा या उपन्यास साहित्य का विकास न हो सका। इस युग के प्रथम चरणों में 'रानी केतकी की कहानी', 'प्रेमसागर', 'सुखसागर' आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे। किन्तु इनमें उपन्यास का स्वरूप लक्षित नहीं होता। पंजाब के उत्साही हिंदी लेखक 'श्रद्धाराम फुल्लौरी' की 'भाग्यवती' उपन्यास की कोटि में रखी जाती है परन्तु इसमें भी आधुनिक उपन्यास कला नहीं दिखलाई

देती। आचार्य शुक्ल ने कला की दृष्टि से श्री निवास दास के उपन्यास 'परीक्षा गुरु' से उपन्यास साहित्य का प्रादुर्भाव माना है। यह अंग्रेजी उपन्यासों के अनुकरण में रचित एक प्रमुख उपन्यास है। 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना तो जाता है किन्तु इसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और चरित्र-चित्रण का सर्वथा अभाव है।

ठाकुर जगमोहन सिंह भारतेन्दु युग के सबल साहित्यकार हैं। इन्होंने 'श्यामा स्वप्न' नामक एक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में उपन्यास के कुछ लक्षण दिखाई देते हैं। यह कल्पना-प्रधान उपन्यास है। इसके पात्र काल्पनिक जगत् के हैं। इसमें 'श्यामा' और 'श्यामसुन्दर' की प्रेमकथा वर्णित है। विन्ध्यभूमि के प्राकृतिक दृश्य और चित्र बड़े ही मोहक और प्रभावक हैं। इतना होने पर भी डा० रामकुमार वर्मा जैसे श्रेष्ठ इतिहासकारों ने इसे उपन्यास न कहकर एक भावात्मक आख्यान ही कहा है। बालकृष्ण भट्ट के सौ अजान एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' नामक दो उपदेशात्मक उपन्यास भी इस युग के उपन्यास साहित्य की संख्या को बढ़ाने में समर्थ सिद्ध होते हैं।

इस युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार श्री किशोरीलाल गोस्वामी भी कहे जा सकते हैं। इनसे ही सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रारम्भ माना जाता है। 'लवंगलता', स्वर्गीय कुसुम', 'हृदयहारिणी' आदि उपन्यास गोस्वामी जी के श्रेष्ठ उपन्यासों में से हैं। बगला साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर स्वामी जी ने मौलिक उपन्यासों की रचना की और उनसे उपन्यास साहित्य का कोष सचमुच समृद्ध हुआ। पात्रों का चित्रण स्वाभाविक ढग से हो, यह उपन्यास कला की मांग है। गोस्वामी जी के उपन्यास इस मांग की पूर्ति करते हैं। इनके कुछ उपन्यासों में ऐयारी और तिलस्मी प्रवृत्तियाँ भी झाँकती हुई नजर आती हैं।

उपर्युक्त उपन्यासकारों के अतिरिक्त बाबू राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दू' अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तांत' आदि उपन्यास भी इस युग के श्रेष्ठ उपन्यास हैं। इस युग के अन्तिम क्षणों में हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध दो उपन्यासकारों का जन्म होता है—बाबू देवकीनन्दन खत्री और बाबू गोपालराम गहमरी। इनका पूर्ण विकास द्विवेदी काल में होता है। इस प्रकार हम देखते हैं प्रथम उत्थान काल में ही हिन्दी साहित्य के कुछ मौलिक उपन्यासों की रचना हो गयी। मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त अनुवादित उपन्यासकारों की संख्या भी इस युग में कम नहीं रही। बगला, अंग्रेजी और संस्कृत कथाओं के आधार पर भी कुछ उपन्यास लिखे गये। अतः इन सभी सफलताओं को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि भारतेन्दु युग के उपन्यास यद्यपि कला की दृष्टि से अप्रौढ़ हैं तथापि उनका ऐतिहासिक महत्व है।

द्वितीय उत्थान काल—द्विवेदी युग उपन्यास के विकास के लिये महत्वपूर्ण युग है। इस युग के कर्णधार पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे और इनकी प्रतिभा विशेष कविता एवं आलोचना की ओर खिंची रही उपन्यास एवं कहानी की ओर नहीं। यही कारण है कि इस युग में मौलिक उपन्यासों का विकास अपेक्षाकृत कम हुआ। इतना होने पर भी यह कहा जा सकता है कि इस युग में अनुवादित और मौलिक उपन्यासों की संख्या कम नहीं रही। आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट लिखा है—"इस द्वितीय उत्थान में आरम्भ का बड़ा काम उपन्यासकारों में देखा गया वैसा किसी और वर्ग के लेखकों में नहीं। अनुवाद भी खूब हुए, और मौलिक उपन्यास भी कुछ दिनों तक बराबर निकले।

इसी उत्थान काल के अनुवादकों में पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, गोपालराम गहमरी और पं० रूपनारायण पाण्डेय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने बंकिम चन्द्र, शरत् बाबू और रवीन्द्र बाबू के उपन्यासों के हिन्दी रूपांतर प्रस्तुत किये। अंग्रेजी और मराठी से भी उपन्यास अनूदित हुए। बाबू गोपाल राम गहमरी जी के अनुवाद विशेष प्रसिद्ध हैं—'सास पतोहू; 'देवरानी-जेठानी; 'तीन पतोहू' आदि।

मौलिक उपन्यासकारों में बाबू देवकीनन्दन खत्री, बाबू गोपालराम गहमरी, बाबू किशोरीलाल गोस्वामी और कविवर अयोध्या सिंह उपाध्याय विशेष उल्लेखनीय हैं। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' उपाध्याय जी के प्रमुख उपन्यास हैं।

पहले मौलिक उपन्यास लेखक जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री थे। द्वितीय उत्थान काल के पहले इन्होंने 'कुसुम कुमारी' 'वीरेन्द्र वीर' आदि कई उपन्यास लिखे थे। द्विवेदी काल के इनके उपन्यासों में 'चन्द्रकान्ता, 'चन्द्रकान्ता संतति, 'भूतनाथ' आदि उपन्यास प्रसिद्ध हैं। इनके चन्द्रकान्ता और 'चन्द्रकान्ता संतति' जितने लोकप्रिय हुए उतने शायद और किसी के उपन्यास नहीं हुए। इन कृतियों ने हिन्दी के पाठकों की संख्या बढ़ा दी। उर्दू के पाठक भी हिन्दी की ओर झुक गये। बाबू साहब की भाषा हिन्दी उर्दू मिश्रित भाषा है। भाषा इतनी सरल है कि कम हिन्दी जानने वाले लोग भी इसे आसानी से समझ सकते हैं।

उपन्यासों की ढेर लगा देने वाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार पं० किशोरी लाल गोस्वामी हैं। इनकी कुछ रचनायें प्रथम उत्थान काल में ही प्रकाशित हो चुकी थीं। इस युग में प्रकाशित होने वाले इनके उपन्यासों में—तारा' 'चपला' 'लखनऊ की कब्र' 'लीलावती' आदि प्रमुख हैं इन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक और प्रेम सम्बन्धी उपन्यास लिखे। भाषा की दृष्टि से विचार करने पर इनके

उपन्यास असफल सिद्ध होते हैं। एक तरफ इन्होंने समासशैली प्रधान संस्कृत-निष्ठ हिंदी का प्रयोग किया तो दूसरी तरफ 'उर्दू-ए मुअल्ला' का। इतना होते पर भी उपन्यासों में समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूप रङ्ग, चित्ताकर्षक वर्णन और चरित्र-चित्रण भी अवश्य पाये जाते हैं।

बाबू गोपालराम गहमरी के कुछ जासूसी उपन्यास भारतेन्दु युग में ही प्रकाशित हो चुके थे किन्तु इनका विकसित रूप द्विवेदी काल में दिखलाई देता है। इनके उपन्यास तीन प्रकार के हैं ;—जासूसी, सामाजिक एवं ऐतिहासिक। इनकी शैली बडी ही मनोरंजक है, भाषा चटकीली है और विषय सामान्य हैं। इनके उपन्यासों में खूनी कौन ?', 'जासूस पर जासूस' 'किले में खून' आदि प्रसिद्ध हैं।

द्विवेदी युग के उपर्युक्त उपन्यासकारों के अतिरिक्त इस युग के लज्जाराम मेहता और बाबू ब्रजनन्दन सहाय मुख्य उपन्यासकार हैं। हिन्दू धर्म और हिन्दू पारिवारिक व्यवस्था की सुंदरता दिखलाने में मेहता जी के 'धूर्त रसिकलाल, 'हिन्दू गृहस्थ' आदि सफल हैं। सहाय जी के उपन्यासों में 'सौंदर्योपासक' और 'राधाकान्त' प्रसिद्ध हैं। ये उपन्यास भावात्मक हैं।

तृतीय उत्थान काल :—

छायावाद युग या तृतीय उत्थान काल का उपन्यास साहित्य यथार्थ की नींव पर खड़ा है। परवर्ती उपन्यासों में उपदेशात्मक तथा मनोरंजक तत्त्व ही प्रधान थे। अब उपन्यासों का लक्ष्य मनोरंजन से हटकर जीवन दर्शन और जीवन की विभिन्न समस्याओं पर आ गया। हिन्दी उपन्यास में नये युग का शिलान्यास प्रेमचन्द जी ने किया। हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द जी का व्यक्तित्व एक 'माइल स्टोन' है, क्योंकि प्रेमचन्द जी के पश्चात् ही हिन्दी उपन्यास को गति प्राप्त हुई। इनके उपन्यासों में वह प्रौढ़ता मिलती है जिसने चमत्कार पूर्ण भाषा को वास्तविक रूप दिया और विषय को गाँव एवं किसान से संबद्ध कर दिया। प्रेमचन्द जी के 'सेवा सदन' ने हिन्दी उपन्यास को एक नई दिशा दी। इसके पश्चात् प्रेमचन्द जी ने 'प्रेमाश्रम' 'रङ्गभूमि' 'कायाकल्प' 'कर्मभूमि' 'गबन' 'गोदान' आदि अनेक सामाजिक एवं समस्या प्रधान उपन्यास लिखे। इन उपन्यासों ने हमारी विभिन्न समस्याओं को पाठकों तक पहुँचाया।

उपन्यास शिल्प के विकास में साहित्य-जगत् को आलोकित करने वाले बाबू जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' ने बड़ा योग दिया। इन्होंने 'कंकाल' में समाज के कंकाल की पृष्ठभूमि पर प्रेम की समस्या रखी है। इसमें स्वाभाविक जीवन का मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण हुआ है। 'तितली' में पश्चिम की नारी के स्वच्छन्द प्रेम के साथ भारतीय नारी के संयत प्रेम की तुलना है। उपन्यास-कला की दृष्टि से यह उत्कृष्ट रचना है।

तृतीय उत्थान काल में हमें उपर्युक्त दो उपन्यासकारों के अतिरिक्त भगवती चरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्र कुमार, वृन्दावन लाल वर्मा, इलाचंद्र जोशी, चतुरसेन शास्त्रीबेचन शर्मा 'उग्र', विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' जैसे श्रेष्ठ और प्रतिभा सम्पन्न उपन्यासकार दिये।

श्री जैनेन्द्र कुमार प्रारम्भ से ही समस्या प्रधान उपन्यासों की रचना में प्रयत्नशील दिखलाई पड़ते हैं। ये जीवन में व्यावहारिक न होकर आदर्शवादी हैं। इन्होंने चरित्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। अपने सबसे पहले उपन्यास में इन्होंने भारतीय विधवा की समस्या उठाई है। यह उपन्यास 'परख' है। सुनीता, 'कल्याणी', 'त्यागपत्र', आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में सर्वत्र उलझन ही दिखलाई देती है। इनमें मनोवैज्ञानिकता और दार्शनिकता का मोह अत्यन्त अधिक है। यह मोह स्थान स्थान पर इनके उपन्यासों में दिखाई देता है।

हिन्दी उपन्यास विकास के इतिहास में भगवतीचरण वर्मा द्वारा लिखित उपन्यास 'चित्रलेखा' विशेष उल्लेखनीय है। शिल्प और कला दोनों दृष्टियों से यह उपन्यास श्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता का इसमें बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। भाषा सार्थक, भावप्रधान एवं सुगम है। चरित्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण इसे महान उपन्यास बना देता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इलाचन्द्र जोशी का भी नाम लिया जाता है। घृणा-मयी, 'संन्यासी' 'मुक्ति पथ' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

वृन्दावन लाल वर्मा हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक उपन्यासों के लिखनेवालों में प्रसिद्ध हैं। इनके उपन्यासों में गढ़कुण्डार, 'विराटा की पद्मिनी' 'मृगनयनी' आदि प्रसिद्ध हैं। पात्रों की अधिकता और अप्रासंगिक घटनाओं की योजना से इनके उपन्यास बोझिल हो जाते हैं, फिर भी उपन्यास साहित्य में एक नया अध्याय जोड़नेवाले उपन्यासकारों में इनका नाम प्रमुख है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' प्रेमचन्द जी की परम्परा को आगे बढ़ानेवालों में प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। इन्हें समाज के चित्रण में विशेष सफलता प्राप्त हुई है। विशेषतः पारिवारिक जीवन के चित्र खींचने में उनकी लेखनी बहुत अधिक मजी है। 'माँ, 'भिखारिणी' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।
इनके अतिरिक्त और भी हिंदी के अनेक उपन्यासकारों ने उपन्यास के विकास में इस युग में योग दिये। इनमें चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा 'उग्र' गोविन्दवल्लभ पंत आदि प्रसिद्ध हैं।

चतुर्थ उत्थान काल :—आधुनिक युग की सभी साहित्यिक विधाओं की एक प्रमुख प्रवृत्ति है—बौद्धिकता। पाश्चात्य मनोविज्ञान के आधार पर व्यक्तिगत असन्तोष एवं कुण्ठाओं का प्रकाशन आज के उपन्यास की पृष्ठभूमि है। कुछ उपन्यासकार समाज की विविध समस्याओं पर भी अपनी लेखनी चला रहे हैं।

ऐतिहासिकता तथा आंचलिकता भी उपन्यासों में यथास्थान व्यक्त हुई है। मार्क्सवाद तथा प्रगतिवाद पर आधारित उपन्यासों के लिए भी यह युग प्रमुख एवं प्रधान माना गया है।

इस युग में कहानीकारों की ही भाँति उपन्यासकारों के दो वर्ग हैं—एक प्राचीन एवं दूसरा नवीन। प्राचीन वर्ग में इलाचन्द्र जोशी, रांगेयराघव, उपेन्द्रनाथ अश्क, चतुर सेन शास्त्री, भगवतीचरण वर्मा, जनेन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। नवीन वर्ग में यशपाल, डा० देवराज, अमृतलाल नागर डा० धर्मवीर भारतीय, नागार्जुन, फणीश्वर रेणु, राजेन्द्र यादव, यज्ञदत्त, मोहन राकेश, अवधनारायण, कमलेश्वर, डा० शिवप्रसाद, छेदीलाल, शैलेश मटियानी आदि प्रमुख हैं।

पुराने उपन्यासकारों में इलाचन्द्र जोशी की रचनाएं प्रशंसनीय हैं। इनके उपन्यासों में नारी और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या है। इनका 'जिप्सी' नवीन युग की जागरूक चेतना का प्रतीक है। 'जहाज के पंछी' में आधुनिक रोगग्रस्त मध्य वर्ग की चेतना दिखलायी गयी है। इसमें कथानायक स्वयं ही अपनी कथा कहता है। इनके अन्य उपन्यासोंमें 'पर्दे की रानी' 'सुबह के भूले' आदि उपन्यास प्रमुख एवं प्रसिद्ध हैं।

श्री अज्ञेय ने अपने उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' में शेखर की आत्मकथा लिखी है। शेखर आरम्भ से ही विद्रोही है। इसमें

उपन्यास का विकास

प्रारम्भ : श्रीनिवास—परीक्षा गुरु

भारतेन्दुयुग—

ठाकुर जगमोहन सिंह—श्यामा स्वप्न
बालकृष्ण भट्ट—सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी।
किशोरी लाल—लवंगलता, स्वर्गीय कुसुम
राधाकृष्ण दास—निस्सहाय हिन्दू

द्वितीय उत्थान—

देवकीनन्दन खत्री—चन्द्रकान्ता, चन्द्रकांता सन्तति।
गहमरी—खूनी कौन? किले में खून
बाबू ब्रजनन्दन सहाय—धूर्त रसिकलाल, हिन्दू गृहस्थ।

तृतीय उत्थान—

प्रेमचन्द—गबन, गोदान, कर्मभूमि
प्रसाद—कंकाल, तितली
जैनेन्द्र—सुनीता, त्याग-पत्र
कौशिक—माँ, भिखारिणी
वृन्दावन लाल—मृगनयनी, विराट की पद्मिनी।

चतुर्थ उत्थान—

अज्ञेय—शेखर एक जीवनी
यशपाल—दिव्या, देश-द्रोही
हजारी प्रसाद—बाणभट्ट की आत्मकथा, चारु चन्द्रलेख।
फणीश्वर रेणु—मैला आंचल, परती परिकथा
धर्मवीर भारती—गुनाहों के देवता

साहित्य में 'बृहत कथा मंजरी', पंचतंत्र तथा हितोपदेश की कहानियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। हिन्दी साहित्य में भी प्रारम्भ से ही इस ढंग में कहानी का स्वरूप देखने को मिलता है। पृथ्वीराज रासो की भी अपनी एक कथा है और पद्मावत की भी अपनी एक विशिष्ट कथा है। कहानी का रूप यद्यपि प्रारम्भ से ही विद्यमान है, फिर भी आधुनिक कहानी की जो परिभाषा है उसके अनुकूल कहानियाँ आज की ही देन हैं। इस साहित्य के विकास-क्रम को भी हम भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग और वर्तमान युग में विभाजित कर सकते हैं।

भारतेन्दु युग में नाट्य साहित्य का जितना विकास हुआ उतना कथा साहित्य का नहीं। आज हम कथा साहित्य का जो अर्थ लगाते हैं वह अर्थ भारतेन्दु के युग की कहानियों में नहीं मिलता। इस युग के पूर्व इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' में कहानी का अत्यन्त सामान्य परिचय मिलता है। भारतेन्दु युग के प्रमुख साहित्यकार राजा शिवप्रसाद कृत 'राजा भोज का सपना' 'वीरसिंह वृत्तान्त' आदि कहानी के प्रारम्भिक रूप कहे जा सकते हैं। भारतेन्दु का 'स्वर्ग में विचार सभा' एक कथात्मक स्वरूप माना जाता है। इस युग की इन कहानियों में कोई भी पूर्णरूपेण कहानी की परिभाषा में नहीं आ सकती। कहानी के सम्बन्ध में यह नामोल्लेख युग कहा जा सकता है। इसमें केवल कहानियों के उल्लेख ही हुए।

द्विवेदी युग :—यह युग कहानी साहित्य का जनक है। इस युग से ही आधुनिक कहानियों का श्रीगणेश आ० रामचन्द्र शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा, डा० हजारी प्रसाद आदि इतिहासकारों ने माना है। इस युग की माधुरी, इन्दु, सुधा तथा सरस्वती आदि पत्रिकाओं से ही कहानी का प्रकाशन प्रारम्भ होता है।

आ० रामचन्द्र शुक्ल ने सरस्वती के प्रथम वर्ष (सं० १९२७) में छपी पं० किशोरी लाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी से कहानी-साहित्य का प्रारम्भ माना है। इनके अनुसार हिन्दी साहित्य की सर्वप्रिय और सर्वप्रथम मौलिक कहानी यही है। इसके उपरान्त इसी युग में हमारे श्रेष्ठ कहानीकारों का उदय हुआ, जिनकी कहानियों से कहानी साहित्य चमक उठा। इस युग के प्रसिद्ध कहानीकारों में हम पं० किशोरीलाल गोस्वामी, बंग महिला, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा आ० रामचन्द्र शुक्ल को मानते हैं। इनके अतिरिक्त बाद के श्रेष्ठ कहानीकार श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, प्रसाद, राधिकारमण प्रसाद सिंह, प्रेमचन्द तथा सुदर्शन भी इसी युग में आ जाते हैं।

आ० रामचन्द्र शुक्ल ने जिनकी ख्याति हिन्दी साहित्य में इतिहास, आलोचक एवं निबन्धकार के रूप में है 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक एक कहानी लिखी जो

साहित्य में 'बृहत कथा मंजरी', पचतंत्र तथा हितोपदेश की कहानियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। हिन्दी साहित्य में भी प्रारम्भ से ही इस ढंग में कहानी का स्वरूप देखने को मिलता है। पृथ्वीराज रासो की भी अपनी एक कथा है और पद्मावत की भी अपनी एक विशिष्ट कथा है। कहानी का रूप यद्यपि प्रारम्भ से ही विद्यमान है, फिर भी आधुनिक कहानी की जो परिभाषा है उसके अनुकूल कहानियाँ आज की ही देन हैं। इस साहित्य के विकास-क्रम को भी हम भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग और वर्तमान युग में विभाजित कर सकते हैं।

भारतेन्दु युग में नाट्य साहित्य का जितना विकास हुआ उतना कथा साहित्य का नहीं। आज हम कथा साहित्य का जो अर्थ लगाते हैं वह अर्थ भारतेन्दु के युग की कहानियों में नहीं मिलता। इस युग के पूर्व इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' में कहानी का अत्यन्त सामान्य परिचय मिलता है। भारतेन्दु युग के प्रमुख साहित्यकार राजा शिवप्रसाद कृत 'राजा भोज का सपना' 'वीरसिंह वृत्तान्त' आदि कहानी के प्रारम्भिक रूप कहे जा सकते हैं। भारतेन्दु का 'स्वर्ग में विचार सभा' एक कथात्मक स्वरूप माना जाता है। इस युग की इन कहानियों में कोई भी पूर्णरूपेण कहानी की परिभाषा में नहीं आ सकती। कहानी के सम्बन्ध में यह नामोल्लेख युग कहा जा सकता है। इसमें केवल कहानियों के उल्लेख ही हुए।

द्विवेदी युग :—यह युग कहानी साहित्य का जनक है। इस युग से ही आधुनिक कहानियों का श्रीगणेश आ० रामचन्द्र शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा, डा० हजारी प्रसाद आदि इतिहासकारों ने माना है। इस युग की माधुरी, इन्दु, सुधा तथा सरस्वती आदि पत्रिकाओं से ही कहानी का प्रकाशन प्रारम्भ होता है।

आ० रामचन्द्र शुक्ल ने सरस्वती के प्रथम वर्ष (स० १९२७) में छपी पं० किशोरी लाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी से कहानी-साहित्य का प्रारम्भ माना है। इनके अनुसार हिन्दी साहित्य की सर्वप्रिय और सर्वप्रथम मौलिक कहानी यही है। इसके उपरान्त इसी युग में हमारे श्रेष्ठ कहानीकारों का उदय हुआ, जिनकी कहानियों से कहानी साहित्य चमक उठा। इस युग के प्रसिद्ध कहानीकारों में हम पं० किशोरीलाल गोस्वामी, बंग महिला, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा आ० रामचन्द्र शुक्ल को मानते हैं। इनके अतिरिक्त बाद के श्रेष्ठ कहानीकार श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, प्रसाद, राधिकारमण प्रसाद सिंह, प्रेमचन्द तथा सुदर्शन भी इसी युग में आ जाते हैं।

आ० रामचन्द्र शुक्ल ने जिनकी ख्याति हिन्दी साहित्य में इतिहास, आलोचक एवं निबंधकार के रूप में है 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक एक कहानी लिखी जो

यथार्थता की दृष्टि से श्रेष्ठ कहानी मानी गई। बंग महिला की 'दुलाई वाली' भी एक प्रसिद्ध कहानी है।

सबसे महत्वपूर्ण और कहानी साहित्य में युगान्तर प्रस्तुत करने वाली कहानी श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' मानी जाती है। यह एक चरित्र प्रधान कहानी है। कला की दृष्टि से यह एक सफल कहानी है।

प्रसाद की 'ग्राम्या' प्रेमचन्द की 'रासलीला', कौशिक जी की 'रक्षा बंधन' तथा बाबू राधिकारमण सिंह की 'कानों में कंगना' आदि कहानियाँ भी इस युग की सफल कहानियाँ हैं।

प्रसाद युग या तृतीय उत्थान काल कहानी का विकास काल है। इस युग ने कहानी के भाग्य को चमका दिया। कहानी का भाल नवीन और अनेक शैलियों में लिखित कहानियों से ज्योतित हो गया। इस काल में कहानी कला के विभिन्न अंगों में कथा वस्तु, घटना, वातावरण, कथोपकथन आदि को प्रधानता देकर सुंदर रचनाएँ तो प्रस्तुत की गईं साथ ही कहानी लेखन में विभिन्न शैलियों के प्रयोग भी हुए। डायरी तथा पत्र शैलियों का भी आविर्भाव हुआ। हास्य-प्रधान कहानियों का प्रचार बढ़ा। इस प्रकार इस युग की कहानी का विषय और इसकी कला आदि सभी रूपों में विकास हुआ। छायावाद युग के प्रमुख कहानी-कार प्रेमचन्द, प्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, श्री बद्रीनाथ भट्ट सुदर्शन, पं० जैनेंद्रकुमार, वृन्दावन लाल वर्मा, रायकृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री आदि हैं।

प्रेमचन्द जी मूलत: आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परम्परा के सबसे प्रमुख कहानी-कार हैं। इनकी कहानियों में जनजीवन की कहानी मुखरित हुई है। समाज के पिछड़े वर्ग तथा निर्धन समाज की समस्याओं का चित्रण करते हुए इन्होंने अपनी कहानियों में जमींदारों की अनैतिकता तथा हृदयशून्यता का पर्दाफाश किया है। 'पूस की रात' 'रानी सारन्धा' 'आत्माराम' 'पंचपरमेश्वर 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि इनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। 'प्रेम पचीसी' 'प्रेम द्वादशी' 'प्रेम चतुर्थी' 'सप्तसुमन', 'मानसरोवर (८ भाग) आदि इनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं।

भावात्मक कहानीकारों में प्रसाद जी का नाम आदर पूर्वक लिया जाता है। इनकी कहानियों में प्रेम, करुणा, आनन्द एवं आदर्श की प्रमुखता है। इनकी कहानियाँ भारतीयता की परिचायिका हैं। 'छाया', 'इन्द्रजाल', 'आकाश दीप', 'आँधी', 'प्रतिध्वनि' आदि इनकी उच्चकोटि की कहानियाँ हैं। ये सभी कहानियाँ

जी ने अनेक उत्कृष्ट कोटि की कहानियाँ लिखी हैं जो अनेक संग्रहों में संग्रहीत हैं। 'चित्रशाला', 'मणिमाला', 'कल्लोल', 'पेरिस की नर्तकी' आदि इनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं।

जैनेंद्र जी आधुनिक युग के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक कहानीकारों में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपनी कहानियों में बाह्य और आन्तरिक जीवन के उभय पक्षों को पूरी मनोवैज्ञानिक सचाई के साथ उपस्थित करने की कोशिश की है और हिंदी कहानी को एक नई अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता एवं दार्शनिक गहराई प्रदान की है। फाँसी, वातायन, नीलमदेश की राजकन्या, नई कहानियाँ आदि उनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं।

इन कहानीकारों के अतिरिक्त सुदर्शन जी के सुदर्शन सुमन, सुप्रभात, गल्प-मंजरी आदि संग्रह, रायकृष्ण के अनाख्या, सुधांशु, वृन्दावन लाल वर्मा के 'शरणागत', 'कलाकार का दण्ड' आदि कहानी संग्रह इस युग के श्रेष्ठ संग्रह हैं। हास्य प्रधान कहानीकार जे० पी० श्रीवास्तव और बनारसी की कहानियाँ भी इस युग में प्रकाश में आईं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तृतीय उत्थान काल सामाजिक, राजनैतिक ऐतिहासिक, हास्यप्रधान सभी प्रकार की कहानियों के लिये विशिष्ट काल है। इस युग की कहानियों में कलागत विकास भी देखने को मिलता है।

वर्तमान युग की कहानियों में कथानक को कम महत्व दिया गया है। मानसिक अन्तर्द्वन्द अथवा अवचेतन का उद्घाटन ही प्रमुख हो गया है। चरित्र-प्रधान कहानियों के स्थान पर आज रेखाचित्र अधिक लिखे जा रहे हैं। फ्रायड के मनोवाद और मार्क्स के साम्यवाद से प्रभावित कहानीकार भी इस युग के कहानी-साहित्य की सीमा को विस्तृत कर रहे हैं। नित्य नये-नये विचारों तथा घटनाओं के योग से कहानी का सौन्दर्य बढ़ता ही जा रहा है। इस युग के कहानी साहित्य में इतनी विभिन्नता परिलक्षित होती है कि शिल्पविधान और कथावस्तु की दृष्टि से सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करना एक जटिल कार्य है, फिर भी आज के कथाकारों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(क) पुरानी पीढ़ी के कहानीकार

(ख) नवीन एवम् नवोनतम् पीढ़ी के कहानीकार

पुरानी पीढ़ी के कहानीकारों में जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, भगवती चरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, रांगेय राघव, यशपाल आदि हैं और नवीन पीढ़ी में

राजेन्द्र यादव, डा० धर्मवीर भारती, अमृतराय, राजेन्द्र यादव, मार्कंडे आदि हैं।

कहानी का विकास

भारतेन्दु युग—

शिवप्रसाद—राजा भोज का सपना, वीरसिंह वृत्तान्त

भारतेन्दु—स्वर्ग में विचार सभा

द्वितीय युग—

किशोरीलाल गोस्वामी—इन्दुमती

आ० शुक्ल—ग्यारह वर्ष का समय

बंगमहिला—दुलाई वाली

चन्द्रधर शर्मा—उसने कहा था

प्रसाद युग (तृतीय उत्थान)—

प्रेमचन्द—पूस की रात, सप्तसुमन, मानसरोवर

प्रसाद—इन्द्रजाल, आकाशदीप

कौशिक—चित्रशाला, मणिमाला

जैनेन्द्र—फाँसी, वातायन

सुदर्शन—सुदर्शन सुमन

रायकृष्ण दास—अनाख्या, सुधांशु

चतुर्थ उत्थान—

अज्ञेय—अमरवल्लरी, जयदोल

यशपाल—ज्ञानदान, फूलों का कुर्ता

राजेन्द्रयादव—एक पुरुष एक नारी, छोटे छोटे ताजमहल

डा० धर्मवीर—चाँद और टूटे हुए लोग

प्रभाकर माचवे—संगीत के सौंग, भोर से पहले।

वर्तमान युग की बौद्धिकता अपनी चरम सीमा में अज्ञेय के साहित्य में व्यक्त हुई है। इनकी कहानियों में प्रतीकात्मकता तथा यौन प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। 'अमर वल्लरी' 'जयदोल' शरणार्थी आदि कहानी संग्रह अज्ञेय जी की कहानी जगत् में श्रेष्ठता देने में समर्थ हैं। इनमें बौद्धिकता की अधिकता है। अतः सामान्य पाठक इनकी कहानियों से अनुरंजित और आनन्दित नहीं हो पाते।

यशपाल जी का स्थान वर्तमान युग के कहानीकारों में प्रमुख है। इनकी कहानियों में यथार्थ जीवन के चित्र सुन्दर चित्रित किये गये हैं। इन्होंने समाज की कुरीतियों पर तीखा प्रहार भी किया है। ऐतिहासिक सामाजिक, पौराणिक आदि सभी प्रकार की कहानियाँ यशपाल जी ने लिखी हैं। 'पिंजड़े की उड़ान', 'ज्ञान दान' 'फूलों का कुर्ता' आदि कहानी संग्रह उपर्युक्त तथ्य को व्यक्त करते हैं। इन संग्रहों की अधिकतर कहानियाँ अनेक भारतीय तथा योरोपीय भाषाओं में अनुवादित हो चुकी हैं।

नवीन पीढ़ी के कहानीकारों में राजेन्द्र यादव अत्यधिक लोकप्रिय हैं। इनकी कहानियों का संग्रह 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' 'छोटे-छोटे ताजमहल और अन्य कहानियाँ, एक पुरुष एक नारी' शीर्षक से प्रकाशित हैं। इनकी कहानियाँ शिल्प

और कला की दृष्टि से महान हैं। इनकी भाषा में अंग्रेजी के अधिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

डा० धर्मवीर भारती इस खेमे के प्रसिद्ध कहानीकार हैं। इनकी कहानियाँ कला और शिल्प की दृष्टि से पूर्णतः नवीन हैं। इनके कहानी संग्रहों में 'चाँद और टूटे हुए लोग' प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त कहानियों के अतिरिक्त प्रभाकर माचवे की कहानी 'सम्गोश के सींग' अमृत राय की 'भोर से पहले' 'तिरंगे कफन' तथा राहुल सांकृत्यायन कृत 'सतमी के बच्चे' विशिष्ट कहानियाँ हैं। इनके अतिरिक्त श्री कमलेश्वर, डा० शिवप्रसाद, श्री विमल आदि इस दिशा में कार्यरत हैं।

आज की कहानी की काया और इसका साम्राज्य इतना विस्तृत हो गया है कि इस युग की सभी कहानियों और इसके कहानीकारों का विवेचन एक निबंध-परिवेश म असम्भव है। आज की कहानी के लिये यह गौरव की बात है कि इस क्षेत्र में उषा प्रियम्वदा, रजनी पनीकर तथा मन्नू भण्डारी जैसी कहानी लेखिकाएँ भी आ गई हैं।

खड़ी बोली गद्य का विकास (सारांश)

खड़ी बोली गद्य के विकास को पाँच भागों में बाँट कर देखा जा सकता है—

(१) पूर्व भारतेन्दु युग (२) भारतेन्दु युग (३) हिन्दी साहित्य का परिष्कार-काल (द्विवेदी युग) (४) प्रसाद प्रेमचन्द युग (विकास काल), (५) यशपाल अज्ञेय युग (प्रगतिवाद प्रयोगवाद युग)।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की महती विशेषता है—गद्य का विकास। इसी से इस युग को गद्य काल भी कहते हैं। इस युग के पहले हिन्दी में केवल ब्रजभाषा गद्य ही प्राप्त था, खड़ी बोली गद्य का प्रचलन कम था। खड़ी बोली गद्य का सबसे पुराना रूप अकबर के दरबारी कवि गंग रचित 'चन्द छन्द बर्णन की महिमा' में मिलता है। अमीर खुसरो की पहेलियों और मुकरियों में भी हिन्दी गद्य का रूप विद्यमान है। रामप्रसाद निरंजनी द्वारा लिखित 'भाषा योगवासिष्ट' की भाषा काफी परिमार्जित है। इन्हें प्रथम प्रौढ़ गद्य लेखक माना जाता है। इसके पश्चात आधुनिक हिन्दी के प्रारम्भिक चार लेखकों के नाम श्रद्धा के साथ लिये जाते हैं। सदल मिश्र और लल्लू लाल एक तरफ और दूसरी तरफ सदासुखलाल और इंशाअल्ला खां खड़ी बोली गद्य लिखने में समर्थ माने जाते हैं। सदल मिश्र और लल्लूलाल जो फोर्टविलियम कालेज के कार्य-कर्त्ता थे। अन्तिम दोनों लेखक स्वतन्त्र रूप से हिन्दी साहित्य की सेवा करते थे। लल्लूलाल जी ने 'प्रेमसागर', सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान', सदासुख लाल ने

ने 'सुखसागर', तथा इन्शाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखकर गद्य का सृजन किया। इनके अतिरिक्त ईसाई धर्म प्रचारकों, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रद्धा राम फुल्लौरी, शिवप्रसाद सितारे हिन्द आदि साहित्य लेखकों द्वारा गद्य के विकास में सहयोग मिला।

भारतेन्दु युग हिन्दी-साहित्य का अभ्युत्थान युग है। भाषा, भाव, साहित्य-रूप इत्यादि प्रत्येक विषय में इन्होंने नवीन आदर्शों की स्थापना की। गद्य में नाटक, कथा साहित्य, जीवनी-साहित्य इत्यादि अनेक रूप विकसित हुए। इस युग के प्रमुख गद्यकार हैं—बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीनिवास दास, राधाकृष्ण दास, किशोरी लाल आदि। इस युग के प्रमुख उपन्यास हैं—'सौ अजान एक सुजान', नूतन ब्रह्मचारी (बालकृष्ण भट्ट) त्रिवेणी, स्वर्णलता (किशोरी लाल), निस्सहाय हिन्दू (राधाकृष्ण दास)। नाटकों में नहुष (गिरिधर दास), 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी' (भारतेन्दु, संयोगिता स्वयंवर, दुखिनी बाला (श्रीनिवास दास) प्रसिद्ध हैं। आनन्द कादम्बिनी, 'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से आलोचना और पत्रकारिता पनपने लगी।

द्विवेदी युग मूलत: गद्य का युग रहा है। 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से द्विवेदी जी ने हिन्दी का परिष्कार किया। इस युग के प्रमुख लेखकों में बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, सरदार पूर्णसिंह आदि हैं। इस युग में कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आदि में प्रगति हुई। कहानी में इन्दुमती (किशोरी लाल), उसने कहा था, (गुलेरी जी) रक्षा बन्धन (कौशिक जी) प्रसिद्ध हैं। उपन्यासों में चन्द्रकान्ता तथा चन्द्रकान्ता सन्तति (देवकीनन्दन खत्री), लखनऊ की कब्र, रजिया बेगम (किशोरी लाल गोस्वामी) आदि प्रसिद्ध हैं। निबन्ध के क्षेत्र में साहित्यसीकर (द्विवेदी जी), देशोद्धार (श्री कामता प्रसाद), शिवशम्भु का चिट्ठा (बालमुकुन्द गुप्त) के नाम लिये जा सकते हैं। आलोचना में द्विवेदी जी (आलोचनाञ्जलि), श्यामसुन्दर दास (आलोचनाञ्जलि, मिश्र बन्धुओं के (देवबिहारी) भगवान दीन (बिहारी देव) आदि साहित्यकारों से सहायता मिली। इसी प्रकार अन्य गद्य रूपों का भी विकास हुआ।

तृतीय उत्थान काल में प्रसाद, प्रेमचंद, आ० शुक्ल, जैनेन्द्र, रामकुमार वर्मा, आदि प्रसिद्ध कलाकार हैं। यह युग गद्य और पद्य दोनों के लिये यौवन युग है। प्रसाद के नाटक, उपन्यास तथा कहानी-संग्रह विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द जी तो उपन्यास सम्राट ही हैं।

वर्तमान युग में गद्य सब दृष्टियों से पूर्ण विकसित हो चुका है। इस युग में उपन्यास, कहानी और आलोचना का काफी विकास हुआ है। कथा साहित्य में यशपाल, अज्ञेय, फणीश्वर रेणु, जी० पी० श्रीवास्तव, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर

भारती विशेष प्रसिद्ध हैं। निबंध एवं आलोचना में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, डा० जगदीश गुप्त, आ० नंददुलारे बाजपेयी की रचनाओं में गद्य साहित्य का पूर्ण विकास देखा जाता है।

आज की रचनाओं में सूरज का सातवाँ घोड़ा, चारुचन्द्रलेख, वैशाली की नगरवधू मेरी असफलताएँ', प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', उल्लेखनीय हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि हिंदी गद्य आज बहुत आगे बढ़ चुका है। पाश्चात्य शैली के आधार पर आज के कुछ नये गद्यकार तरह तरह के नये प्रयोग भी कर रहे हैं। कोई पूर्णविराम की जगह बिंदु दे रहा है तो कोई क्रिया शब्दों को छोड़कर अपूर्ण सांकेतिक वाक्य ही लिख रहा है।

हिन्दी पद्य का विकास

हिंदी पद्य प्राचीन युग से ही प्रगति करता आ रहा है। वीर गाथा काल और भक्ति काल में लिखित काव्य को अमहत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। काव्यत्व की दृष्टि से रीतिकालीन काव्य की महत्ता भी कम नहीं है। इतना होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रगति की सीमा रीतिकाल में ही पूर्ण हो गयी।

आधुनिक काल में आकर देश की विभिन्न परिस्थितियाँ बदल जाती हैं और इन बदली हुई परिस्थितियों में केवल गद्य ही नहीं पद्य साहित्य भी परिवर्तित हो गया। इसी परिवर्तित काव्य को आधुनिक काव्य कहा जाता है। यह काव्य-धारा प्राचीन काव्य शृंखला से आबद्ध एवं नवीन विचारधारा है। इस विचार-धारा की भी अनेक उपधाराएँ हो जाती हैं। इन उपधाराओं को निम्नलिखित नामों से अभिहित किया जाता है —

(१) भारतेंदु युगीन काव्य (२) द्विवेदी युगीन काव्य (३) छायावादी एवम् रहस्यवादी काव्य (४) प्रगतिवादी या प्रयोगवादी काव्य। इन धाराओं के संक्षिप्त वर्णन से इनकी विशेषता तथा इनके कवियों का परिचय प्राप्त हो सकता है।

(१) भारतेंदु युग :- इस युग के प्रमुख व्यक्तित्व भारतेंदु हरिश्चन्द्र हैं। यह काल इस व्यक्तित्व के नाम पर ही प्रचलित हुआ। इस युग की कविता में नवीन विषयों का समावेश हुआ। रीतिकाल में कविता का सम्बन्ध केवल आश्रयदाताओं से था अब कविता का सम्बन्ध जीवन से जुड़ गया। इसमें जीवन की यथार्थ परिस्थितियों का चित्रण हुआ। इस युग के कवि समाज-सुधारक, प्रचारक और पत्रकार के रूप में प्रसिद्ध हैं।

इस युग की कविता में हिंदू समाज में प्रचलित कुरीतियों धार्मिक मिथ्याचार छल कपट अमीरों की स्वार्थपरता, पाश्चात्य सभ्यता की आलोचना, अदालतों की अनीति, अंग्रेजों का शोषण, देश की दुर्व्यवस्था, आदि नवीन विषयों का

समावेश हुआ। इस युग में एक तरफ जहाँ ऐसे नवीन विषयों पर कविता हुई, वहीं दूसरी तरफ पुरानी परम्परा के अनुसार नैतिक और धार्मिक कविता की धारा का भी विकास हुआ। राधा और कृष्ण भक्ति के प्रेम से पूर्ण हृदय-हारी पदों के साथ साथ उपदेशात्मक काव्य का भी निर्माण हुआ। इस प्रकार भारतेन्दु युग के साहित्य में प्राचीन और नवीन दोनों युगों का सामञ्जस्य दिखलाई देता है। एक तरफ इस युग के कवियों ने भारत की दयनीय सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दशा पर करुण क्रन्दन किया है तो दूसरी तरफ प्राचीन गौरव, संस्कृति और महत्ता का भी वर्णन किया है।

भारतेन्दु युग विशेषताएँ

१—नवीन विषयों का वर्णन
२—जीवन से सम्बन्धित कविता
३—समाज सुधार
४—देश की दुर्दशा का वर्णन
५—नैतिक और धार्मिक कविता
६—प्राचीन गौरव का चित्रण
७—ब्रजभाषा का प्रयोग
८—कवित्त, सवैया, दोहा आदि छन्द

भारतेन्दुकालीन कविता की भाषा ब्रजभाषा है। भारतेन्दु और उस काल में कुछ कवियों ने खड़ी बोली में कविता करने की इच्छा प्रकट की किन्तु इस कार्य में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। इनकी कविताएँ जो ब्रजभाषा में लिखी गई' वे सचमुच मार्मिक हैं। तत्कालीन विषयों पर इस युग में जो कविताएँ की गई' उन्हें कविता की कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उनमें देश की परिस्थितियों को ज्यों का त्यों छन्दबद्ध कर दिया गया है, इनमें केवल तुकबंदी है।

इस युग में भाव, भाषा और छन्द सभी में प्राचीनता और नवीनता का समावेश हुआ। छन्दों में कवित्त, सवैया, दोहा और छप्पय की प्रमुखता थी। इनके अतिरिक्त लावनी, कजली आदि का भी प्रयोग हुआ।

इस युग के कवियों का तथा उनकी कविताओं का हिन्दी जगत् में बहुत बड़ा महत्व है। इन कवियों में भारतेन्दु का स्थान महत्वपूर्ण है।

भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देश भक्ति का था। नीलदेवी, भारत-दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं में देश दशा की जो मार्मिक व्यंजना है वह तो है ही, बहुत सी स्वतंत्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं जिनमें कहीं देश को अतीत गौरव गाथा का गर्व, कहीं वर्तमान परिस्थिति पर क्षोभ, आदि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है। देश भक्ति और राष्ट्रभक्ति का सबसे पहले इन्होंने ही संदेश दिया। नीचे की पंक्तियों में विदेशी शासन के प्रति रोष और क्षोभ दोनों है :—

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी ॥

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु युग की कविता देश-भक्ति, प्राचीनता एवम् नवीनता का समन्वय, जन-जीवन का चित्रण, सुधारवादी सुधारात्मक प्रवृत्ति, प्राचीन छन्दों के अतिरिक्त लावनी, कजली आदि छन्दों का प्रयोग यथार्थ जीवन से सम्बन्ध आदि विशेषताओं को धारण करती है।

ये सभी विशेषताएँ भारतेन्दु के सहयोगियों में भी पाई जाती हैं। प्रताप-नारायण मिश्र ने देश-सेवा पर आँसू बहाने के अतिरिक्त 'बुढ़ापा', 'गोरक्षा' 'हरगंगा' हिन्दू हिन्दुस्तान' आदि विषयों पर कविता लिखी। प्रेमघन जी ने भी देशभक्ति पर रचनाओं के अतिरिक्त विशेष विशेष अवसरों पर भी कविताएँ कीं। 'हार्दिक हर्षादर्श' में देश की दशा का चित्रण हुआ है। 'भारत सौभाग्य' नाटक की कवितायें भी सरस हैं। ठाकुर जगमोहन सिंह तथा अम्बिका दत्त व्यास ने भी कवितायें कीं। ठाकुर साहब की कविता में प्राचीन परम्परा की भाँति प्रेमचर्चा की मधुर स्मृति तथा विन्ध्य के रमणीय स्थलों को चित्रित किया गया है। व्यास जी ने नये विषयों पर कुछ फुटकर कवितायें कीं।

द्विवेदी युग की कविता

इस युग के महान् युग-प्रवर्तक आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी थे। इस युग के प्रवर्तक आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी थे। इन्होंने कविता की भाषा को शुद्ध और परिष्कृत किया। भारतेन्दु युग में काव्य की भाषा ब्रज थी किन्तु द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को काव्य का माध्यम बनाया। इनके युग तक कवि कविता में ब्रजभाषा और अवधी के शब्दों तथा व्याकरण के नियमों का पालन कर देते थे। आचार्य जी ने इसे अनुचित समझा और खड़ी बोली के प्रयोग का व्यापक समर्थन और प्रचार किया। द्विवेदी जी ने स्वयम् खड़ी बोली में कविता की और अन्य भी साहित्यकारों को खड़ी बोली में पद्य की रचना का आग्रह किया। इनकी विद्वता से प्रभावित होकर कई कवि हिन्दी जगत् में उदित हुए।

भारतेन्दु युग में राष्ट्रीयता का उद्बोधन हुआ। द्विवेदी युग ने इस राष्ट्रीयता के स्वर को और बुलन्द किया। भारतीय संस्कृति और भारतीयता के प्रति लोगों में भी और काव्य में भी रुचि बढ़ गयी। भारत के मध्यवर्ग और निम्नवर्ग, किसान, पीड़ित एवं दलित का चित्रण काव्य में भी होने लगा। राष्ट्रीयता का पुनर्जागरण हुआ।

स्वच्छन्द भावना का विकास भी द्विवेदी युग की अपनी देन है। इस युग में प्राचीन रूढ़ियों और निरर्थक परम्पराओं का विरोध किया गया। भारतेन्दु

युग और रीतियुग की शृंगारिकता का लोप हो गया। नैतिकता का साम्राज्य स्थापित होने लगा। जीवन के नवीन मूल्यों और आदर्शों की ओर कवि की दृष्टि गई। उपेक्षित नारियों को कवियों ने सम्मानित किया, पाश्चात्य सभ्यता का विरोध किया और खड़ी बोली हिन्दी को शक्तिशाली बनाया।

द्विवेदी युग की प्रवृत्तियाँ :—द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों में एक नये आदर्श की प्रतिष्ठा की। पच्चीस वर्षों के इस छोटे से काल में आश्चर्यजनक साहित्यिक विकास हुआ। इस युग की प्रवृत्तियाँ को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

(१) राष्ट्रीयता का उद्घोष—राष्ट्रीयता द्विवेदी युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। इस युग के प्रत्येक कवि ने देशभक्ति के भाव व्यक्त किये हैं। देश के अतीत गौरव का गानकर कवियों ने अपनी देशभक्ति का परिचय दिया। गुप्तजी के साकेत' तथा उपाध्याय जी के प्रियप्रवास' में देशभक्ति और अतीत की विभूतियों के ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। वर्तमान की दयनीय दशा पर करुणा प्रकट कर उसे भारतीय आदर्श पर अवलम्बित रखकर उन्नत करने की चेष्टा द्विवेदी युग में हुई है।

(२) मानवता में ईश्वर का आरोप—इस युग के कवि का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति मानव-प्रेम से सम्भव है। उसे दुखियों के आँसू और करुण-विलाप में ईश्वर प्राप्ति सम्भव प्रतीत हुई। यहाँ आकर मानव प्रेम ईश्वर-प्रेम में बदल जाता है। यहाँ कवियों को मानव-प्रेम के बन्धन में मुक्ति का द्वार दिखलाई देने लगा। राम और कृष्ण आदर्श मानव के रूप में चित्रित हुए। प्रकृति में भी ईश्वर की छाया दिखलाई देने लगी।

द्विवेदी युग की विशेषतायें

(१) राष्ट्रीयता का प्रचार
(२) मानव को ईश्वर के रूप में स्वीकार करना।
(३) समाज से सम्बन्धित कविता
(४) यथार्थ चित्रण
(५) प्रकृति का सत्य चित्रण
(६) नारी उत्थान
(७) खड़ी बोली का परिष्कार

(३) सामाजिक कविता—द्विवेदी युग के कवियों की दृष्टि समाज के सभी अंगों पर गई। श्रीधर पाठक ने विधवाओं की दीन दशा के करुण चित्र अंकित किया तो हरिऔध जी ने अछूतोद्धार तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्यात्मक कविताएँ लिखीं। मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शंकरशर्मा तथा ठाकुर गोपालशरण सिंह की कविताओं में भी सामाजिक उन्नति के उपाय बताये गये हैं।

(४) इतिवृत्तात्मकता :–द्विवेदीजी ने आदर्शवादिता, संयम आदि के प्रभाव से शृङ्गारिकता का विरोध किया। कविता में इतिवृत्तात्मकता के प्रति रुचि बढ़ गई। तथ्य को ज्यों का त्यों रखा जाने लगा। इस शैली से आकर्षण का अभाव आया। नैतिकता, प्रचार और आदर्श की प्रतिष्ठा के लिये इतिवृत्तात्मक शैली उपयुक्त भी थी। इस शैली में कविता भी नीरस हो गई।

(५) प्रकृति का सत्य चित्रण :—द्विवेदी युग में प्रकृति का सत्य चित्र अंकित हुआ। प्रकृति चित्रण में श्रीधर पाठक, हरिऔध, गुप्तजी और रामनरेश त्रिपाठी को अधिक सफलता मिली। श्रीधर पाठक ने काश्मीर और देहरादून की सुषमा का रमणीय वर्णन किया है। रामनरेश जी की कविता में नदी, वन, पर्वत, समुद्र आदि के सुन्दर चित्र अङ्कित हुए हैं।

(६) नारी उत्थान :—रवीन्द्रनाथ के निबन्ध "काव्येर उपेक्षिता" तथा महावीर प्रसाद के निबन्ध "कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" की प्रेरणा के कारण नारी जीवन के उत्थान पर इस युग में अनेक कविताएँ लिखी गईं। 'यशोधरा' और 'साकेत' जैसे महाकाव्यों की रचना नारी को समाज में महत्त्व देने के उद्देश्य से लिखी गई।

(७) खड़ी बोली का परिष्कार :—इस युग में भाषा सर्वत्र खड़ी बोली रही है। गद्य और पद्य दोनों रूपों में इसने अपनी विशेषता प्रकट की। द्विवेदी जी के हाथों इसका परिष्कार भी हुआ। खड़ी बोली की रचना के लिये नवीन छन्दों का चुनाव किया गया पर भाषा-परिष्कार की ओर जितनी दृष्टि कवियों की रही उतनी छन्दों की ओर नहीं। छन्द परिष्कार-कार्य बाद के युग में हुआ।

इस युग की अन्य प्रवृत्तियों में अनुवाद के प्रति रुचि, ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में कविता, नवीन तथा साधारण विषयों का चुनाव, संस्कृत के छन्दों तथा ब्रजभाषा के छन्दों का प्रयोग, तथा भाषा-संस्कार की गणना की जा सकती है।

इस युग के प्रमुख कवियों में श्रीधर पाठक, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर, गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही', सत्यनारायण कविरत्न, लोचनप्रसाद पांडे, भगवान दीन आदि प्रमुख हैं।

द्विवेदी युग के कवि—

अयोध्या सिंह उपाध्याय—(सन् १८६५-१९४१) ये द्विवेदी युग के लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं। द्विवेदी के प्रभाव से इन्होंने खड़ी बोली में संस्कृत के छन्दों और समस्त पदावली का सहारा लिया। संस्कृत के छन्दों में इन्होंने 'प्रियप्रवास' लिखा। इसके पश्चात् इन्होंने मुहावरामयी बोल चाल की भाषा में 'चोखे चौपदे' और 'पद्य-प्रसून' लिखे।

युग और रीतियुग की शृंगारिकता का लोप हो गया। नैतिकता का साम्राज्य स्थापित होने लगा। जीवन के नवीन मूल्यों और आदर्शों की ओर कवि की दृष्टि गई। उन्होंने नारियों को कवियों ने सम्मानित किया, पाश्चात्य सभ्यता का विरोध किया और खड़ी बोली हिन्दी को शक्तिशाली बनाया।

द्विवेदी युग की प्रवृत्तियाँ :—द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के भाषागत एवं भावगत दोनों में एक नये आदर्श की प्रतिष्ठा की। पच्चीस वर्षों के इस छोटे से काल में आश्चर्यजनक साहित्यिक विकास हुआ। इस युग की प्रवृत्तियों को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

(१) राष्ट्रीयता का उद्घोष—राष्ट्रीयता द्विवेदी युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। इस युग के प्रत्येक कवि ने देशभक्ति के भाव व्यक्त किये हैं। देश के अतीत गौरव का गानकर कवियों ने अपनी देशभक्ति का परिचय दिया। गुप्तजी के 'साकेत' तथा उपाध्याय जी के 'प्रियप्रवास' में देशभक्ति और अतीत की विभूतियों के ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। वर्तमान की दयनीय दशा पर करुणा प्रकट कर उसे भारतीय आदर्श पर अवलम्बित रखकर उन्नत करने की चेष्टा द्विवेदी युग में हुई है।

(२) मानवता में ईश्वर का आरोप—इस युग के कवि का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति मानव-प्रेम से सम्भव है। उसे दुखियों के आँसू और करुण विलाप में ईश्वर प्राप्ति सम्भव प्रतीत हुई। यहाँ आकर मानव प्रेम ईश्वर-प्रेम में बदल जाता है। यहाँ कवियों को मानव-प्रेम के बन्धन में मुक्ति का द्वार दिखलाई देने लगा। राम और कृष्ण आदर्श मानव के रूप में चित्रित हुए। प्रकृति में भी ईश्वर की छाया दिखलाई देने लगी।

(३) सामाजिक कविता—द्विवेदी युग के कवियों की दृष्टि समाज के सभी अंगों पर गई। श्रीधर पाठक ने विधवाओं की दीन दशा के करुण चित्र अंकित किया तो हरिऔध जी ने अछूतोद्धार तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्यात्मक कविताएँ लिखीं। मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शंकर शर्मा तथा ठाकुर गोपालशरण सिंह की कविताओं में भी सामाजिक उन्नति के उपाय बतलाये गये हैं।

द्विवेदी युग की विशेषतायें

(१) राष्ट्रीयता का प्रचार
(२) मानव को ईश्वर के रूप में स्वीकार करना।
(३) समाज से सम्बन्धित कविता
(४) यथार्थ चित्रण
(५) प्रकृति का सत्य चित्रण
(६) नारी उत्थान
(७) खड़ी बोली का परिष्कार

(४) इतिवृत्तात्मकता :-द्विवेदीजी ने आदर्शवादिता, संयम आदि के प्रभाव से श्रृङ्गारिकता का विरोध किया। कविता में इतिवृत्तात्मकता के प्रति रुचि बढ़ गई। तथ्य को ज्यों का त्यों रखा जाने लगा। इस बोली से आकर्षण का अभाव आया। नैतिकता, प्रचार और आदर्श की प्रतिष्ठा के लिये इतिवृत्तात्मक शैली उपयुक्त भी थी। इस शैली में कविता भी नीरस हो गई।

(५) प्रकृति का सत्य चित्रण :—द्विवेदी युग में प्रकृति का सत्य चित्र अंकित हुआ। प्रकृति चित्रण में श्रीधर पाठक, हरिऔध, गुप्तजी और रामनरेश त्रिपाठी को अधिक सफलता मिली। श्रीधर पाठक ने काश्मीर और देहरादून की सुषमा का रमणीय वर्णन किया है। रामनरेश जी की कविता में नदी, वन, पर्वत, समुद्र आदि के सुन्दर चित्र अङ्कित हुए हैं।

(६) नारी उत्थान :—रवीन्द्रनाथ के निबन्ध "काव्येर उपेक्षिता" तथा महावीर प्रसाद के निबन्ध "कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" की प्रेरणा के कारण नारी जीवन के उत्थान पर इस युग में अनेक कविताएँ लिखी गईं। 'यशोधरा' और साकेत' जैसे महाकाव्यों की रचना नारी को समाज में महत्त्व देने के उद्देश्य से लिखी गई।

(७) खड़ी बोली का परिष्कार :—इस युग में भाषा सर्वत्र खड़ी बोली रही है। गद्य और पद्य दोनों रूपों में इसने अपनी विशेषता प्रकट की। द्विवेदी जी के हाथों इसका परिष्कार भी हुआ। खड़ी बोली की रचना के लिये नवीन छन्दों का चुनाव किया गया पर भाषा-परिष्कार की ओर जितनी दृष्टि कवियों की रही उतनी छन्दों की ओर नहीं। छन्द परिष्कार-कार्य बाद के युग में हुआ।

इस युग की अन्य प्रवृत्तियों में अनुवाद के प्रति रुचि, ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में कविता, नवीन तथा साधारण विषयों का चुनाव, संस्कृत के छन्दों तथा ब्रजभाषा के छन्दों का प्रयोग, तथा भाषा-संस्कार की गणना की जा सकती है।

इस युग के प्रमुख कवियों में श्रीधर पाठक, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, जगन्नाथ दास रत्नाकर, गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही', सत्य-नारायण कविरत्न, लोचनप्रसाद पांडे, भगवान दीन आदि प्रमुख हैं।

द्विवेदी युग के कवि—

अयोध्या सिंह उपाध्याय—(सन् १८६५-१९४१) ये द्विवेदी युग के लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं। द्विवेदी के प्रभाव से इन्होंने खड़ी बोली में संस्कृत के छन्दों और समस्त पदावली का सहारा लिया। संस्कृत के छन्दों में इन्होंने 'प्रिय-प्रवास' लिखा। इसके पश्चात् इन्होंने मुहावरामयी बोल चाल की भाषा में 'चोखे चौपदे' और 'पद्य-प्रसून' लिखे।

'प्रियप्रवास' उपाध्याय जी की कीर्ति-शिला है। इस छोटे से महाकाव्य में इन्होंने कृष्ण-जीवन की प्रमुख झाँकी प्रस्तुत की है। इनके कृष्ण विश्वमङ्गलकारी नेता हैं और राधा आधुनिक युग की एक प्रबुद्ध नारी। राधा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को छोड़कर राष्ट्र के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार हैं। ये मानवता के हित के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती हैं। उपाध्याय जी ने 'वैदेही-वनवास' में लोक संग्रह की भावना जगाई है।

उपाध्याय जी की भाषा पहले की रचनाओं में ब्रज रही किन्तु बाद की रचनाओं में सरल खड़ी बोली। इनकी शैली भी वर्णनात्मक और सुगम है।

मैथिलीशरण गुप्त :—(सन् १८८६—सन् १९६४) आधुनिक हिन्दी के राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त का नाम राष्ट्रउद्धारकों एवम् समाजउन्नायकों में सम्माननीय है। इन पर द्विवेदी जी का स्पष्ट प्रभाव पड़ा। द्विवेदी जी से प्रसाद को उन्होंने ग्रहण किया। इनकी प्रारम्भिक कविताएँ 'सरस्वती' पत्रिका में निकलती थीं। प्रबन्ध-काव्यों में इनकी प्रवृत्ति बहुत रमी। इनका 'रङ्ग में भङ्ग' प्रबन्ध काव्य राष्ट्रीय भावों को जाग्रत करने में पूर्ण समर्थ हुआ। इनकी ख्याति की धूम मचा देने वाली रचना 'भारत-भारती' है। 'भारत भारती' का स्वर सचमुच पूरे भारतवर्ष में गूँज उठा।

इनके प्रबन्ध काव्यों में 'रंग में रङ्ग,' 'जयद्रथ वध,' विकट भट, पलासी का युद्ध,' 'पंचवटी,' 'सिद्धराज,' 'साकेत,' 'यशोधरा' आदि प्रसिद्ध हैं। 'साकेत' और 'यशोधरा' में नारियों के प्रति श्रद्धा के भाव व्यक्त किये गये हैं।

गुप्त जी की भाषा चलती-फिरती एवम् सुगम है। सरल खड़ी बोली हिन्दी में समाज के बिखरे चित्रों को अंकित कर देना गुप्त जी की विशेषता है। इन्होंने छायावादी और रहस्यवादी शैलियों के प्रति भी रुचि दिखलाई। ये शैलियां अपने प्रारम्भिक रूप में ही इनके काव्य में प्रयुक्त हुईं। वर्णनात्मक और छायावादी दोनों शैलियों को अपनाकर इन्होंने राष्ट्रप्रेम, देश प्रेम तथा संस्कृति-प्रेम को व्यक्त किया। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव तथा नवीन के प्रति उत्साह इन्हें साहित्य में महत्व देते हैं।

इस युग में जगन्नाथ दास रत्नाकर ने ब्रजभाषा में कुछ उत्कृष्ट रचनाएँ कीं। ब्रजभाषा काव्य को इन्होंने आगे बढ़ाया। 'गंगावतरण' और ''उद्धवशतक' इनके प्रमुख काव्यग्रन्थ हैं। रामनरेश त्रिपाठी ने खड़ी बोली हिन्दी में कविता की। 'मिलन पथिक' और 'स्वप्न' इनके खण्ड काव्य है। राष्ट्रीयता और प्रकृति-प्रेम इनकी प्रमुखता के द्योतक हैं।

काव्य में छायावाद :

हिन्दी साहित्य में प्रारम्भ से लेकर आजतक कितनी ही धाराएँ प्रचलित हो चुकी हैं। हिन्दी के ही नहीं वरन् विश्व के सम्पूर्ण साहित्य में यह प्रकृति काम करती है। किसी काल विशेष में कोई एक धारा प्रमुखता ग्रहण करती है तो दूसरी गौण स्थान प्राप्त करती है। हिन्दी साहित्य में 'छायावाद' भी एक साहित्यिक धारा के रूप में ही प्रारम्भ हुआ और आधुनिक युग के १६१८-३६ ई० तक के युग की यह प्रधान धारा रही। यह काव्यधारा उच्छ्वास से 'युगान्त' तक प्रधान युगवाणी रही।

छायावाद का प्रारम्भ यद्यपि कि हिन्दी साहित्य में सन् १६१८ से हुआ, फिर भी इसके प्रवर्त्तक प्रसादजी माने जाते हैं क्योंकि उन्होंने १६०९ से ऐसी कविता प्रारभ की किन्तु इसके पूर्व भी छायावाद का एक अंग रहस्यवाद उपनिषदों में भी विद्यमान था। रहस्यवादी भावनाएँ छायावाद के अन्तर्गत ही आती हैं और आयी हैं। यदि रहस्यवाद हिन्दी साहित्य में कबीर तथा मीरा की रचनाओं में पहले ही से विद्यमान था तो छायावाद को हम कोई नयी धारा जो विदेशियों से ग्रहण की गई हो, नहीं मान सकते। कुछ विद्वानों का मत है, (जिसमें आचार्य रामचन्द्रशुक्ल का प्रमुख स्थान है,) कि छायावाद हिन्दी में बंगला के अनुकरण से आया। बंगला में भी अंग्रजी में प्रचलित प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रचनाएँ रची गईं, इसलिए इन कविताओं को 'छायावादी' काव्य कहा जाने लगा। बंगला में 'छायावाद' नाम प्रथम प्रचलित हुआ, इसे हम भी मानते हैं। छायावाद का प्रारम्भ कब हुआ इसे छोड़कर हमें यह देखना चाहिए कि छायावाद क्या है ?

छायावाद की परिभाषा विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न रूपों में दी गई है :—

"छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्‌गीथ है।"—महादेवी

डा० नगेन्द्र ने छायावाद की परिभाषा इस प्रकार दी है—'छायावाद स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह है। इन्होंने छायावाद को जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण भी माना है। डा० देवराज का कहना है कि 'छायावाद गीति काव्य है, प्रकृति काव्य है, प्रेम काव्य है।' डा० रामकुमार वर्मा ने इसे रहस्यवाद से अभिन्न माना है। इनके शब्दों में 'परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है।'

इन परिभाषाओं के अतिरिक्त काव्य आलोचकों ने भी छायावाद की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। प्रसाद, पन्त, महादेवी वर्मा ने भी इसकी परिभाषा का स्पष्टीकरण किया है। पन्त ने इसे 'अविदित भावाकुल भाषा ही कहा है, जो

महादेवी 'स्वच्छन्द छन्दों में चित्रित मानवों की अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन'। इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने भी अपनी-अपनी परिभाषाएँ दी हैं। इनका सारांश यह है कि—प्रकृति में चेतना का आरोप छायावाद है। 'मानवीकरण छायावाद है।' जो नहीं समझ में आवे वह छायावाद है। 'छायावाद एक पद्धति विशेष का नाम है।'

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद को दो अर्थों का द्योतक बताया। उन्होंने लिखा है कि छायावाद का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए—एक रहस्यवाद के अर्थ में……और दूसरा काव्य शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवाद और छायावाद में जो सूक्ष्म अन्तर है उसकी तरफ बड़े बड़े विद्वानों तथा आलोचकों का भी ध्यान नहीं गया।

छायावाद की सर्वमान्य परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है— छायावाद हिन्दी साहित्य की वह विशिष्ट काव्यधारा है जिसमें भावपक्ष और कलापक्ष दोनों पर समान रूप से विचार किया गया। दूसरे शब्दों में 'छायावाद एक आधुनिक काव्य-प्रवृत्ति है।'

आज का छायावाद वह भाव धारा है जिसके अन्तर्गत, स्वच्छन्दतावाद, रहस्यवाद के अतिरिक्त और कई बातें आती हैं।

छायावादी कवि तथा कविता पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार कबीर, मीरा, मुकुटधर पाण्डे, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा आदि छायावादी कवि हैं, पर यह विचार ठीक नहीं है। छायावादी कवि वे ही कहला सकते हैं जिनमें छायावादी प्रवृत्तियाँ अधिक से अधिक मात्रा में आ सकी हैं। किसी कवि में छायावाद की विशेषता हो आ गई है तो उसे छायावादी कवि नहीं कहा जा सकता। छायावाद की विशेषताओं तथा उनके प्रयोग पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि छायावाद के प्रमुख चार कवि ही हैं :—सुमित्रा नन्दन पन्त, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा और निराला।

विशेषताएँ

छायावाद की विशेषताओं पर ही छायावाद का मूल्य निर्धारित किया जा सकता है, अतः इसकी विशेषताओं का भी अवलोकन कर लेना चाहिए।

छायावाद एक काव्यधारा है अतः अन्य काव्य-धाराओं की विशेषताएँ तथा काव्य कहलाने वाली मूलभूत बातें तो इसमें हैं ही, इसके अतिरिक्त इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं :—

(१) वैयक्तिक अभिव्यक्ति :— छायावादी कवियों ने अपनी भावनाओं को साहसपूर्वक व्यक्त किया। उनकी भावनाएँ खुलकर उनकी रचनाओं में आई हैं। प्रसाद जी का 'आँसू' काव्य इसका उदाहरण है। आँसू व्यक्ति प्रधान प्रेम-काव्य है जिसमें प्रेम की अप्राप्ति पर आँसू बहाया गया है। इस प्रकार व्यक्ति की दुर्बलताओं तक का भी इस प्रकार के काव्य में वर्णन हुआ है।

पन्त जी ने उच्छ्वास, ग्रन्थि और आँसू में आत्मानुभूति ही व्यक्त की है। इसी प्रकार निराला जी का व्यक्तिगत विद्रोह 'सरोज-स्मृति' और 'बनबेला' में व्यक्त हुआ है।

(२) प्रकृति चित्रण :— छायावाद की दूसरी प्रमुख विशेषता प्रकृति का सूक्ष्म चित्रण है। पहले प्रकृति का ज्यों त्यों चित्रण किया जाता था। जैसे हरिऔध जी ने सन्ध्या का वर्णन सीधे ढंग से ही कर दिया है :—

'दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला।'

किन्तु इसी को निराला ने इस प्रकार वर्णित किया :—

सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह।'
छाँह सी अम्बर पथ में चली।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति का यहाँ सूक्ष्म चित्रण हुआ है। स्पष्ट रूप से कोई भी बात कहा जाय उसमें न तो मन ही डूब पाता है और न प्रभावक ही लगता है।

(३) व्यक्तिगत-दुख :— तीसरी विशेषता व्यक्तिगत दुःख और विषाद की अभिव्यक्ति है। छायावादी कवियों की रचनाओं में निराशा और विषाद की अधिकता है। इस निराशा और विषाद-अवसाद का कारण भावुकता ही है।

(४) नारी के सौन्दर्य एवं प्रेम का चित्रण :— छायावादी कवि का नारी प्रेम चित्रण सूक्ष्म और शिष्ट है। इस चित्रण में नग्नता और स्थूलता नहीं आ पाया है। रीतिकाल में जिस प्रकार नारी को वासना का एक माध्यम बनाया गया उस प्रकार यहाँ वह वासनामयी नहीं रही। नारी के रूप वर्णन में कवियों ने बड़ी ही मार्मिकता और शिष्टता दिखलाई है —

नीलपरिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥

इस काव्य में नारी के प्रति प्रेम के भाव का काफी सूक्ष्म चित्रण हुआ मिलन दशा के अतिरिक्त इसमें विरह दशा का अधिक चित्रण मिलता है।

(५) अलौकिक प्रेम चित्रण :—प्रायः छायावाद के सभी कवियों के प्रेम वर्णन में अलौकिकता के दर्शन होते हैं। प्रत्येक कवि ने अपनी प्रेमिका के माध्यम से परमेश्वर को वर्णित किया है। प्रेमिका का चित्र इतना रहस्यात्मक है कि उसे लौकिक प्रेम कहने में संकोच होता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक छायावादी कवि ने बाह्य के स्थान पर आन्तरिकता पर अधिक बल दिया है। आन्तरिकता मनुष्य को रहस्यवादी बना देता है। उदाहरण स्वरूप यह छन्द प्रस्तुत किया जा सकता है :—

> प्रिय चिरन्तन है, सजनि,
> क्षण क्षण नवीन सुहागिनी मैं,
> सुध बुध में फिर परिचय नया।

(६) स्वच्छन्दता :—स्वच्छन्दता आधुनिक काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार छन्दों का पालन प्रत्येक कवि के लिये आवश्यक है। छायावादी कवियों ने बाह्य उपकरणों पर विशेषतः छन्दों पर विशेष ध्यान न देकर भाव पर विशेष ध्यान दिया। उसने अपने हृदय उद्गारों को व्यक्त करने के लिये किसी प्रकार की शास्त्रीय पद्धति या बन्धन को स्वीकार नहीं किया। यह कवि किसी भी क्षेत्र में और किसी भी दिशा में स्वच्छन्दतापूर्वक विचर सकता था। नारी प्रेम, व्यक्तिगत अनुभूति, प्रकृति चित्रण, वेदना और निराशा, अतीत प्रेम आदि सभी भावों को इस युग के कवि ने स्वच्छन्दतापूर्वक व्यक्त किया।

छायावाद की विशेषताएँ

१—अपने जीवन की अभिव्यक्ति
२—प्रकृति चित्रण
३—व्यक्तिगत दुःख
४—सौन्दर्य का चित्रण
५—स्वच्छन्दता
६—रहस्यात्मकता
७—मानवतावाद
८—लाक्षणिक प्रयोग
९—प्रतीक-पद्धति
१०—संगीतप्रधान काव्य
११—सरसता

(७) मानवतावाद :—छायावादी काव्य में मानवतावादी दृष्टिकोण विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ। नारियों की उपेक्षा मानवता के विपरीत एक दानवता-पूर्ण व्यवहार है। छायावादी कवियों ने इस दानवता को समझा और नारियों को कारागार से मुक्त किया। इस युग में नारी के तन को नहीं देखा बल्कि उसके हृदय को देखा गया। छायावादी कवि कह उठता है—

'मुक्त करो नारी को, युग-युग की कारा से।" छायावादी कवि सारे संसार से प्रेम करता है। उसके लिये भारतीय और अभारतीय में कोई अन्तर नहीं।

इसके अनुसार मानव का परिचय मानवपन है। कामायनी में भी यही मानवता चित्रित हुई है।

(८) लाक्षणिकता :—लाक्षणिक पद्धति छायावाद का काव्य-शैली की असली विशेषता है। कवियों ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनका अर्थ शाब्दिक न लेकर लाक्षणिक लिया जाता है। इन शब्दों का यदि अभिधार्थ लिया जाय तो शायद अर्थ ज्ञापन ही नहीं होगा। लाक्षणिक शब्दों का ध्वजित अर्थ स्पष्ट होते ही उक्ति की मार्मिकता एकदम बढ़ जाती है। पंत जी की एक पंक्ति से यह लाक्षणिकता समझ में आ सकती है।

"आह यह मेरा गीलागान।"

इसमें गीला शब्द का अर्थ भींगा होना नहीं है। यहाँ इसका अर्थ है दुःखपूर्ण वेदनामिश्रित तथा करुणाविगलित होना। इसी प्रकार 'धूल की ढेरी में अनजान छिपे हैं मेरे मधुमय गान।' यहाँ धूल की ढेरी का लाक्षणिक अर्थ असुन्दर वस्तुएँ और मधुमय गान का अर्थ सुन्दर वस्तुएँ हैं।

(९) प्रतीकात्मकता :—छायावाद की कविता में प्रकृति का प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है। प्रकृति का प्रत्येक अंग अपने एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शब्दों के प्रतीकात्मक अर्थ के समझे बिना छायावादी कविता का आनन्द नहीं मिल सकता। प्रतीक योजना के कारण ही यह कविता अस्पष्ट लगती है किन्तु प्रतीक विधान को समझ लेने पर कविता की अस्पष्टता और दुर्बोधता दूर हो जाती है। उषा, प्रातःकाल, मधु, सन्ध्या, गुंजन, पतझड़, फूल आदि सबका प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ। फूल सुख के अर्थ में शूल दुःख के अर्थ में, उषा प्रफुल्लता के अर्थ में, सन्ध्या उदासी के अर्थ में, झंझागर्जन मानसिक द्वन्द्व के अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं।

(१०) संगीतात्मकता :—संगीत तत्व काव्य को सौन्दर्यशाली और मधुर बनाता है। इस तत्व के अभाव में कोई भी कविता पाठकों को प्रभावित नहीं कर सकती। पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी सबके काव्य में मधुर संगीतमयता है। गेय होने के नाते इस काव्य का प्रभाव भी अधिक पड़ता है। इसके प्रत्येक छन्द को संगीत शास्त्रों के नियमानुकूल गाया भी जा सकता है। इसी गुण के कारण कोमलता और सुकुमारता का सृजन होता है। छायावादी काव्य की मधुरता सर्वमान्य है। संगीतात्मकता इस युग की शैली के रूप में स्वीकृत हुई। छायावाद की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त निम्नलिखित विशेषताएँ भी इस काव्य में यथास्थान देखी जाती हैं :—

(१) अभिव्यक्ति में कल्पना का प्राचुर्य, (२) प्रकृति में चेतना का आरोप, (३) आध्यात्मिकता, (४) मानवीकरण तथा विशेषण-विपर्यय आदि का प्रयोग (५) चित्रात्मकता, (६) सरसता।

उक्त विशेषताओं के रहते हुए भी छायावाद की कटु आलोचना हुई। प्राचीन सिद्धान्तों के समर्थकों और प्रसारकों ने इसे परम्परा के विरोध के रूप में एक हेय काव्य समझा और अपमान के रूप में ही इसका नाम भी छायावाद रख दिया। इसके प्रति सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि यह जीवन से हटा हुआ है। इसके अतिरिक्त अस्पष्टता और क्लिष्टता, कल्पनाधिक्य, अनुभूति की कृत्रिमता आदि अनेक त्रुटियाँ भी इस काव्य में दिखलाई जाती हैं। छायावाद के आलोचकों को इसके समर्थकों ने मुँह तोड़ उत्तर भी दिया और इस काव्यधारा में बतलाये गये सभी दोषों का उचित खण्डन कर इसकी महत्ता का प्रतिपादन किया।

कुछ लोगों का कहना है कि १९३६ तक आते आते छायावादी युग समाप्त हो गया। कुछ के अनुसार सन् १९४० तक ऐसी कविताएँ होती रहीं और इसके पश्चात् इस प्रकार की काव्यधारा लुप्त हो गई, किन्तु मैं ऐसा स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि कोई भी काव्यधारा या साहित्यधारा समाप्त नहीं होती, मन्द अवश्य पड़ जाती है। यह धारा आज मन्द अवश्य पड़ गई है पर समय आने पर उपयुक्त परिस्थिति में तीव्र भी हो सकती है।

छायावाद के प्रमुख कवि और काव्य :—

छायावाद की लहर जब हिन्दी काव्य में आई उस समय अनेक कवि इस नवीन धारा की ओर उन्मुख हुए। छायावादी कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, गुरुभक्त सिंह, सुभद्रा कुमारी चौहान, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा आदि के नाम लिये गये, किन्तु निराला, पन्त, प्रसाद और महादेवी को छोड़कर अन्य कवि छायावाद की भावना तथा उनकी शैली के साथ न चल सके। जयशङ्कर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा ने ही छायावाद को विकसित किया अतः छायावादी कवियों में इन्हीं कवियों की गणना होती है। ये चारों कवि छायावाद के स्तम्भ माने जाते हैं।

जयशङ्कर प्रसाद :—(सं० १९४६-१९९४) शिक्षा के केन्द्र काशी में और सिद्ध-धनी सुंघनी साहु के परिवार में उत्पन्न होने के नाते प्रसाद जी में बचपन से ही साहित्य के प्रति रुचि और अनुराग था। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। संघर्षमय जीवन की कठिनाइयों का सामना करते हुए भी इन्होंने हिन्दी

की सेवा की। गद्य और पद्य दोनों विधाओं में इनकी लेखनी चली। उपन्यास, कहानी और नाटक को तो इन्होंने विकसित किया ही, साथ ही साथ कविता को भी उन्नति की चरमसीमा पर पहुँचा दिया। बहुमुखी कविता से युक्त होने पर भी इनकी काव्य-प्रतिभा सर्वोत्कृष्ट है। इनके गद्यात्मक साहित्य में भी इनका कवि हृदय बोल रहा है। ये छायावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनकी निम्नलिखित काव्य कृतियाँ प्रमुख है :—

कानन कुसुम, करुणालय, प्रेमपथिक, झरना, लहर, आँसू तथा कामायनी। कामायनी इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। इसमें छायावाद की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं।

प्रसादजी की भाषा संस्कृतनिष्ठ खड़ीबोली हिन्दी है। भावों की गम्भीरता के साथ-साथ इनकी भाषा कठिन और दुरूह है। इनकी शैली कल्पनाप्रधान, मनोवैज्ञानिक, लाक्षणिक तथा संगीतात्मक है। ये मानवतावादी कवि हैं—

विधाता की कल्याणी सृष्टि सफल हो इस भूतल पर आज
फटें सागर, बिखरें ग्रह-पुञ्ज और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।

सुमित्रानन्दन पन्त :—पन्तजी का जन्म अल्मोड़ा के कौसानी नामक ग्राम में सन् १९०० में हुआ। पन्तजी ने हाई स्कूल पास करने के बाद सन् १९२० में प्रयाग के म्यूअर सेन्ट्रल कालेज में प्रवेश लिया, किन्तु १९२१ में असहयोग आन्दोलन से कालेज छोड़ना पड़ा। तभी से ये साहित्य सृजन में लीन हैं। इनकी कुछ रचनायें प्रसाद युग और कुछ प्रगतियुग में आती हैं। पन्तजी की रचनाओं में —'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'स्वर्णधूलि', स्वर्ण किरण', 'अतिमा', 'रजत शिखर' आदि प्रसिद्ध हैं। ये सामाजिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक सभी प्रकार की उन्नति चाहते हैं। इनके विचारों में समाजवाद तथा दार्शनिकता का समन्वय देखने को मिलता है। प्रकृति-चित्रण में इन्हें बड़ी सफलता मिली है। प्रकृति के सुकुमार अङ्गों का इन्होंने बड़ा सुन्दर चित्रण किया है, इसीलिए इनको प्रकृति का सुकुमार कवि कहा जाता है।

पन्तजी की शैली कोमलकान्त पदावली वाली है। ये इस शैली के जन्मदाता माने जाते हैं। विशेषतः ये कवि हैं किन्तु कुछ नाटक लिखने के नाते इनकी गणना नाटककारों में भी की जाती है। परी, रानी. क्रीडा, ज्योत्सना, आदि इनके नाटक हैं। इनकी भाषा निम्नलिखित उदाहरण में देखी जा सकती है :—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्त ध्वस्त! हे शुष्क शीर्ण।
हिम ताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीतराग, जड़ पुराचीन॥

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' :—इनका जन्म सं० १६५३ में महिषादल राज्य के मेदनीपुर में हुआ था। ये बचपन से ही निराला थे। कविता लिखने की ओर इनकी रुचि बचपन से ही थी। अपने विद्या-काल से ही बंगला में कवितायें करने लगे। इन्हें अपने जीवन में कई आपत्तियों का सामना करना पड़ा। कलकत्ते से 'समन्वय', नामक पत्र के सम्पादन से इन्हें रामकृष्ण और विवेकानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों से रुचि हुई। कलकत्ते से ही 'मतवाला' नामक पत्र भी इन्होंने निकाला। यहीं से इनका साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हुआ।

निराला जी सर्वतोमुखी प्रतिभावाले व्यक्ति थे। इन्होंने काव्य, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, समीक्षा, नाटक आदि सभी साहित्यिक-रूपों की रचना की।

इनकी काव्य कृतियों में—अनामिका, परिमल, गीतिका, नये पत्ते, अपरा आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं। इनके उपन्यासों में अप्सरा, अलका, प्रभावती, काले-कारनामें, चोटी की पकड़ आदि उल्लेखनीय हैं। इनके कहानी-संग्रहों में लिली, चतुरी-चमार, सुकुल की बीवी, आदि उत्कृष्ट कृतियाँ हैं।

निराला जी में एक ही साथ छायावादी, रहस्यवादी, प्रगतिवादी आदि भावनायें व्यक्त हुई। इनकी भाषा भावानुकूल है तथा शैली समीक्षात्मक तथा स्वच्छन्द है। स्वच्छन्द छन्दों के तो ये निर्माता माने जाते हैं। इनकी काव्य धारा ने कभी कोई बन्धन स्वीकार नहीं किया। इनकी रहस्यानुभूति से इनकी भाषा का परिचय मिल जाता है :—

> तुम तुंग हिमालय-शृङ्ग,
> और मैं चचल गति सुर-सरिता।
> तुम विमल हृदय उच्छ्वास,
> और मैं कान्त कामिनी कविता॥

महादेवी वर्मा—इनका जन्म उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद नगर में सं० १६६४ में हुआ। इनका परिवार बड़ा सम्पन्न था। इनका विवाह छोटी उम्र में ही श्री स्वरूपनारायण जी से कर दिया गया। विवाहोपरान्त इन्होंने अध्ययन कार्य प्रारम्भ किया। इन्होंने एम० ए० तक की सभी परीक्षायें प्रथम श्रेणी में पास कीं। एम० ए० पास करने तक इनके दो कविता-संग्रह-'नीहार' तथा 'रश्मि' प्रकाशित हो चुके थे। बाद में इनकी नियुक्ति प्रयाग महिला विद्यापीठ में प्राचार्य के रूप में हो गयी। तभी से उसी पद पर आज भी आसीन रहकर महादेवी जी साहित्य सृजन कार्य करती आ रही हैं।

महादेवी जी के काव्य संग्रहों में—'नीहार' 'रश्मि' 'नीरजा' 'सांध्यगीत' 'दीपशिखा' और 'यामा' प्रमुख हैं। इन सभी रचनाओं में महादेवी जी की रहस्यात्मक भावनायें व्यक्त हुई हैं। कुछ आलोचकों ने इन्हें आधुनिक 'मीरा'

कहा है। ये मीरा हैं कि नहीं यह कहना तो कठिन है, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि मीरा और महादेवी दोनों के आदर्शों तथा सिद्धान्तों में अन्तर है। महादेवी के काव्य में इनका अन्तर्जीवन प्रस्फुटित हो उठा है। इनके काव्य में सर्वत्र दुःखवाद की तीव्रानुरक्ति ही सुनाई पड़ती है। वेदना ही उनका साधन है और वेदना ही उनका साध्य। इसलिये वे कहती हैं :—

तुम अमर प्रतीक्षा हो, मैं पग विरह पथिक का धीमा।
आते जाते मिट जाऊँ, पाऊँ न पन्थ की सीमा॥

× × × ×

या मुरझाई पलकों से झरते आँसू कब देखूँ।

महादेवी जी का गद्य भी काफी प्रौढ़ है। गद्य ग्रन्थों में 'शृङ्खला की कड़ियाँ' तथा 'अतीत के चलचित्र' अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। गद्यात्मक रचनाओं में नारी के प्रति अगाध सहानुभूति उमड़ पड़ी है। अतीत के चलचित्र में समाज के निम्न वर्ग के कुछ चित्रों की स्मृति सचित्र की गई है। अपने 'विवेचनात्मक गद्य' में महादेवी जी ने अपनी समीक्षात्मक दृष्टि का परिचय दिया है।

चित्रकला में भी देवी जी को सफलता मिली है। 'दीपशिखा' और 'यामा' के चित्र अत्यन्त आकर्षक और प्रभावक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि महादेवी जी में संगीत-कला, काव्यकला और चित्रकला का अभूतपूर्व सम्मिश्रण है। महादेवी जी की भाषा अत्यन्त गम्भीर और साहित्यिक है। इनकी शैली भावात्मक, रहस्यात्मक, कल्पनाप्रिय, तथा दार्शनिक है।

काव्य में रहस्यवाद—

रहस्यवाद आत्मा में परमात्मा का स्वरूप ज्ञान है तथा विश्वात्मा की प्राप्ति का आनन्द-रस है। हिन्दी में यह कोई भावना नहीं है। इसका स्वरूप हमें वेदों तथा उपनिषदों में भी मिलता है। यदि वेदों और उपनिषदों की बात छोड़ भी दी जाय और केवल हिन्दी की ही बात ली जाय तो यह कहना पड़ेगा कि हिन्दी के प्रारम्भिक युग से अर्थात् सिद्ध तथा नाथ साहित्य से ही रहस्यवादी विचार-धारा हिन्दी में पाई जाती है। पर आधुनिक युग में इसका अधिक महत्व बढ़ा।

छायावाद की तरह इसकी भी अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। आ० शुक्ल के अनुसार—'आत्मा और परमात्मा, जीव और ब्रह्म की प्रणयानुभूति ही रहस्यवाद है। इन्हीं के अनुसार चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है। डा० रामकुमार वर्मा की परिभाषा इस प्रकार है :—'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। यह सम्बन्ध यहाँ

एक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।" महादेवी वर्मा ने रहस्यवाद को छायावाद की पराकाष्ठा माना है।

उक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद एक काव्यधारा है जिसमें अलौकिक ब्रह्म और लौकिक साधक के प्रेम सम्बन्धों की चर्चा की जाती है और जिसके विस्मयकारी रूप पर आश्चर्य प्रकट किया जाता है। यह छायावाद से मिलती-जुलती एक नवीन काव्य-धारा है। छायावाद में प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और रहस्यवाद में प्रकृति के माध्यम से कवि आत्मा-परमात्मा से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। हिन्दी काव्य में छायावाद के साथ ही साथ रहस्यवाद की भी प्रतिष्ठा हुई और जो छायावादी कविता के उन्नायक थे वे ही रहस्यवाद के भी उन्नायक हुए।

रहस्यवाद को कुछ लोग अंग्रेजी के 'मिस्टिसिज्म' का हिन्दी रूपांतर कहते हैं। यह सत्य है या असत्य यह नहीं कहा जा सकता पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मिस्टिक साहित्य की भाँति रहस्यवाद में भी अस्पष्टता पायी जाती है।

रहस्यवाद प्रमुखतः दो रूपों में मिलता है-(१) ज्ञानमूलक (२) भावना-मूलक। कबीर का रहस्यवाद प्रथम कोटि का है और सूफियों का रहस्यवाद दूसरी कोटि का। आज का रहस्यवाद प्राचीन रहस्यवाद से भिन्न है। आधुनिक रहस्य-वाद भाव पर टिका है, साधना पर नहीं।

रहस्यवाद की कई अवस्थायें बतलाई गई हैं। जागृति, आत्मशुद्धि, आत्म-प्रकाश मिलन आदि प्रमुख अवस्थायें हैं। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार तीन ही अवस्थायें होती हैं—तल्लीनता, उन्माद और मिलन। साधारणतः रहस्यवाद की तीन अवस्थायें मानी जाती हैं—जिज्ञासा, ज्ञान और मिलन। जिज्ञासा की अवस्था में कवि ईश्वर की अलौकिक सत्ता को सब जगह व्याप्त देखता है, उनकी शक्ति से विस्मित होता है और सारे जगत् को उसी शक्ति से सचालित मानता है। इस सर्वशक्तिमान सत्ता का वह आभास पाता है और उसकी ओर आकृष्ट होता है। पहले तो वह प्रश्न पूछता है, अपनी जिज्ञासा व्यक्त करता है—

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ! यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो भार विचार न सह सकता॥

इसके पश्चात् आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध ज्ञात होता है—

तुम तुंग हिमालय शृङ्ग
और मैं चचल गति सुर-सरिता।

अन्त में जाकर दोनों का मेल होता है—और अतिशय आनन्द की प्राप्ति होती है। उस समय आत्मा परमात्मा में कोई अन्तर नहीं होता—

प्रिय चिरन्तर है सजनि
क्षण क्षण नवीन सुहागिनी मैं,
तुम मुझमें फिर परिचय क्या ?

कबीर ने भी इसी स्थिति का वर्णन किया है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है।
बाहर भीतर पानी।

रहस्यवाद हिन्दी कविता के लिए कोई नई बात नहीं है। रहस्य का उल्लेख हमारे यहाँ उपनिषदों में भी हो चुका है। सिद्धों और नाथों के साहित्य में तो स्थान स्थान पर रहस्यात्मक भाव व्यक्त हुए हैं। कबीर साहित्य तथा जायसी-साहित्य में भी रहस्यात्मक भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। आधुनिक रहस्यवाद सिद्धों-नाथों के रहस्यवाद से अनेक अर्थों में आगे है। आधुनिक रहस्यवाद साधनात्मक न होकर भावात्मक अधिक है। यह बौद्धिकता पर अधिक टिका है।

रहस्यवाद अंग्रेजी शब्द मिस्टिजिज्म का अनुवाद है। बंगाल में रहस्यवादियों को मर्मी कहते हैं क्योंकि ये लोग तत्व या मर्म को जानने के लिए कोशिश करते हैं और मर्म का अनुभव भी करते हैं। अंग्रेजी के मिस्टसिज्म और बंगला के मर्म से हिन्दी रहस्यवाद का कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि हिन्दी में रहस्य शब्द का प्रयोग गूढ़ बात तथा भेद के अर्थ में बहुत पहले से ही होता था। आधुनिक युग में आकर रहस्य का रूप बदल जाता है और परिस्थितियों के अनुसार आधुनिक रहस्यवादी काव्य भी परिवर्तित हो जाता है।

रहस्यवाद की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं को सूत्र रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है:—

विशेषताएँ :

(१) अलौकिक ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा।
(२) अलौकिक व्यक्ति का अनुभव।
(३) ब्रह्म के संकेतों को जगत् के सभी रूपों में देखना।
(४) ब्रह्म का अनुभव।
(५) अनुभव के पश्चात् मिलन की तड़पन।
(६) मधीतात्मकता।
(७) सांकेतिकता।

(८) ईश्वर से मिलने के पश्चात् आत्मा या परमात्मा में कोई अन्तर नहीं।

(९) सुख और वियोग दोनों की अभिव्यक्ति।

(१०) प्रेम की अजस्रधारा।

(११) आध्यात्मिकता।

(१२) प्रकृति में भी अलौकिकता के दर्शन।

रहस्यवाद की वर्णित विशेषताएँ अनेक कवियों में देखी जाती हैं। रहस्यवाद के प्रधान कवि-प्रसाद, महादेवी, पंत, निराला और डा० रामकुमार वर्मा जी हैं। निराला जी के रहस्यवाद में तत्त्वज्ञान अधिक है तो पन्त के रहस्यवाद में प्राकृतिक सौन्दर्य की अधिकता। प्रेम और वेदना ने महादेवी वर्मा को रहस्योन्मुख किया तो प्रसाद जी ने उस परमसत्ता को अपने बाहर खोजा?

छायावाद की तरह रहस्यवाद की भी आलोचना की गयी। इसे काव्य न कहकर साधना कहा गया। इसे जीवन से असम्बद्ध भी बतलाया गया। इसमें कल्पना की उड़ान तथा बौद्धिकता की अधिकता दिखलायी गई है। इसकी भाषा सांकेतिक एवं कठिन है। ये सभी त्रुटियाँ बतलायी तो अवश्य गई हैं, पर जीवन से असम्बद्ध होने की बात असत्य लगती है। जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं जब मनुष्य परमात्मा की अलौकिकता पर विस्मित होता है। प्रकृति के आश्चर्यजनक परिवर्तनों को देखकर हम यही कह सकते हैं कि ईश्वर की ही सब कृपा है। इस प्रकार अलौकिक सत्ता से मानव जीवन का भावगत सम्बन्ध है, अत: परमात्मा भी कविता का विषय बन सकता है।

रहस्यवाद के अन्त के विषय में भी वही बात कही जा सकती है जो छायावाद के सम्बन्ध में कही गयी है। इस प्रकार के रहस्यात्मक भाव आज भी काव्य में देखे जाते हैं, किन्तु यह धारा अब धीमी और मन्द पड़ गयी है। रहस्यवाद के उदाहरणों से इसकी भाषा और इसके भावों का स्पष्टीकरण हो सकता है:—

(१) एक दिन थम जायगा रोदन,
तुम्हारे प्रेम अंचल में

(२) मैं तुम में प्रतिबिम्बित होऊँ,
तुम मुझ में होना अनूप॥

(३) गूँथे चुन तारक पारिजात,
अवगुंठन कर किरणें अशेष;
क्यों आज, रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव शृङ्गार नहीं?

रहस्यवाद और छायावाद के साथ ही साथ आधुनिक युग की काव्यधारा में राष्ट्रीय कविताएँ भी की गईं। इन कविताओं में राष्ट्र के प्रति प्रेम विभिन्न रूपों में व्यक्त किया गया। इस प्रकार की कविता को राष्ट्रीय धारा का काव्य कहा गया। इस प्रकार की कविता करने वालों में मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, दिनकर, बालकृष्ण शर्मा नवीन, माखन लाल चतुर्वेदी, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' रामनरेश त्रिपाठी आदि प्रमुख हैं।

छायावाद-रहस्यवाद :—ये दोनों आधुनिक युग की प्रसिद्ध काव्य धाराएँ हैं। छायावाद में कवि जहाँ प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित कर अपने प्रेम के भावों को व्यक्त करता है वहीं रहस्यवाद में कवि प्रकृति के कण कण में परमात्मा को विद्यमान देखता है। छायावादी प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उस सौन्दर्य का कारण खोजते है। रहस्यवादी ईश्वर की व्यापकता का कारण खोजते हैं। दोनों स्थूल जगत् के दृश्य पदार्थों से अलग हैं। छायावाद अपनी परिपक्वावस्था में रहस्यवाद के दर्शन कराता है। छायावाद के साथ ही साथ रहस्यवादी धारा भी प्रवाहित हुई। दोनों के कवि भी प्रायः एक ही हैं। दोनों में कलागत समता भी है। गोपनीय शैली दोनों की है। वेदना एवं पीड़ा की अधिकता का वर्णन दोनों कवियों ने किया है। अस्पष्टता दोष दोनों में पाया जाता है। छायावाद में अपने प्रेम-पात्र के लिए आँसू बहाया गया है तो रहस्यवाद में ईश्वर से मिलने की उत्कंठा और न मिलने की आशा में व्याकुलता व्यक्त हुई है।

प्रगतिवाद (१९३६-१९५२)

आज सम्पूर्ण मानवता की मुक्ति चाहिए। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को, व्यक्ति मनुष्य को नहीं बल्कि समष्टि मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा। इसी आदर्श ने हमारी नवीन काव्यधारा, प्रगतिवाद को जन्म दिया है। इसी नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम 'प्रगतिशील' साहित्य है। इसी पर आधारित एवम् आश्रित शाखा 'प्रगतिवादी' साहित्य है। प्रगतिशील व्यापक शब्द है किन्तु 'प्रगतिवाद' एक निश्चित सिद्धान्त को सूचित करता है। देश में विदेशी शासन से मुक्ति पाने का आंदोलन चल रहा था। गाँधी जी ने एक भयानक जनआंदोलन को रोक दिया। राष्ट्रीयता-आंदोलन प्रारम्भ हुआ। देश के जमीन्दार और निम्न वर्ग में भयानक अन्तर हो गया। इसी समय सन् १९३४ ई० में कांग्रेस सोशलिस्टपार्टी का जन्म हुआ। रूसी कम्यूनिज्म से जनता प्रभावित होने लगी। राजनीति में यहाँ भी वामपन्थी विचारधारा का आगमन हुआ।

इन आन्दोलनों के साथ साहित्यकारों में भी हलचल दिखाई दी। १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। प्रेमचन्द्र भी इसके सभापति हुए। सामाजिक मंगल के प्रयत्न में विश्वास रखने वाले साहित्यकार इसमें आये। इसके बाद यह एक प्रधान रूप से पार्टी की संस्था हो गयी। यहीं से प्रगतिवादी साहित्य का प्रारम्भ हुआ।

प्रगतिवादी साहित्य के आधारभूत तत्त्व :—

(१) संसार-स्वरूप मौलिक है, वह किसी चेतन सर्वसमर्थ सत्ता का विवर्त या परिणाम नहीं।

(२) कुछ भी अज्ञेय, रहस्य, उलझन नहीं। संसार की व्याख्या हो सकती है।

(३) समाज निरन्तर विकसनशील संस्था है। यह दल किसी प्रकार की रूढि को नहीं मानता।

उनके अनुसार मनुष्य प्रयत्न करके इस समाज को ऐसा बना सकता है जिसमें शोषक और शोषितों के वर्ग न हों और मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन बिता सके।

नये साहित्यकार :—इसमें दो तरह के साहित्यकार हैं—(१) कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्धित एवं उसकी नीति और निर्देश पर साहित्य निर्माणकर्त्ता।

(२) दूसरे वे हैं जो पार्टी से सम्बन्धित नहीं हैं पर इन विचारों पर साहित्य रचना करते हैं।

थोड़े दिनों में प्रगतिवाद से राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशचन्द्र गुप्त, भगवत शरण उपाध्याय, यशपाल और रांगेयराघव जैसे उपन्यासकार, अमृतराय जैसे कहानी लेखक, शिवमंगल सिंह सुमन और नागार्जुन जैसे कवि प्रभावित हुए। सुमित्रानन्दन पन्त भी किसी समय प्रभावित हुए थे।

पार्टी से सम्बन्धित साहित्यकार श्रेष्ठ साहित्य नहीं दे सके। वे पार्टी का प्रचार ही करते रहे।

रघुवीर, धर्मवीर भारती, शंभुनाथ सिंह और नामवर आदि नई सम्भावनाओं को लेकर आ रहे हैं।

छायावाद के गर्भ से सन् ३० के आसपास नवीन सामाजिक चेतना से युक्त जिस साहित्य धारा का जन्म हुआ उसे सन् ३६ में प्रगतिशील साहित्य अथवा प्रगतिवाद कहा गया।

मार्क्सवाद का चरम उद्देश्य सर्वहारावर्ग के शोषण को समाप्त कर एक वर्गहीन समाज की स्थापना करना है। आर्थिक उन्नति से ही समाज की उन्नति होती है। सामाजिक विषमता का प्रधान कारण अर्थ की विषमता है।

प्रगतिवाद पर फ्रायड के यौनवाद का भी आंशिक प्रभाव पड़ा। फ्रायडवाद से प्रभावित लोगों का कहना है कि विश्व में प्रेम से अधिक प्रगतिशील और कोई भावना नहीं। कुछ लेखकों ने इसी आधार पर अश्लील चित्रण किये हैं—इलाचंद्र जोशी, अज्ञय आदि। इन्हें प्रगतिवादी नहीं कहा जा सकता।

आज के प्रगतिवाद के सामने ये बातें हैं :—

(१) पुरानी सड़ी गली संस्कृति का मूलोच्छेदन तथा कला का कला के लिये न होकर जीवन के लिये उपयोग करना।

(२) मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को साहित्यिक रूप देकर जनता के विचारों की छाप डालना।

प्रगतिवाद मार्क्स की सामाजिक व्यवस्था की साहित्यिक वाणी है।

इसकी भाषा प्राकृतिक एवम् सरल है। 'वह आता, दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता' जैसी भाषा की आकांक्षा प्रगतिवाद करता है। छन्द और प्रतीक योजना का इसमें विरोध है।

प्रगतिवाद पर आक्षेप—(१) यह अध्यात्म, संस्कृति और चेतना से शून्य है।

(२) साहित्य की चिरन्तनता पर इसका विश्वास नहीं। प्राचीन साहित्य को सामन्तशाही का पोषक मानता है।

(३) यह समाज के यथार्थ और वास्तविक चित्र पर जोर देता है।

(४) यह साहित्य एकांगी है, यह असत्य का चित्रण करता है। संघर्ष में इसका विश्वास है। अधिकांश प्रगतिशील साहित्यकारों में शोषित के प्रति मौखिक सहानुभूति है। इसकी रचनाएँ कृत्रिम और भड़कीली होती हैं।

(५) सेक्स का अश्लील चित्रण है।

(६) समाज के प्रति कोई आदर्श प्रस्तुत नहीं करता।

प्रगतिवाद की विशेषताएँ :—

(१) प्रगतिशील युग के अन्तर्गत प्रगतिशील व्यक्तियों को पहचानना।
(२) प्राचीन तथा नवीन धाराओं की तुलना।
(३) नवीन विचारधाराओं का प्रगतिशील हल।
(४) रूढ़ियों के विरुद्ध आन्दोलन।
(५) नवीन समस्याओं के प्रति साहित्यिक प्रेरणा।
(६) प्राचीनता की महिमा का त्याग।
(७) जीवन के यथार्थ स्वरूप का कलात्मक उद्घाटन।
(८) कला का लक्ष्य—नई प्राण प्रतिष्ठा, नये टेकनिक, नूतन छन्द, नवीन भाषा और नई भावाभिव्यक्ति, सतत विकास ही जीवन का ध्येय।

निराला ने भी इससे प्रभावित होकर 'चतुरी चमार', 'पगली' कहानियाँ एवम् 'चोटी की पकड़' आदि उपन्यास लिखे।

पन्त ने भी 'रूपाभ' पत्र निकालकर इस आन्दोलन को शक्तिशाली बनाया, 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचना की किन्तु पुनः कल्पना के क्षेत्र में चले गये। नरेन्द्र, सुमन, अंचल, आदि कवि तथा प्रेमचन्द द्वारा सम्पादित 'हंस ने' प्रगतिवाद का नेतृत्व किया। कुछ समय तक अनेक कवि इससे प्रभावित हुए। इनमें केदारनाथ, नागार्जुन आदि प्रसिद्ध हैं।

आलोचक रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, चन्द्रवली सिंह आदि भी इससे प्रभावित हुए।

उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवती चरण वर्मा, अज्ञेय, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि को भी सैद्धान्तिक विरोध होते हुए भी प्रगतिवादी मान लिया जाता है।

उदाहरण :—

(१) समाजी विषमता की नींवें मिटाती
गरीबों की दुनियाँ में जीवन जगाती
अमीरों की सोने का लंका जलाती
चली आ रही है बढ़ी लाल सेना॥

(२) श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।

(३) देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे,
हृदय शोणित की धारें।
और उठी जातीं उन पर ही,
वैभव की ऊँची दीवारें॥

प्रयोगवाद :—

हिन्दी में प्रयोगवादी कविता का जन्म साधारणतः १९४३ ई० में प्रकाशित 'तार सप्तक' नामक संग्रह से माना जाता है। इसके सम्पादक अज्ञेय थे। १९५१ में दूसरा 'सप्तक' प्रकाशित हुआ। अज्ञेय के सम्पादन में 'प्रतीक' नामक मासिक पत्रिका ने प्रयोगवादी कविताओं को प्रश्रय दिया। 'पाटल' 'दृष्टिकोण' तथा 'न्यायपथ' आदि प्रगतिशील पत्रिकाओं में भी ऐसी कविताओं के दर्शन होते रहे। सन् १९५४ से 'नई कविता' नामक प्रयोगवादी कविताओं का एक अर्द्धवार्षिक संग्रह निकलने लगा है। इसमें प्रयोगवादी कविता वास्तविक रूप से प्रकट हो रही है। प्रयोगवाद को कुछ तो छायावाद के प्रतिक्रिया स्वरूप मानते हैं तो कोई प्रगतिवाद के प्रतिक्रिया स्वरूप।

प्रयोगवाद पूंजीपतियों द्वारा समर्थित एक ऐसी काव्यधारा है, जो प्राणप्रण से प्रगतिवाद का विरोध कर रही है। प्रगतिवाद से पूंजीपतियों को भय था। जब पूंजीपतियों के बदनाम एवं विरोध से भी यह प्रगति की धारा न रुकी तब उन्होंने ऐसे कलाकारों को उद्बुध किया और उनसे ऐसी काव्यधारा का सृजन कराया जिसमें हमारी ऐसी समस्याओं को प्रधानता दी गई जिनसे हमारी दैनिक समस्याओं का कोई सम्बन्ध नहीं था। कलाकारों का सारा ध्यान और शक्ति टेकनिक (शैली) के नवीन प्रयोगों की तरफ लगा दी गई। इनमें ऐसे साहित्य की रचना हुई जो जनवादी हो चाहे न हो परन्तु विलक्षण, अद्भुत, और ऐसा अवश्य हो जिसे पढ़कर पाठक आश्चर्यचकित हो जाय। पाठक भले ही उसे समझ पावे अथवा नहीं, पर कहे कि यह नयी कविता है :—

अगर कहीं मैं तोता होता।
तो क्या होता,
तो क्या होता,
तोता तोता तोता।

ऐसी कविताओं की आलोचना—आ० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० रामविलास शर्मा आदि ने की है। आ० नन्ददुलारे :—

प्रयोगवादी साहित्य से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में न कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रमविकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व हो। डा० प्रेमनारायण शुक्ल भी इनके प्रयत्नों को थोथा एवम् निस्सार मानते हैं। 'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियों' के प्रयोगवाद नामक निबन्ध में नामवर सिंह ने लिखा है कि —

"प्रयोगवाद नाम के चलन का श्रेय तारसप्तक के सम्पादकीय तथा कुछ अन्य वक्तव्यों को है। उनमें 'प्रयोगवाद' शब्द का तो प्रयोग नहीं हुआ किन्तु 'प्रयोग और 'प्रयोगशीलता को साफ शब्दों में अपनी विशेषता कहा गया है। प्रो० नामवर सिंह के कथनानुसार 'प्रयोगवाद' नाम पाठकों ने प्रयोग के नाम पर आनेवाली सभी कविताओं को दे दिया। 'तारसप्तक' के संग्रहकर्त्ता श्री अज्ञेय जी कहते हैं 'काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें मानवता के सूत्रमें बाँधता है।' अन्वेषण का दृष्टिकोण रखने के कारण ही प्रयोगशील लेखक 'प्रयोगवादी कहलाते हैं।

ये प्रयोगवादी किसी मंजिल पर पहुँचे हुये नहीं हैं, न हैं राह पर, ये हैं, केवल राहों के अन्वेषी। अज्ञेय जी के अनुसार ही विदित है कि उनसे मानों साथी भिन्नता रखनेवाले हैं। महत्वपूर्ण विषयों में सबकी राय अलग-अलग है, पर दृष्टिकोण में ही केवल समता है। प्रयोगवादी कवि अन्वेषण तो करते हैं,

निराला ने भी इससे प्रभावित होकर 'चतुरी चमार', 'पगली' कहानियाँ एवम् 'चोटी की पकड़' आदि उपन्यास लिखे।

पन्त ने भी 'रूपाभ' पत्र निकालकर इस आन्दोलन को शक्तिशाली बनाया, 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचना की किन्तु पुनः कल्पना के क्षेत्र में चले गये। नरेन्द्र, सुमन, अंचल, आदि कवि तथा प्रेमचन्द द्वारा सम्पादित 'हंस ने' प्रगतिवाद का नेतृत्व किया। कुछ समय तक अनेक कवि इससे प्रभावित हुए। इनमें केदारनाथ, नागार्जुन आदि प्रसिद्ध हैं।

आलोचक रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, चन्द्रबली सिंह आदि भी इससे प्रभावित हुए।

उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवती चरण वर्मा, अज्ञेय, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि को भी सैद्धान्तिक विरोध होते हुए भी प्रगतिवादी मान लिया जाता है।

उदाहरण :—

(१) समाजी विषमता की नींवें मिटाती
गरीबों की दुनियाँ में जीवन जगाती
अमीरों की सोने का लंका जलाती
चली जा रही है बढ़ी लाल सेना॥

(२) श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।

(३) देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे,
हृदय-शोणित की धारें।
और उठी जातीं उन पर ही,
वैभव की ऊँची दीवारें॥

प्रयोगवाद :—

हिन्दी में प्रयोगवादी कविता का जन्म साधारणतः १९४३ ई० में प्रकाशित 'तार सप्तक' नामक संग्रह से माना जाता है। इसके सम्पादक अज्ञेय थे। १९५१ में दूसरा 'सप्तक' प्रकाशित हुआ। अज्ञेय के सम्पादन में 'प्रतीक' नामक मासिक पत्रिका ने प्रयोगवादी कविताओं को प्रश्रय दिया। 'पाटल' 'दृष्टिकोण' तथा 'न्यायपथ' आदि प्रगतिशील पत्रिकाओं में भी ऐसी कविताओं के दर्शन होते रहे। सन् १९५४ से 'नई कविता' नामक प्रयोगवादी कविताओं का एक अर्द्धवार्षिक संग्रह निकलने लगा है। इसमें प्रयोगवादी कविता वास्तविक रूप से प्रकट हो रही है। प्रयोगवाद को कुछ तो छायावाद के प्रतिक्रिया स्वरूप मानते हैं तो कोई प्रगतिवाद के प्रतिक्रिया स्वरूप।

प्रयोगवाद पूंजीपतियों द्वारा समर्थित एक ऐसी काव्यधारा है, जो प्राणप्रण से प्रगतिवाद का विरोध कर रही है। प्रगतिवाद से पूंजीपतियों को भय था। जब पूंजीपतियों के बदनाम एवं विरोध से भी यह प्रगति की धारा न रुकी तब उन्होंने ऐसे कलाकारों को उद्‌बुध किया और उनसे ऐसी काव्यधारा का सृजन कराया जिसमें हमारी ऐसी समस्याओं को प्रधानता दी गई जिनसे हमारी दैनिक समस्याओं का कोई सम्बन्ध नहीं था। कलाकारों का सारा ध्यान और शक्ति टैकनिक (शैली) के नवीन प्रयोगों की तरफ लगा दी गई। इनमें ऐसे साहित्य की रचना हुई जो जनवादी हो चाहे न हो परन्तु विलक्षण, अद्‌भुत, और ऐसा अवश्य हो जिसे पढ़कर पाठक आश्चर्यचकित हो जाय। पाठक भले ही उसे समझ पावे अथवा नहीं, पर कहे कि यह नयी कविता है :—

अगर कहीं मैं तोता होता।
तो क्या होता,
तो क्या होता,
तोता तोता तोता।

ऐसी कविताओं की आलोचना—आ० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० रामविलास शर्मा आदि ने की है। आ० नन्ददुलारे :—

प्रयोगवादी साहित्य से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में न कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रमविकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व हो। डा० प्रेमनारायण शुक्ल भी इनके प्रयत्नों को थोथा एवम् निस्सार मानते हैं। 'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियों' के प्रयोगवाद नामक निबन्ध में नामवर सिंह ने लिखा है कि —

"प्रयोगवाद नाम के चलन का श्रेय तारसप्तक के सम्पादकीय तथा कुछ अन्य वक्तव्यों को है। उनमें 'प्रयोगवाद' शब्द का तो प्रयोग नहीं हुआ किन्तु 'प्रयोग और 'प्रयोगशीलता को साफ शब्दों में अपनी विशेषता कहा गया है। प्रो० नामवर सिंह के कथनानुसार 'प्रयोगवाद' नाम पाठकों ने प्रयोग के नाम पर आनेवाली सभी कविताओं को दे दिया। 'तारसप्तक' के संग्रहकर्त्ता श्री अज्ञेय जी कहते हैं 'काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें मानवता के सूत्र में बाँधता है।' अन्वेषण का दृष्टिकोण रखने के कारण ही प्रयोगशील लेखक 'प्रयोगवादी कहलाते हैं।

ये प्रयोगवादी किसी मंजिल पर पहुँचे हुये नहीं हैं, न हैं राह पर, वे हैं, केवल राहों के अन्वेषी। अज्ञेय जी के अनुसार ही विदित है कि उनमें मानों साफी भिन्नता रखनेवाले हैं। महत्त्वपूर्ण विषयों में सबकी राय अलग-अलग है, पर दृष्टिकोण में ही केवल समता है। प्रयोगवादी कवि अन्वेषण तो करते हैं,

पर किसका अन्वेषण करते हैं, इसका उत्तर तारसप्तक नहीं देता। इसका उत्तर फिर अज्ञेय जी ही देते हुए कहते हैं कि—वे भाषा के क्षेत्र में अन्वेषण कर रहे हैं। वे भाषा के अछूते और अभेद्य दोनों का अन्वेषण करते हैं।

"आजकल की भाषा को अपर्याप्त पाकर सीधी-तिरछी, उलटी-सीधी, मोटी-पतली लकीरों, छोटी-बड़ी टाइपों से, कवि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठक तक पहुंचाता है।"

अज्ञेय जी के उपर्युक्त विचारों से ही इस कोटि की कविता की यथार्थता सिद्ध हो जाती है। जिस कवि की संवेदना ही उलझी हुई हो, वह पाठक को प्रभावित कहाँ तक कर सकता है, इसे तो वे ही सोच सकते हैं।

इन उलझी हुई संवेदनाओं के कारण ही प्रयोगवादी कवि वास्तविक काव्य-भूमि पर कभी पहुँचता ही नहीं। यही कारण है कि प्रयोगवादी कविता में अस्पष्टता भी आ जाती है। उनकी अभिव्यक्ति को समझना भी कठिन हो गया है। भाषा के अभेद्य क्षेत्र में प्रवेश कर उन लोगों ने भाषा के ऊपरी रूप को ही सुन्दर बनाकर सँवारा।

प्रयोगवादियों का कहना है कि वे राह की खोज करते है, प्रयोग के लिये प्रयोग करते हैं, संसार को कुछ नया देना चाहते हैं। किन्तु खोज किस राह की? प्रयोग किस बात की? इसका उन्हें पता नहीं। वे कुछ नया देने के अभिलाषी जान पड़ते हैं किन्तु यह नवीनता उनकी बुद्धि की पकड़ के बाहर की वस्तु है।

डा० देवराज के अनुसार भी प्रयोगवाद नयी शैली का प्रयोग करता है। नयी शैली से अभिप्राय, अनुभव जगत् के नये पहलुओं को नयी दृष्टि से देखना, तथा उसे नये चित्रों, नयी भाषा तथा नये अलंकारों में अभिव्यक्त करना है।

प्रयोगवादियों की नवीनता की परीक्षा भी कर ली जाय। एक ही उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

मैं वैसा का वैसा रह गया सोचता पिछली बातें ;
दूज कोर से उस टुकड़े पर तिरने लगी तुम्हारी सब लज्जित तस्वीरें।
(चूड़ी का टुकड़ा, तार सप्तक)

प्रयोगवाद की असफलता केवल इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि कुछ समय पश्चात् प्रयोगवाद के नाम को सर्व प्रथम प्रयोगवादियों ने ही काटना शुरू किया। इस नाम को गलत, मायावी और भय फैलानेवाला कहना शुरू किया। वे भी कहने लगे कि 'प्रयोगवाद' नाम देना गलत है क्योंकि प्रयोग सभी काल के कवियों ने किये हैं।

गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, नरेशकुमार मेहता और धर्मवीर भारती, प्रयोगवादी कवि हैं।

आज प्रयोगवाद कितना दयनीय है और कितना असक्त ! कहा गया है—प्रयोगवाद त्रिशकु ! प्रयोगवाद नदी का द्वीप ! प्रयोगवाद साँप ।

इस काव्य की इस प्रकार से आलोचना भी हुई है :—

(१) रचनायें पूरी तरह काव्य की चोहद्दी में नहीं आतीं ।

(२) प्रयोगवादी रचनायें वैचित्र प्रिय हैं ।

(३) भयग्रस्त प्राणियों की पुकार ।

(४) कला कला के लिये सिद्धान्त का प्रचारक ।

(५) विषयवस्तु निरर्थक और निरुद्देश्य । जैसे—
घिर गया नभ, उमर आये मेघ काले ।
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा ॥

(१) मानव जीवन की उपेक्षा के प्रति आन्तरिक असन्तोष का भाव ।

(२) भावातिरेक तथा काल्पनिकता के स्थान पर मनोविश्लेषण तथा बुद्धिवादिता की प्रधानता ।

(३) नये प्रतीकों की योजना,

(४) ध्वनि साम्य,

(५) वैयक्तिक भाव-भूमि,

(६) इन्द्रीय विलास,

(७) साम्यवादी स्वरूप की सृष्टि—

(८) कला कला के लिये आदर्श की मान्यता,

(९) नवीन राहों का अन्वेषण,

(१०) अवचेतन और अचेतन मन की अनैतिक और असामाजिक अन्य मूर्तियों को भी साहित्य के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास ।

(११) रूप के प्रति मोह

(१२) दमित वासना के उभरे हुए चित्र ।

एक तीक्ष्ण अपाङ्ग से कविता उत्पन्न हो जाती है,
एक चुम्बन में प्रणय फलीभूत हो जाता है।

* * * *

फूल लाया हूँ कमल के,
क्या करूँ इनका ?
पसारो आप आँचल,
छोड़ दूँ,
हो जाय जी हलका ।

इस प्रकार की अस्वस्थ कविता और आगे बढ़ गई है और उसका नाम प्रयोगवाद न रहकर 'नयी कविता' हो गया है। इस नयी कविता में वेही कलाकार हैं जो प्रयोगवाद के हैं।

प्रयोगवाद और नयी कविता के अतिरिक्त स्वस्थ भावनाओं का चित्रण करने वाली कविताएँ भी इधर प्रकाशित हुईं। कुछ कवि इधर भी परम्परा के अनुसार काव्य लिखकर उनकी रसात्मकता की रक्षा कर रहे हैं। ऐसे कवियों में बच्चन, नीरज, हंसकुमार तिवारी, सोमदत्ती, सुमन, आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

आज कविता के क्षेत्र में नये-नये विषय और विचार भी आ रहे हैं। भाव और शैली दोनों दृष्टियों से कुछ कविताएँ आगे बढ़ रही हैं। विषय की विविधता को देखकर कहा जा सकता है कि कविता का भविष्य मङ्गलमय है।

पद्य का विकास (सारांश)

आधुनिक पद्य-साहित्य का प्रारम्भ सन् १८५७ के पश्चात् माना जाता है; सन् १८५७ के गदर ने आधुनिक पद्य-साहित्य को काफी प्रभावित किया। इस गदर से प्रभावित होकर कुछ कवियों ने अपने विचारों को व्यक्त करना प्रारम्भ किया। इस युग के सर्वप्रथम कवि भारतेन्दु को ही माना जाता है। इस कवि ने इस युग के सम्पूर्ण साहित्य को ही प्रभावित कर दिया। अपने विचारों से इसने एक कवि समूह को ही प्रेरित किया। इस कवि या साहित्य-समूह को भारतेन्दु मण्डल कहते हैं। भारतेन्दु के नाटक पद्य के विकास में काफी योग देते हैं। इनके—भारत दुर्दशा, अन्धेर नगरी, नील देवी आदि नाटकों में पद्य का प्रारम्भिक रूप देखा जाता है। इस युग के काव्य की विशेषताएँ निम्न-लिखित हैं—

(१) जीवन से सम्बन्धित रचनाएँ।
(२) राष्ट्रीयता का प्रचार।
(३) सामाजिक प्रगति का सिद्धान्त।
(४) धार्मिक रूढ़ियों का वर्णन।
(५) देश की दुर्दशा का व्यंगात्मक ढंग से वर्णन।
(६) ब्रजभाषा का प्रयोग।
(७) कहीं कहीं खड़ी बोली के शब्दों का भी प्रयोग।

इस युग के अन्य कवियों में बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी, आदि कवि आते हैं।

द्विवेदी युग अपने सुधारवादी दृष्टिकोण के लिये प्रसिद्ध है। भारतेन्दु युग में भाषा का विकास नहीं हो सका। इस युग की भाषा भी व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध थी। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से भाषा का प्रचार आरम्भ किया। इन्होंने खड़ी बोली को कविता की भाषा के रूप में स्वीकार किया और दूसरों से कराया भी। इनकी कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होती रहीं। इस युग के अन्य कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध जी, नाथूराम शंकर शर्मा, राय देवीप्रसाद पूर्ण, रामनरेश त्रिपाठी आदि प्रमुख हैं। 'साकेत, यशोधरा, 'चोखे चौपदे', आदि इस युग के प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। इस युग की कविता की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) राष्ट्रीयता का प्रचार
(२) राम और कृष्ण आदर्श मानव के रूप में चित्रित।
(३) सामाजिक आदर्शों का चित्रण
(४) यथार्थवादी शैली
(५) प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन
(६) नारी का उत्थान
(७) उपदेशात्मक प्रवृत्ति
(८) खड़ी बोली का प्रचार, प्रसार और सुधार।

द्विवेदी युग के पश्चात् कविता में एक ही साथ छायावाद, रहस्यवाद और राष्ट्रीय धारा की कविताएँ हुईं। छायावाद के कवियों ने व्यक्तिगत प्रेम के भावों को नाना प्रकार की नवीन शैलियों में व्यक्त किया। दुःख की अधिकता, कल्पनाप्रियता, संगीत की प्रधानता, सौन्दर्य का चित्रण, चित्र और रूप चित्रण, लाक्षणिक शैली, मुक्त छन्द, आदि इस छायावादी धारा की कुछ मूल विशेषताएँ हैं। ये सारी विशेषताएँ प्रकृति के माध्यम से व्यक्त हुईं। प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी छायावाद के समर्थक हैं। कामायनी, युगान्त, लहर की कुछ कविताएँ, आदि इस युग के काव्य है। रहस्यवाद के अन्तर्गत ईश्वर के प्रति जिज्ञासा, उसके लिये व्याकुलता, उससे मिलने की उत्कण्ठा, ब्रह्म को सर्वत्र देखना, विश्व पर उसकी छाया देखना, उसके कार्यों पर आश्चर्यचकित होना अव्यक्त शैली आदि रहस्यवाद की विशेषताएँ हैं। छायावादी कवियों की रचनाओं में रहस्यवाद का भी चित्रण हुआ है।

राष्ट्रीय धारा के कवियों ने देश दशा तथा उसे स्वतन्त्र करने के लिये लड़ने वाले सिपाहियों एवं नेताओं का वर्णन किया। स्वयंसेवकों और नेताओं के प्रति श्रद्धा व्यक्त की गई और अलौकिक आनन्द की ओर अग्रसर होने की शिक्षा दी गई। श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन, स्नेही, माखनलालजी, सुभद्राकुमारी चौहान,

. इस प्रकार की अस्वस्थ कविता और आगे बढ़ गई है और उसका नाम प्रयोगवाद न रहकर 'नयी कविता' हो गया है। इस नयी कविता में वेही कलाकार हैं जो प्रयोगवाद के हैं।

प्रयोगवाद और नयी कविता के अतिरिक्त स्वस्थ भावनाओं का चित्रण करने वाली कविताएँ भी इधर प्रकाशित हुईं। कुछ कवि इधर भी परम्परा के अनुसार काव्य लिखकर उनकी रसात्मकता की रक्षा कर रहे हैं। ऐसे कवियों में बच्चन, नीरज, हंसकुमार तिवारी, होमवती, सुमन, आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

आज कविता के क्षेत्र में नये-नये विषय और विचार भी आ रहे हैं। भाव और शैली दोनों दृष्टियों से कुछ कविताएँ आगे बढ़ रही हैं। विषय की विविधता को देखकर कहा जा सकता है कि कविता का भविष्य मङ्गलमय है।

पद्य का विकास (सारांश)

आधुनिक पद्य-साहित्य का प्रारम्भ सन् १८५७ के पश्चात् माना जाता है; सन् १८५७ के गदर ने आधुनिक पद्य-साहित्य को काफी प्रभावित किया। इस गदर से प्रभावित होकर कुछ कवियों ने अपने विचारों को व्यक्त करना प्रारम्भ किया। इस युग के सर्वप्रथम कवि भारतेन्दु को ही माना जाता है। इस कवि ने इस युग के सम्पूर्ण साहित्य को ही प्रभावित कर दिया।, अपने विचारों से इसने एक कवि समूह को ही प्रेरित किया। इस कवि या साहित्य-समूह को भारतेन्दु मण्डल कहते हैं। भारतेन्दु के नाटक पद्य के विकास में काफी योग देते हैं। इनके—भारत दुर्दशा, अन्धेर नगरी, नील देवी आदि नाटकों में पद्य का प्रारम्भिक रूप देखा जाता है। इस युग के काव्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) जीवन से सम्बन्धित रचनाएँ।
(२) राष्ट्रीयता का प्रचार।
(३) सामाजिक प्रगति का सिद्धान्त।
(४) धार्मिक रूढ़ियों का वर्णन।
(५) देश की दुर्दशा का व्यंगात्मक ढंग से वर्णन।
(६) ब्रजभाषा का प्रयोग।
(७) कहीं-कहीं खड़ी बोली के शब्दों का भी प्रयोग।

इस युग के अन्य कवियों में बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी, आदि कवि आते हैं।

द्विवेदी युग अपने सुधारवादी दृष्टिकोण के लिये प्रसिद्ध है। भारतेन्दु युग में भाषा का विकास नहीं हो सका। इस युग की भाषा भी व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध थी। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से भाषा का प्रचार आरम्भ किया। इन्होंने खड़ी बोली को कविता की भाषा के रूप में स्वीकार किया और दूसरों से कराया भी। इनकी कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होती रहीं। इस युग के अन्य कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध जी, नाथूराम शंकर शर्मा, राय देवीप्रसाद पूर्ण, रामनरेश त्रिपाठी आदि प्रमुख हैं। 'साकेत, यशोधरा, 'चोखे चौपदे', आदि इस युग के प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। इस युग की कविता की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) राष्ट्रीयता का प्रचार
(२) राम और कृष्ण आदर्श मानव के रूप में चित्रित।
(३) सामाजिक आदर्शों का चित्रण
(४) यथार्थवादी शैली
(५) प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन
(६) नारी का उत्थान
(७) उपदेशात्मक प्रवृत्ति
(८) खड़ी बोली का प्रचार, प्रसार और सुधार।

द्विवेदी युग के पश्चात् कविता में एक ही साथ छायावाद, रहस्यवाद और राष्ट्रीय धारा की कविताएँ हुई। छायावाद के कवियों ने व्यक्तिगत प्रेम के भावों को नाना प्रकार की नवीन शैलियों में व्यक्त किया। दुःख की अधिकता, कल्पनाप्रियता, संगीत की प्रधानता, सौन्दर्य का चित्रण, चित्र और रूप चित्रण, लाक्षणिक शैली, मुक्त छन्द, आदि इस छायावादी धारा की कुछ मूल विशेषताएँ हैं। ये सारी विशेषताएँ प्रकृति के माध्यम से व्यक्त हुई। प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी छायावाद के समर्थक हैं। कामायनी, युगान्त, लहर की कुछ कविताएँ, आदि इस युग के काव्य हैं। रहस्यवाद के अन्तर्गत ईश्वर के प्रति जिज्ञासा, उसके लिये व्याकुलता, उससे मिलने की उत्कण्ठा, ब्रह्म को सर्वत्र देखना, विश्व पर उसकी छाया देखना, उसके कार्यों पर आश्चर्यचकित होना अव्यक्त शैली आदि रहस्यवाद की विशेषताएँ हैं। छायावादी कवियों की रचनाओं में रहस्यवाद का भी चित्रण हुआ है।

राष्ट्रीय धारा के कवियों ने देश दशा तथा उसे स्वतन्त्र करने के लिये लड़ने वाले सिपाहियों एवं नेताओं का वर्णन किया। स्वदेश और नेताओं के प्रति श्रद्धा व्यक्त की गई और अलौकिक आनन्द की ओर अग्रसर होने की शिक्षा दी गई। श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन, स्नेही, माखनलालजी, सुभद्राकुमारी चौहान,

दिनकर, प्रसाद आदि राष्ट्रीय धारा के कवि हैं। झाँसी की रानी, मातृभूमि, तिलक, हिमालय आदि कविताएँ राष्ट्रीय कविताएँ हैं।

उपर्युक्त धाराओं के पश्चात् प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविताओं का युग आता है। प्रगतिवाद में मार्क्सवादी सिद्धान्त व्यक्त हुए। प्रयोगवाद की नवीनशैली में स्वच्छन्द कविताएँ लिखी गईं। इसके कवियों ने परम्परा का विरोधकर रसहीन, छन्दहीन कविताएँ लिखीं। इनके गद्यकाव्य से किसी के हृदय पर स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। प्रगतिवाद में नीरज, दिनकर आदि की कुछ रचनाएँ आ सकती हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् सभी भावों पर कविताएँ होने लगीं। आज नये कवि अपने असन्तोष के विचारों को काव्य के बहाने हमारे सामने रख रहे हैं। विषय को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कविता अन्धकार पूर्ण नहीं है।

परिशिष्ट (साहित्य और साहित्यकार)

रामचन्द्रिका—यह केशवदास की प्रसिद्ध कृति है। इसका रचनाकाल सन् १६०१ ई० है। यह ग्रन्थ ३९ प्रकाशों में कथासूची सहित १७१७ छन्दों में पूरा हुआ है। रामचन्द्रिका में केशव शृंगार-रस से वीर-रस की ओर मुड़े हैं। इसमें उपदेश और नीतिकथन अधिक है। इसमें संस्कृत ग्रन्थों की छाया है। इसका रहस्यवाद योजना सफल है। लवकुश की कथा में केशव ने अपनी विद्वत्ता दिखलाई है।

रामचन्द्रिका को रामकाव्य में श्रेष्ठ काव्य माना गया है। केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में राम की समस्तकथा 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर कही है, यद्यपि अनेक स्थलों पर संस्कृत के अन्य ग्रन्थों का भी प्रभाव दीख पड़ता है। इसके प्रारम्भ में ही दशरथ का परिचय देकर और रामादि चार भाइयों के नाम गिनाकर विश्वामित्र के आने का वर्णन कर दिया गया है। ताड़का और सुबाहु-वध आदि का वर्णन संकेत रूप में ही है। जनकपुर के धनुषयज्ञ का वर्णन सांगोपाङ्ग है। इनके अतिरिक्त ऋतु वर्णन और नखशिख आदि का सविस्तार वर्णन हुआ है। इसके युद्ध वर्णन 'मानस' से अधिक प्रभावपूर्ण हैं।

शैली की दृष्टि से देखा जाय तो यह ज्ञात होगा कि इसमें विविध प्रकार के छन्दों का उदाहरण प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति है।

रामचन्द्रिका की भाषा संस्कृत रंजित ब्रज है। संस्कृत शब्दों के प्रयोग तथा अलंकार के चमत्कार के चक्कर में पड़ने के कारण रचना कठिन हो गई है। यह रचना आ० केशव की प्रतिभा तथा उनके आचार्यत्व को निस्सन्देह सिद्ध करती है। जो कुछ भी हो इसका हिन्दी साहित्य में काफी महत्त्व है।

सूरसागर :—

सूरदास की सर्वमान्य प्रामाणिक कृति 'सूरसागर' ही है, परन्तु यह खेद का विषय है कि 'सूरसागर' का अभी प्रामाणिक संस्करण नहीं मिल सका है। यह १२ स्कन्धों का ग्रन्थ है।

'सूरसागर' नाम से सूचित होता है कि यह सूर की सम्पूर्ण रचना का संकलन है। इस पर 'श्रीमद्भागवत' का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है, पर इसे 'भागवत' का अनुवाद नहीं कहा जा सकता। इस ग्रन्थ का मुख्य विषय श्रीकृष्ण की लीला का गान है। यह गायन श्रीकृष्ण के जन्म से प्रारम्भ होकर उनके ब्रजवास की विविध क्रीड़ाओं का वर्णन करते हुए उनके मथुरा-गमन तथा द्वारका—

मथुरा और फिर कुरुक्षेत्र में ब्रजवासियों से भेंट करने तक की समस्त घटनाओं का वर्णन करता है। इस ग्रन्थ के प्रमुख तीन खंड हैं। एक खंड में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है, दूसरे में विनय के पद हैं और तीसरे में रामकथा सम्बन्धी-पद हैं।

सूरसागर के पद सूरदास की व्यक्तिगत भक्ति-भावना को व्यक्त करते हैं। इन पदों में भक्ति की अनिवार्यता प्रामाणित की गयी है। मन को भक्ति में लीन रहने के लिए इसमें उत्साहित किया गया है। संत जन की महिमा और भगवान के विरोधियों की निन्दा इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र व्यक्त हुई है। इसके पदों के आधार पर मध्यम श्रेणी के लोगों का जीवन स्पष्ट वर्णित है।

इस ग्रन्थ की शैली पद-शैली है। संगीत तत्व से इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। इसमें भावों का सुन्दर संकलन भी हुआ है। नम्रता एवं शिष्टता से यह ग्रन्थ और भी अच्छा और समाज-उपयोगी बन गया है।

इस काव्य-ग्रन्थ की भाषा प्रौढ़ है। इसमें तत्सम, तद्भव शब्दों की अधिकता है। अलंकारों का प्रयोग भावों को स्पष्ट करने के लिये किया गया है। सरल ब्रजभाषा विनय के पदों में दर्शनीय है। अन्य पदों में ब्रजभाषा तत्सम और तद्भव शब्दों के कारण कठिन हो गई है।

फल-प्रस्ताव, माखन-चोरी, ग्रीष्मलीला, बल-क्रीड़ा, मैनय समय, अनुराग समय आदि प्रसंग कृष्ण से सम्बन्धित हैं। राजतन्त्र, बाल-केलि, केवट प्रसंग, सीता की अग्नि-परीक्षा आदि प्रसंग राम के जीवन से जुड़े हैं।

गबन —(१६३० ई०) यह प्रेमचन्द जी का प्रसिद्ध उपन्यास माना जाता है। इसमें मध्यवर्गीय जीवन और मनोवृत्ति का जितना सफल चित्रण प्रेमचन्द जी ने किया है उतना उनके साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। यह उपन्यास कला की दृष्टि से भी सफल रचना है।

जालपा को बचपन से ही आभूषणों की लालसा लग गई थी। उसका विवाह रमानाथ से हुआ। विवाह के समय भी उसे चन्द्रहार नहीं मिला। ससुराल जाने पर जालपा को चन्द्रहार की प्रबल इच्छा हुई। घर की कठिनाई के कारण उसके अन्य गहने भी रमानाथ ने चुपके से पिताजी को दे दिये। बाद में यह बहाना बनाया गया कि गहने चुरा लिये गये। रमानाथ को बड़ी ग्लानि हुई। उन्हें किसी प्रकार चुंगी के दफ्तर में तीस रुपये मासिक वेतन पर नौकरी मिल गई। अब अमरनाथ में जालपा के लिए गहने बनवाने का हौसला होता है। किसी प्रकार कर्ज लेकर यह हौसला पूरा होता है। इन्दुभूषण वकील की पत्नी रतन को जालपा के कंगन बड़े अच्छे लगते हैं। वह वैसे ही कंगन लाने के लिए रमानाथ को ६०० रुपये देती है। रमानाथ इन रुपयों को कर्ज खाते में जमा कर देता

है और रमानाथ को कंगन देने से इनकार कर देता है। रतना के रुपये लौटाने के लिये रमानाथ चुंगी के रुपये ही घर लाता है। उसकी अनुपस्थिति में जालपा रतना को वे रुपये दे देती है। घर आने पर रमानाथ को बड़ी चिन्ता हुई। अब सारी परिस्थिति को स्पष्ट करते हुए रमानाथ ने अपनी पत्नी के नाम एक पत्र लिखा। वे घर से भाग जाते हैं। जालपा अपने गहने बेंच कर चुंगी के रुपये लौटाती है।

रमानाथ कलकत्ते में पुलिस के चक्र में फँस जाता है। जालपा शतरंज सम्बन्धी विज्ञापन निकाल कर रमानाथ का पता लगा लेती है। उस विज्ञापन का उत्तर रमानाथ ही दे सकता था, यह जालपा को मालूम था। कलकत्ते आकर जालपा ने रतना की सहायता से रमानाथ को पुलिस के अभियोग से बचाया। रमानाथ, जालपा वापस आकर प्रयाग के समीप रहने लगे।

जालपा के कारण रमानाथ में आत्म-सम्मान फिर से आ गया। रमानाथ और जालपा सेवा-मार्ग का अनुसरण करते हैं।

साकेत :—

साकेत श्री मैथिलीशरण गुप्त जी का महाकाव्य है। इसकी रचना की प्रेरणा उपेक्षिता उर्मिला के चरित्र से मिली, जिसकी ओर उनकी काव्य गुरु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जागरूक किया। यह काव्य उनकी दीर्घकालीन साधना का परिणाम है, अतः इसके गठन और इसकी भावाभिव्यक्ति में प्रौढ़ता मिलती है। साकेत की कहानी भारत की पुरानी कहानी है। इसको लेकर अनेक पूर्ववर्ती कवियों ने काव्य की रचना की। गुप्त जी ने इस कहानी को नया रूप प्रदान करके 'साकेत' की सृष्टि की। इसी कहानी में गुप्त जी की अनेक मौलिक उद्भावनाएँ विकसित हुई हैं। परम्परा से प्राप्त राम और सीता की कहानी 'साकेत' में आकर मुख्यतः उर्मिला की कहानी बन गई है और इसी रूप में उसका विकास हुआ, यों पृष्ठिभूमि राम-कथा की ही है।

गुप्त ने पूर्व प्रचलित राम-कथा को अपने समग्र रूप में नहीं लिया है, अपितु कुछ मार्मिक स्थलों की अन्विति ही 'साकेत' में मिलती है। साकेत में दो प्रकार की कथाएँ हैं—(१) प्रधान (२) प्रासंगिक। उल्लेखनीय है कि प्रधान कथा उर्मिला से सम्बन्धित है जो दृश्य रूप में उपस्थित की गई है। इन कथाओं को कहने वाले हैं—उर्मिला, शत्रुघ्न, हनुमान और वशिष्ठ हैं। सचमुच स्थान की एकता का इतना सफल निर्वाह हिन्दी-काव्य में प्रथम बार हुआ। प्रबन्ध-योजना की दृष्टि से गुप्तजी की यह मौलिक उद्भावना है।

'साकेत' में भारतीय सांस्कृतिक आधार को अपनाया गया है, जो व्यापक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित है।

साकेत के तीन मुख्य चरित्र राम, भरत और उर्मिला आदर्श पात्र हैं। त्याग ही उनका जीवन है। यह त्याग वैराग्यमय या विरोधात्मक नहीं है, अपितु रागमय है। साकेत में राम कहते हैं—

"सन्देश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

कामायनी :—

'कामायनी' श्री जयशंकर प्रसाद का प्रसिद्ध महाकाव्य है। इसमें अतीत के माध्यम से नवीन युग का संदेश दिया गया है। इसमें इतिहास के आधार पर अतीत का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है जो कल्पना के वैभव से निखर गया है। अतीत, वर्तमान और भविष्य के चित्रांकन का सजीव रूप यहाँ मिलता है। यह 'रामचरित मानस' की भाँति कथा काव्य नहीं है, अपितु अन्तर्मन की निगूढ़ भावनाओं को चित्रित करने वाला काव्य है। छायावादी शैली में लिखित कामायनी अपने ढंग का अनूठा महाकाव्य है। उसमें मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावों का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसमें मनु और श्रद्धा की कथा है। इसके साथ ही मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामजस्य स्थापित करने का कलात्मक प्रयत्न है। मानव प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक वाले इस काव्य में आध्यात्मिक और व्यावहारिक तथ्यों में सन्तुलन स्थापित किया गया है। प्रसाद जी ने इस अमर काव्य में शरीर, मन और आत्मा, कर्म, भावना और बुद्धि, क्षर, अक्षर और उत्तम तत्वों को एकत्र कर दिया है।

इस काव्य में पात्रों का चित्रांकन व्यापक धरातल पर हुआ है। इसके मनु समग्र मानव-जीवन के प्रतीक हैं। श्रद्धा के रूप में भारतीय नारी और इड़ा के रूप में आधुनिक वैज्ञानिक युग की नारी चित्रित हुई है। मनु, श्रद्धा और इड़ा के द्वारा मानवीय प्रकृति के प्रतीकात्मक चित्र भी प्रस्तुत किये गये हैं। अतः इसमें ऐतिहासिकता के साथ साथ प्रतीकात्मक योजना भी प्रस्तुत की गई है। अतः इसमें ऐतिहासिकता के साथ साथ प्रतीकात्मक योजना भी प्रस्तुत की गई है।

काव्य का नायक मनु प्रलय के उपरान्त, अतीत की दुःखद स्थिति और भावों के नवनिर्माण की चिन्ता करता है। आत्मचेतन के उपरान्त आशा ही मनुष्य को आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करती है। यह विकासोन्मुख वृत्ति मनुष्य को सुखमय बनाती है, इसलिये यह कामायनी का दूसरा सर्ग बनकर आयी है। तदनन्तर श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या आदि भावनाओं को पार करता हुआ मन (मनु) अन्त में आनन्द को प्राप्त होता है। ये सभी सर्ग किसी न किसी

मानसिक स्थिति का चित्रांकन करते हैं। इस प्रकार कामायनी वृत्तियों का इतिहास भी है।

'कामायनी' में प्रेम और यौवन के अनेक मादक चित्र मिलते हैं। सौन्दर्य का सूक्ष्म और मौलिक अंकन भी कामायनी की विशेषता है। एक सौन्दर्य चित्र लीजिये—

> "नील परिधान बीच सुकुमार,
> खुल रहा मृदुल अधखिला अंग।
> खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
> मेघ घन बीच गुलाबी रंग॥

इस प्रकार कामायनी भाव-पक्ष और कला पक्ष, विचार और अनुभूति, आचरण और मनोविज्ञान का अनूठा काव्य है।

प्रियप्रवास :–

प्रियप्रवास श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा लिखित एक प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य है। हरिऔध जी का दावा है कि उनका 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है। 'प्रियप्रवास' का नामकरण इसकी कथावस्तु के अनुसार सार्थक है। इसमें घटनाओं की अधिकता और वस्तु व्यापार की बहुलता नहीं है। इसमें कहानी कम और भावव्यंजना अधिक है। इसका लघु कलेवर महाकाव्य के उपयुक्त नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे महाकाव्य नहीं स्वीकार कर सके।

प्रियप्रवास में श्री कृष्ण और राधा दोनों नवीन रूपों में प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें वे केवल प्रेमी प्रेमिका नहीं हैं, वैयक्तिक अनुभूतियों तक सीमित नहीं हैं, अपितु लोकोपकारी और सामाजिक चेतना से युक्त हैं। श्री कृष्ण वीर, परसेवी अन्याय का दमन करके न्याय की स्थापना करने वाले, साहसी, नीतिज्ञ और प्रेमी आदि रूपों में दिखाई पड़ते हैं। 'प्रियप्रवास' के कृष्ण अलौकिक देवता नहीं हैं। इनमें महान् आदर्श की प्रतिष्ठा अवश्य है। 'प्रियप्रवास' के युग की सामूहिक प्रवृत्ति, आर्य समाज के प्रभाव सहित इस काव्य में मुखरित हुई है। श्री कृष्ण के विषय में अत्यन्त प्रसिद्ध एक कथा है कि कृष्ण ने ब्रजवासियों की रक्षा के लिये गोवर्धन पर्वत को अपनी उँगली पर उठा लिया था। इस कथा को आधुनिक रूप हरिऔध ने इस प्रकार दिया है :

> लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में,
> ब्रज धराधिप के उस पुत्र का।
> सकल लोग लगे कहने उसे,
> रख लिया उँगली पर श्याम ने॥

' प्रियप्रवास के कथानक की केन्द्रीय भावना को दृष्टि में रखते हुए, यह कहना होगा कि इसमें विप्रलम्भ शृङ्गार की विशेषता है, तथापि अन्य रस भी विविध बेल बूटे की नाईं सुन्दर रूप से यथायोग्य समाविष्ट होकर इसके काव्यत्व को मनोहर और अभिराम बनाने में सहायक हुए हैं।

रानी केतकी की कहानी :—यह कहानी इंशाअल्ला खाँ द्वारा सन् १८०८ के बीच लिखी गई। इसका दूसरा नाम 'उदयभानचरित' भी है। रानी केतकी की कहानी का सारांश इस प्रकार है—

सूरजभान एक राजा था और लक्ष्मीवास उसकी रानी। उसके एक बेटा था जिसे सब लोग कुंवर उदयभान कहते थे। एक दिन घूमते घूमते रानी केतकी नामक एक सुन्दरी रमणी से उसकी भेंट हुई। उदयभान भी उनसे प्रभावित हुआ। रानी केतकी की एक सखी मदनबान ने दोनों का गठबन्धन करा दिया। दोनों ने अपनी-अपनी अंगूठियाँ-हेर फेर कीं। पिछले पहर रानी अपनी सहेलियों के साथ जिधर से आई थी चली गई और उदयभान अपने घर पहुंचा।

घर आने पर कुँवर बहुत उदास रहने लगा। उदयभान के माता पिता ने खिन्नता का कारण पूछा तो उसने सब कुछ बतला दिया। उसके पिता ने उसकी इच्छा पूर्ण करने की प्रतीक्षा की और उसके पिता के यहाँ सन्देश भेजा। रानी के पिता ने विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। दोनों राजाओं में संघर्ष हुआ।

अन्त में रानी केतकी ने एक भभूत ले ली और उसे लगाकर अदृश्य हो कुँवर के पास चली गई। रानी का पिता बहुत चिन्तित हुआ। गुरु की सहायता से उसकी चिन्ता दूर हुई और दोनों का विवाह हुआ।

इंशा ने सर्वप्रथम खड़ी बोली गद्य साहित्य में लौकिक शृङ्गारमय प्रेमाख्यान की सृष्टि की। इसकी भाषा में हिन्दी छूट और किसी बोली का पुट न हो' की प्रतिज्ञा का पालन नहीं हो पाया है। भाषा और विषय दोनों दृष्टियों से इस कहानी का खड़ी बोली गद्य में महत्व है।

राधावल्लभी सम्प्रदाय

राधावल्लभी सम्प्रदाय के संस्थापक हित हरिवंश जी थे। यह सम्प्रदाय माध्व सम्प्रदाय से कुछ भिन्न है। इसमें साधना की दृष्टि से माध्व सम्प्रदाय से कुछ नवीनता है। निम्बार्क मत का भी इस मत पर प्रभाव पड़ा था।

नाभादास जी ने हित हरिवंश तथा राधावल्लभी सम्प्रदाय के विषय में यह छप्पय लिखा है—

> श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानि है।
> श्री राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी ॥

इससे स्पष्ट होता है कि हितहरिवंश जी द्वारा सस्थापित इस मत में राधा जी को प्रमुखता दी जाती है। इनका कथन है कि कृष्ण राधा-रानी के दास हैं। राधा की उपासना से कृष्ण का प्रसाद प्राप्त किया जा सकता है।

ऐसा कहा जाता है कि हितहरिवंश जी को स्वप्न में राधिका जी ने मन्त्र दिया और उन्होंने अपना एक अलग राधावल्लभी सम्प्रदाय चलाया। गोस्वामी हरिवंश जी ने संवत् १५८२ में श्री राधावल्लभ जी का मन्दिर वृन्दावन में स्थापित किया और वहीं विरक्त भाव से रहने लगे।

जिस प्रकार कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने कृष्ण को प्रधान मानकर राधा की भी उपासना की, उसी प्रकार राधावल्लभी सम्प्रदाय के कवियों ने राधा को प्रमुख माना और कृष्ण को राधा तक पहुँचने का एक माध्यम माना है।

हितहरिवंश जी ने अपने सिद्धांत सम्बन्धी जो फुटकल पद लिखे उनसे इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में काफी प्रकाश पड़ता है। एक उदाहरण से इस मत की विशेषतायें समझी जा सकती हैं—

रहो कोउ काहू मनहि दिए।
मेरे प्राणनाथ श्री स्यामा सपथ करौ तिन छिए॥

× × × ×

ब्रज नव तरुनि कदव मुकुटमनि स्यामा आजु बनी।
नख सिख लौं अग अग माधुरी मोहे स्याम धनी॥

इन पदों से स्पष्ट होता है कि इस सम्प्रदाय की आराधिका राधा जी ही हैं। इस सम्प्रदाय को ही सखी सम्प्रदाय भी कहते हैं; क्योंकि इसमें सखी भाव की प्रधानता पायी जाती है।

पुष्टि मार्ग और अष्टछाप :

पुष्टिमार्ग वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित एक प्रसिद्ध सम्प्रदाय है। यह मार्ग भगवान श्री कृष्ण के अनुग्रह पर आधारित है। इस मत के अनुसार जिस भक्ति से कृष्ण की अनुभूति होती है वह स्वय कृष्ण के अनुग्रह स्वरूप है। इसी अनुग्रह का नाम 'पुष्टि' है। श्री कृष्ण ही परब्रह्म है। ये सभी दिव्य गुणों से सम्पन्न होकर 'पुरुषोत्तम' की उपाधि प्राप्त करते हैं। यह रूप आनन्द का अक्षय कोष है। इस रूप की सभी लीलाएँ नित्य हैं। इसी नित्य लीला में जीव का प्रवेश पाना ही मुक्ति या उत्तम गति है।

सूर वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए थे। इस मार्ग का निश्चित आधार माधुर्य भाव की उपासना है। इस मार्ग में कृष्ण के लोकरक्षक रूप की

उपेक्षा कर केवल उनके बाल और किशोर रूप की मधुर उपासना पर बल दिया जाता है। इस सम्प्रदाय में दीक्षित कवि केवल भगवद् लीला का वर्णन करते थे। स्वयं बल्लभाचार्य ने उसी को पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया जिसने कृष्ण और गोपियों की प्रेम-लीला के गायन की प्रतिज्ञा की।

कृष्ण की व्रजलीला शाश्वत है। वृन्दावन गोलोक का प्रतीक है, जहाँ सदैव आनन्दमय रास होता रहता है। कृष्ण ब्रह्म हैं, राधा उनकी शक्ति और गोपिकाएँ, आत्माएँ हैं। प्रत्येक भक्त अपने को इस लीला का अंश समझता है। इनके कृष्ण प्रतिदिन उठने, कलेवा करते, गाय चराते, घर लौटते और शयन करते हैं।

पुष्टि मार्ग पर चलने वाले कवियों को अष्टछाप के अन्तर्गत रखा गया। सूरदास जी अष्टछाप के कवियों में सर्वश्रेष्ठ थे। अष्टछाप के कवियों में (१) सूरदास (२) कृष्णदास, परमानन्द दास, (४) कुम्भन दास, (५) छीत स्वामी, (६) नन्द दास, (७) चतुर्भुज दास और (८) गोविन्द स्वामी के नाम लिये जाते हैं। इनमें से भक्त सूरदास और नन्ददास अधिक प्रसिद्ध हैं। इन सभी कवियों ने पुष्टिमार्ग पर चलकर कृष्ण की उपासना की।

पुष्टि चार प्रकार की बतलाई गई है—प्रवाहपुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि-पुष्टि और शुद्ध-पुष्टि। प्रवाह पुष्टि में साधक सांसारिक प्राणी के रूप में कृष्ण की भक्ति करता है। दूसरी अवस्था में अर्थात् मर्यादापुष्टि में वह संसार के सुखों को छोड़कर कृष्ण के गुणगान में लीन हो जाता है। तीसरी अवस्था अर्थात् पुष्टि-पुष्टि में भक्त कृष्ण-भक्ति में अपने को लीन कर देता है। चौथी अवस्था अर्थात शुद्ध पुष्टि में साधक अपने को कृष्ण में लीन कर देता है और अपनत्व को सर्वथा भूल जाता है।

इस प्रकार कृष्ण, कवियों ने पुष्टि मार्ग पर चलकर कृष्ण-भक्ति का प्रसार किया।

अज्ञेय :—अज्ञेय जी का जन्म सम्वत् १९६८ में हुआ था। ये आधुनिक प्रयोगवादी काव्यकारों के जन्मदाता हैं। ये आलोचना, उपन्यास तथा कहानी में भी प्रमुख स्थान रखते हैं। इनकी कवितायें मुख्यतः प्रयोगवाद की धाराओं को पुष्ट करती हैं। चित्रात्मकता, कलात्मकता, बौधिकता, मानसिक कुण्ठा आदि के भाव इनके साहित्य में सर्वत्र देखे जाते हैं। इनकी प्रतिभा बहुमुखी है। ये पत्रकार, आलोचक, निबन्ध लेखक, कवि, कहानीकार आदि सब कुछ हैं। हिन्दी जगत् में महत्व देने में इनका उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' बहुत सफल है। इसमें नैतिक तथा सामाजिकउत्थान के दर्शन होते हैं। शेखर आधुनिक जीवन की मौलिक समस्या का श्रेष्ठ और यथार्थ चित्र है। इनके उपन्यासों में नदी का द्वीप,

एक चरित्र प्रधान उपन्यास है। इनके कहानी संग्रहों में विपथगा, शरणार्थी तथा परम्परा प्रसिद्ध हैं। इनके काव्य ग्रन्थों में 'चिन्ता', 'भग्न दूत', 'हरी घास पर क्षण भर' आदि प्रसिद्ध हैं। 'त्रिशंकु' में अज्ञेय जी के आलोचनात्मक निबन्ध संग्रहीत है। इनकी भाषा गम्भीर, दुरूह एवं शैली मुक्तक है। इनके कुछ गीत सचमुच उत्कृष्ट कोटि के हैं।

रामधारी सिंह 'दिनकर' :— (सं० १९६३)— ये छायावाद और प्रगतिवाद दोनों धाराओं के कूलों को छूते हुए चलते है। जीवन की वर्त्तमान दीनता और हीनता के प्रति विद्रोह की भावना से वे अब भी प्रभावित हैं। राष्ट्रियता तथा समाज-प्रेम के भाव इनके काव्य के मूलभाव हैं। अपने 'कुरुक्षेत्र' में 'शांतिकामना' की अभिलाषा व्यक्त करते हुये आपने लिखा है :—

आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से।

'हुँकार', 'द्वंद्वगीत', 'रसवन्ती', 'इतिहास के आँसू', 'रश्मिरथी', 'नीम के पत्ते', 'उर्वशी' आदि इनके प्रमुख काव्य-ग्रन्थ हैं।

भारत की गरीबी तथा पूँजीपतियों की हृदय-हीनता का इनके काव्य में बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है :—

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।

दिनकर जी हमारे सम्मुख निबंधकार के रूप में भी आते हैं। इनके आलोचनात्मक निबंध-संग्रह में 'मिट्टी की ओर' 'अर्धनारीश्वर' तथा 'रेती के फूल' प्रसिद्ध हैं। 'संस्कृति के चार अध्याय, में भारतीय संस्कृति का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

दिनकर जी की भाषा और शैली अत्यन्त प्रभावक और आकर्षक है। भाषा में शब्द सामान्यतः सरल और प्रचलित खड़ी बोली हिन्दी के हैं। इनकी शैली व्यंगात्मक और गीतप्रवाह है। ये कवि, निबंधकार और आलोचक, तीनों रूपों में प्रसिद्ध हैं।

बाबू जयशंकर प्रसाद

सन् १८८९-१९३७

प्रसाद जी हिन्दी साहित्याकाश के वह नक्षत्र हैं जिनकी प्रभा-रश्मियों से हिन्दी जगत् सर्वथा आलोकित होता रहेगा। हिन्दी जगत् को प्रसाद जी सचमुच प्रसाद रूप में प्राप्त हुए हैं। जबतक यह धरती रहेगी, जबतक ये चाँद सितारे रहेंगे तबतक रहेंगे—हिन्दी साहित्य में कवि प्रसाद जिनकी उज्ज्वल ज्योति से वीणा-वादिनी भगवती सरस्वती का पावन मन्दिर जगमगाता रहेगा।

इस कवि-कुलगौरव, वाणी के वरद पुत्र और माँ सरस्वती के अनन्य उपासक श्री जयशंकर प्रसाद जी का जन्म शिवपुरी काशी-धर्म प्रांगण में हुआ था। आपने काशी के सुप्रसिद्ध एवं सुविख्यात वैश्य परिवार में जन्म लेकर उस विख्यात कुल के गौरव में चार-चाँद लगा दिये जिससे सुंघनी साहु की कीर्ति-लता और अधिक लहलहा उठी। आपके पिता देवी प्रसाद जी ऐसे पुत्र को प्राप्त कर धन्य हो गये।

प्रसाद जी ने वाणी वन्दना के हेतु विभिन्न प्रकार के काव्य-पुष्प चढ़ाये। आप प्रमुख रूप से कवि थे। अतः इन्होंने कविताएँ अधिक लिखीं। इनके काव्य ग्रन्थों में कानन-कुसुम, झरना-लहर, आँसू और कामायनी आदि का नाम उल्लेखनीय है। 'कामायनी' छायावाद का श्रेष्ठतम् महाकाव्य है। इन्होंने नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध भी लिखे जिनमें काव्य-कला का निखरा हुआ रूप स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। इनके नाटकों में चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, विशाख स्कन्दगुप्त आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके उपन्यासों में 'कंकाल' 'तितली' और इरावती (अपूर्ण) अधिक ख्याति प्राप्त हैं। प्रसाद जी ने सत्तर कहानियाँ लिखी हैं जो 'आकाश दीप', 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' आदि संग्रहों में प्रकाशित हैं।

प्रसाद जी निबन्ध के कलाकार के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। काव्य और कला तथा अन्य 'निबन्ध' उनके निबन्ध-संग्रह हैं।

प्रसाद जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। इन्होंने साहित्य के सभी अंगों की प्रायः पुष्टि की है। क्या काव्य, क्या उपन्यास क्या कहानी और निबन्ध-रूप में कला की दृष्टि से अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है।

नाटकों की नाटकीयता, उपन्यासों और कहानियों की विलक्षणता तथा कलात्मकता देखते ही बनती है। अपने भावों और विचारों को प्रसाद ने चित्र रूप में प्रस्तुत किया है। विषय-वस्तु को प्रतिपादित करने की यह विलक्षण प्रतिभा उनमें अपने ढंग की निराली थी।

प्रसाद जी कवि रूप में विशेष महत्व रखते हैं। वे पहले कवि हैं और बाद में कहानीकार, नाटककार या उपन्यासकार। उनकी काव्य-कला विकास की दृष्टि से चरम सीमा पर पहुँच गई है। प्रसाद जी ने ब्रज और खड़ी बोली दोनों ही भाषाओं में कविताएँ लिखी हैं। इनकी भाषा संस्कृत गर्भित है, संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है फिर भी भाषा में माधुर्य गति और ओज है।

इनके काव्यों में रसों और अलंकारों की बड़ी सरस योजना है। इनकी कविता का मुख्य विषय प्रेम है जिसमें वेदना और टीस है। देखिये :—

मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीड़ा
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा।

भाषा की चित्रात्मकता देखिये :—

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक छिपकर चलते हो क्यों
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ?

शैली :—प्रसाद जी की शैली ठोस, स्पष्ट और परिष्कृत है। काव्य में इनकी शैली भावात्मक है। इनकी शैली में संगीतात्मक शैली भी प्रमुख है।

प्रसाद जी का निधन बहुत जल्दी ही हो गया। प्रौढ़ता के बिन्दु पर पहुँचकर उनकी मृत्यु हो गयी। यदि कुछ काल तक वे जीवित रहते तो उनकी और भी प्रौढ़ कृतियाँ सामने आतीं। भाषा और भाव की दृष्टि से प्रसाद जी महान कवि सिद्ध होते हैं।

निराला (सन् १८९६-१९६१)

'जागो फिर एक बार' के अमर उद्घोष से धरती के कण-कण को दहला देने वाले महा प्राण प० सूर्य कान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म योगी-राज अरविन्द, विश्वकवि रवीन्द्र और बंकिम की ही पावन भूमि बंग प्रदेश के महिषादल राज्य में हुआ था। आप के पिता प० राम सहाय जी त्रिपाठी थे। कवीन्द्र-रवीन्द्र के पड़ोसी होने के कारण आप पर बचपन से ही बंग-भाषा और काव्य का प्रभाव पड़ने लगा। आप की प्रारम्भिक शिक्षा बंगाल में ही हुई थी और बाद में इन्होंने 'रामचरित मानस' पढ़ने की तीव्र आकांक्षा से हिन्दी अपनी धर्म पत्नी से सीखी।

निराला जी के व्यक्तित्व में बचपन से ही एक कवि और साहित्यकार के गुण परिलक्षित होने लगे थे। 'होनहार बीरवान के होत चिकने पात' की कहावत निराला जी पर पूर्णरूपेण चरितार्थ हुई और उन्होंने अपने बाल्यकाल में ही अपने क्रान्तिकारी और ओजस्वी व्यक्तित्व को काव्य और जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी देना शुरू किया।

बाल्यावस्था से ही निराला जी कविता लिखने लगे थे। बंगला में भी इन्होंने कुछ कविताएँ लिखी हैं। 'जूही की कली' और 'अधिवास' इनकी हिन्दी की प्रथम रचनाएँ हैं। इनके अलावे 'आनामिका,' 'परिमल' 'गीतिका' आदि इनके सुप्रसिद्ध काव्य संग्रह हैं।

निराला जी एक सफल गद्यकार भी हैं। इन्होंने कहानी, उपन्यास और निबन्ध के क्षेत्र में भी अपनी कुशल लेखनी का चमत्कार प्रस्तुत किया है। अप्सरा

अलका, काले कारनामे, चोटी की पकड़ आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। कहानी संग्रहों में लिली, चतुरी चमार, सुकुल की बीबी आदि विशेष ख्याति प्राप्त हैं।

व्यक्तित्व के अनुकूल ही निराला जी की काव्य प्रतिभा भी निराली है। इनकी रचनाओं पर—दार्शनिकता का तो प्रभाव है ही साथ ही रहस्यात्मकता का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। निराला जी की स्वच्छन्दवादिता इनके काव्य में सोने में सुगन्धि का कार्य करती है।

निराला जी की अनुभूतियों में पूर्ण गहराई है। भाव पक्ष की सबलता अपने ढंग की निराली है। अपनी भावना को निराला जी चित्र रूप में प्रस्तुत करते हैं। इनकी भाषा भावों को वहन करने में पूर्ण सक्षम है। भाषा भावानुकूल है। इनकी भाषा शुद्ध और परिमार्जित खड़ी बोली है जिस पर बंगला की कोमलता का भी प्रभाव है। आपकी भाषा में कहीं-कहीं उर्दू, फारसी एवं विदेशी शब्दों का भी प्रयोग है, जिससे भावाभिव्यक्ति में सजीवता आ गयी है।

छंदों के क्षेत्र में मुक्त छंद के प्रवर्तक निराला जी ही माने जाते हैं। इनके छन्द अधिकांशतः गेय हैं, अलंकार-योजना बड़ी ही सटीक है। शृंगार और वीर रस की धारा इनके काव्यों में बड़े ही प्रबल रूप में प्रवाहित होती है। इनकी भाषा एवं शृंगार रस का रूप देखिये—

विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी,
स्नेह स्वप्न मग्न अमल-कोमल तनु तरुणी—
जुही की कली,
× × × × ×
जिसे कहते हैं मलयानिल।

इस छंद में भाषा का माधुर्य-शब्द चयन और शृंगार रस की छटा कितनी निराली और सजीव है, इसे अनुभव ही किया जा सकता है, व्यक्त नहीं किया जा सकता।

निरालाजी की चित्रात्मकता का एक उदाहरण—

वो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता—
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता—

एक भिखारी का करुणा पूर्ण चित्र साकार हो उठा है।

इन्हीं विशेषताओं के कारण निराला अमर हैं उनका काव्य स्रोत अजस्र है और उनकी प्रतिभा मूर्धन्य है।

शैली—निराला जी की शैली पर बंग-शैली का प्रभाव है। उसमें समास-युक्त लम्बी पदावलियों की अधिकता है। स्वच्छन्दवादी होने के कारण निरालाजी की शैली कोई एक नहीं है। इनकी उपमाएं नवीन हैं। संगीत प्रधान शैली इनके काव्य को विशेष महत्त्व प्रदान करती है।

निराला हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ कलाकार हैं। इनकी प्रतिभा बहुमुखी है। ये सब दृष्टियों से निराले थे। ये युग प्रवर्त्तक कवि कहे जा सकते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है—

"निराला से बढ़कर स्वच्छन्दवादी कवि हिन्दी में कोई नहीं है।"

महादेवी वर्मा (जन्म सं० १९६४—विद्यमान)

'मैं नीर भरी दुख की बदली।
मेरा परिचय इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली॥'

उपर्युक्त छन्द महादेवी के जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने में बहुत अंशों तक सफल हैं। इस नीर भरी दुःख की बदली महादेवी का जन्म संवत् १९६४ में फर्रुखाबाद में हुआ। इनके माता-पिता भारतीय संस्कृति के पावन संस्कारों में सने आचार-निष्ठा वाले प्राणी थे। इनकी माँ मीरा के भक्तिपूर्ण पदों को बड़ी तन्मयता से गाया करती थीं। इन पदों से प्रेरित होकर ही सम्भवत: महादेवी के गीत प्रस्फुटित हुए हैं। देवी जी इस समय प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्या हैं। आज की जाग्रतशील महिलाओं में आप वरेण्य हैं और समाज तथा राष्ट्रसेवा इनका प्रमुख उद्देश्य हो गया है।

महादेवी जी एक कवयित्री और सफल लेखिका के रूप में विशेष ख्याति प्राप्त हैं। आप के काव्य ग्रंथों में नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्यगीत आदि प्रसिद्ध हैं। गद्य-काव्यों में 'शृङ्खला की कड़ियाँ' और 'अतीत के चलचित्र' बहुत प्रसिद्ध हैं। कविताओं में आप एक भावुक अन्तर्मुखी कलाकार के रूप में आती हैं। किन्तु गद्य-ग्रन्थों में आपका यथार्थवादी स्वरूप भी झलकता है।

महादेवी का काव्य-सौष्ठव अनुपम है। इन्होंने अपने-अपने जीवन की एकाकी अनुभूतियों को कोमल, सरस एवं मधुर शब्दों में व्यक्त किया है। एक अव्यक्त वेदना से आपकी पंक्तियाँ सनी हुई हैं। कहीं-कहीं आप चिन्तक और संवेदनशील बनकर आत्मप्रकाशन करती हैं। वे कण-कण में उस विराट सत्ता की झाँकी पाती हैं और उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति में आप बिल्कुल रहस्यवादी बन गई हैं। इस विराट को उन्होंने प्रणयी के रूप में चित्रित किया है।

महादेवी जी वेदना में खो सी गई हैं। वेदना को इन्होंने अपने जीवन का अंग बना लिया है। इनका प्रियतम पीड़ा में ही दिखाई पड़ता है। इनकी इस वेदना में उत्तरोत्तर विकास होता गया है और अज्ञात के प्रति यह अनुराग की भावना पूर्ण अलौकिक है।

भाषा शैली की दृष्टि से इनके काव्य अति उत्तम हैं। इनकी भाषा परिष्कृत एवं परिमार्जित है। इनकी भाषा में संस्कृत के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। संस्कृत की कोमलतम पदावली द्वारा खड़ी बोली का माधुर्य और बढ़ गया है। आपके काव्य में संगीतमयता और चित्रात्मकता का अनोखा स्वरूप मिलता है। शब्दों का चयन बड़ी ही कुशलता से किया गया है। इसलिये शब्द-शिल्पी और चित्रकर्तृ महादेवी वर्मा की अनुभूतियाँ साकार रूप धारण कर लेती हैं। भाषा के सौन्दर्य की एक झलक निम्न पंक्तियों में देखिये—

आँसू!

कैसे कहते हो सपना है, अलि! उस मूक मिलन की बात भरे हुए अब तक फूलों में, मेरे आँसू, उनके हास।

सुकोमल भाषा, शब्दों का चयन, वाक्य विन्यास महादेवी के भावों को साकार रूप देने में कितने समर्थ हैं, यह उपर्युक्त उद्धरणों में दर्शनीय है। अनुभूति की गहराई को व्यक्त करने में उनकी भाषा-शैली अपने ढंग की निराली है।

मैथिली शरण गुप्त

(जन्म सं० १६४३ : मृत्यु सं० २०२१)

गुप्तजी का जन्म श्रावण शुक्ल द्वितीया सोमवार को सं० १६४३ में चिरगाँव जिला झाँसी में हुआ था। आपके पिता सेठ रामचरण जी थे जो हिन्दी-प्रेमी थे और कविता भी करते थे। पिता के सारे संस्कार गुप्त बन्धुओं! श्री मैथिली शरण जी और श्री सियारामशरण जी, पर पड़े थे। इसी के परिणाम स्वरूप इन गुप्त बन्धुओं ने वाणी मन्दिर में माँ सरस्वती की उपासना करते हुए अपनी काव्य रूपी पुष्पांजलि समर्पित की।

श्री मैथिलीशरण गुप्त सरल और सात्विक स्वभाव के व्यक्ति थे। वे भी तुलसी की भाँति राम के अनन्य भक्त एवं उपासक थे। आस्तिकता की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी थी। वे आदर्शवादी कवि थे। उनकी कला कला के लिए नहीं अपितु जीवन के लिए थी।

हो रहा है जो यहाँ सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा।

किन्तु होना चाहिये क्या क्या कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।

गुप्त जी की करुणा और सहृदयता तथा उनकी वैष्णव भक्ति उनके काव्यों में परिलक्षित होती है। नारी के दुख को देख कर उनकी करुणा विलख उठती है।

अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

गुप्तजी की ये अमर पक्तियाँ उनकी सहृदयता व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं।

गुप्त जी के काव्यों में राष्ट्रीयता और सुधारवादी भावना भरी पड़ी है। आप ने गीतात्मक कवितायें भी लिखी हैं। आप के गीति-काव्य अति भावपूर्ण और करुणामय हैं।

आपके काव्यों में 'अनघ', 'भारत भारती', पञ्चवटी, 'जयद्रथ वध', 'यशोधरा' साकेत, रग में भग और द्वापर विशेष उल्लेखनीय हैं। यशोधरा और साकेत के भावपूर्ण अश अत्यधिक कलात्मक है। इस तरह का एक और भावपूर्ण स्थल यशोधरा में अवलोकनीय हैं—

सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात।
पर चोरी चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।
× × ×
सखि, वे मुझसे कहकर जाते, तो कह क्या मुझको
वे अपनी पथ—बाधा ही पाते॥

साकेत में भी यह अश दर्शनीय है—मुझे फूल मत मारो!
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
× × ×
लो यह मेरी चरण धूलि, उस रति के सिर पर धारो।

यहाँ गीतात्मकता और भाव सबलता देखते ही बनती है।

गुप्त जी की प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा साधारण, रूखी है। शैली इतिवृत्तात्मक है किन्तु बाद में भाषा भावानुकूल, मृदुल और परिमार्जित हो गई है। कहीं कहीं अलकार विधान बहुत ही अच्छा है। अनुप्रास, उपमा रूपक आदि का प्रयोग गुप्तजी ने कलात्मक रूप में किया है। गुप्त जी की शैली में मुहावरों का प्रयोग नहीं के बराबर है। आ० शुक्ल ने इनकी प्रतिभा की प्रशसा करते हुए लिखा है—"गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बढ़ती हुई भावनाओं और काव्य प्रणालियों को ग्रहण करके चलने की शक्ति। भारतीय विचार धारा की दृष्टि से गुप्त जी आधुनिक काल के कवियों में सबसे बड़े हैं।"

आ० रामचंद्र शुक्ल

(जन्म सं० १९४१ : मृत्यु सं० १९९७)

आधुनिक युग के प्रमुख आलोचक, श्रेष्ठ निबन्धकार एवं विचारक आ० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म हिन्दी साहित्य जगत् के लिये वरदान सिद्ध हुआ। इस व्यक्ति ने अपनी 'जन्म-भूमि, बस्ती के 'अगौना' गाँव के नाम को भी अमर कर दिया। इनके पठन-पाठन-केन्द्रों में मिर्जापुर, प्रयाग एवं काशी प्रमुख थे। ड्राइङ्ग के शिक्षक के रूप में जीवन-प्रारम्भ करने वाला व्यक्ति साहित्य के क्षेत्र में इतना यश प्राप्त कर लेगा, इसकी कल्पना कौन कर सकता था ?

स्वाध्ययन एवम् अध्यवसाय ने इन्हें शीघ्र ही साहित्याकाश में चमका दिया। इनकी प्रतिभा से काशी के उच्च कोटि के विद्वान भी प्रभावित हो गये और इन्हें 'नागरी प्रचारिणी सभा' से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दी शब्द सागर' के प्रकाशन-कार्य के लिए आमन्त्रित किया।

इस नगरी ने इन्हें विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया और इन्हें विचरण करने का उन्मुक्त वातावरण मिला। उन्होंने सभा के लिए कई ग्रन्थों का सम्पादन किया और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखकर अपने को अमर बना लिया। कोश का कार्य समाप्त होने के पश्चात् शुक्ल जी की नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापक के रूप में हुई। यहीं से इनका साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हुआ।

शुक्ल जी का साहित्यिक व्यक्तित्व विविध पक्षों वाला है। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली में कविताएं लिखीं। अनुवाद कार्य में भी आप सफल रहे। निबंध-कार के रूप में इनकी सफलता का गौरव चिन्ह है—चिन्तामणि (दो भाग)। समीक्षक के रूप में इन्होंने तुलसी, जायसी ग्रन्थावली गोस्वामी तुलसीदास, महाकवि सूरदास, त्रिवेणी आदि पुस्तकों का सम्पादन एवम् सृजन किया। इनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में भी इनकी समीक्षा की कला निखर उठी है।

कहानीकार एवं उपन्यासकार के रूप में भी शुक्ल जी याद किये जायेंगे। इनकी कहानी—'ग्यारह वर्ष का समय', प्रारंभिक कहानियों में श्रेष्ठ कहानी मानी जाती है। इनका 'शशांक' उपन्यास बंगला से हिन्दी में रूपान्तरित किया हुआ है।

शुक्ल जी की आलोचना मुख्यतः दो प्रकार की है—सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक। इनके अतिरिक्त ये विवेचनात्मक और निर्णयात्मक समीक्षक भी माने जाते

हैं। सूर और तुलसी आदि की आलोचना व्यावहारिक है। 'चिन्तामणि' के कुछ निबन्ध सैद्धान्तिक समीक्षा के निबन्ध कहे जा सकते हैं।

शुक्ल जी की भाषा शुद्ध, सशक्त एवं गम्भीर है। इनकी भाषा के दो रूप देखे जाते हैं—क्लिष्ट और व्यावहारिक। जहाँ इन्होंने सिद्धान्तों की चर्चा की है वहाँ भाषा क्लिष्ट है। भावात्मक निबन्धों की भाषा भी गम्भीर है। उत्साह, क्रोध, घृणा आदि निबन्ध क्लिष्ट भाषा में लिखित हैं। इनकी भाषा में उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग है। बोलचाल के शब्दों का प्रयोग भी इन्होंने खुलकर किया है।

डा० शुक्ल की शैली विविध प्रकार की है। **आलोचनात्मक शैली** में उन्होंने पाण्डित्य पूर्ण विचारों को लिखा है। **गवेषणात्मक शैली** का प्रयोग 'काव्य में रहस्यवाद' 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' आदि निबन्धों में हुआ है। **भावात्मक शैली** इनके भावात्मक निबन्धों में व्यक्त हुई है। इनकी **व्यंग्यात्मक शैली** भी काफी प्रभावक है।

साहित्यिक इतिहास लेखक के रूप में डा० शुक्ल का स्थान हिन्दी में अत्यन्त गौरवपूर्ण है, निबन्धकार के रूप में ये किसी भी भाषा के लिए गर्व के विषय हो सकते हैं। समीक्षक के रूप में तो ये अभी तक हिन्दी में अनुपमेय हैं औ(शायद रहेंगे भी। ऐसे महान कलाकार की कमी आज सचमुच खल रही है।

जैनेन्द्र

(सन् १९०१—विद्यमान)

मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक कथाकार जैनेन्द्र जी का जन्म कौड़ियागज (अलीगढ़) में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद इन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जाना पड़ा। १९२१ के आन्दोलन में इन्होंने भाग लिया और इसी समय पढ़ाई भी छूट गयी।

कई स्थानों की खाक छानने के उपरान्त इन्होंने लेखन कार्य प्रारम्भ किया—ये कहानीकार, उपन्यासकार आदि के रूप में महान हैं।

रचनाएँ :—

कहानी—फाँसी, वातायन, नीलम देश की राजकन्या।

उपन्यास—परख, त्यागपत्र, सुनीता, कल्याणी, सुखदा, व्यतीत, जयवर्द्धन।

निबन्ध संग्रह—प्रस्तुत प्रश्न, पूर्वोदय, सोच विचार, साहित्य का श्रेय और प्रेय।

जैनेन्द्र जी ने सम्पादन कार्य में भी सफलता प्राप्त की है।

जैनेन्द्र जी के प्रायः सभी उपन्यासों में दार्शनिक और आध्यात्मिक तत्व विद्यमान हैं। इनके पात्र संख्या में कम हैं। कहीं-कहीं क्रान्तिकारिता तथा आतंकवादिता के विचार भी इनके उपन्यासों में दिखलाई दे देते हैं।

नारी पात्रों के चरित्र चित्रण में जैनेन्द्र जी मनोविज्ञान का अवलम्ब लेते हैं। स्त्री के विविध रूपों, उसकी शक्ति तथा उसके अन्तर्द्वन्द को जैनेन्द्र जी ने सुन्दर ढंग से अंकित किया है।

आपकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से पूर्ण है। इनकी भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं। उर्दू के सरल, प्रचलित एवं व्यावहारिक शब्द भी इनके साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं। चिन्तन प्रधान एवं दार्शनिकता से पूर्ण होने के कारण आपने निबन्धों की भाषा कड़ी है पर उपन्यास तथा कहानियों की ज़ ??

आपके उपन्यासों और कहानियों की शैली सरल और स्वाभाविक है। निबन्धों में विचारात्मक और दार्शनिक शैली का प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं वर्णनात्मक या विवरणात्मक शैली का भी प्रयोग हुआ है।

जैनेन्द्र जी पहले कथाकार हैं, बाद में कुछ और। प्रगतिशील कथा-साहित्य के उन्नायकों में आपका स्थान प्रमुख है।

हिन्दी-साहित्य में जैनेन्द्र का स्थान महान है। आज के नये कहानीकार निश्चित रूप से इनका पत्ता काटना चाहते हैं और इसी उद्देश्य से इन्हें प्राचीन या रूढ़िवादी कहकर अपमानित करने की चेष्टा भी करते हैं, किन्तु उन नये कथाकारों को यह ज्ञात होना चाहिए कि जैनेन्द्र जी को अपने युग में जो सफलता मिली और आज भी साहित्य संस्थानों में जो मिल रही है वह नये कथाकारों में से किसी को नहीं मिल सकती। आज का युग ही कुछ परिवर्तित हो गया है। यह प्रेमवादी और कुण्ठावादी युग जैनेन्द्र की स्वस्थ कहानियों से क्यों आनन्दित हो? आज तो उन्हें चाहिए—प्रेम और मिलन की रंगीन कहानी।

भाषा की सरलता, शैली की सुगमता तथा विचारों की विविधता को देखते हुए जैनेन्द्र जी की महानता अपने आप सिद्ध हो जाती है।

सुमित्रानन्दन 'पन्त'

(जन्म २० मई १९०० ई०—विद्यमान)

अल्मोड़ा के कौसानी ग्राम में उत्पन्न प्रकृति के सुकुमार कवि बचपन में ही मातृहीन हो गया। पिता तथा दादी के प्रेम की छाया में उसका प्रारम्भिक लालन-पालन हुआ। अल्मोड़ा और बनारस में उच्च शिक्षा प्राप्त कर कवि ने गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया। बनारस से ही कवि की वास्तविक प्रतिभा काव्य-जगत् में व्यक्त हुई।

कवि की प्रारम्भिक रचनाएँ 'वीणा' में संकलित हैं। कवि पर कवि रवीन्द्र तथा दर्शनशास्त्री अरविन्द का प्रचुर प्रभाव पड़ा। इनकी काव्य रचनाओं में 'उच्छ्वास', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'छाया', 'स्वप्न', 'गुञ्जन', 'युगान्त', ग्राम्या आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी आधुनिकतम रचनाओं में 'कला और बूढ़ा चाँद' तथा 'लोकायतन' प्रसिद्ध हैं।

नाटककार पन्त ने 'ज्योत्स्ना' नाटक की सृष्टि की। कहानी साहित्य की ओर भी इनकी रुचि रही। 'पाँच कहानियाँ' नाम सेइनका एक कहानी संग्रह भी प्रकाशित हुआ।

समीक्षात्मक गद्य, आत्मकथा तथा अनुवाद प्रस्तुत करने में भी कवि को सफलता मिली। सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक पक्षों की व्याख्या इनके ग्रन्थों में सफलतापूर्वक की गई है।

साहित्य की अनेक दिशाओं में कार्य करने पर भी पन्त जी की काव्य-प्रतिभा ही प्रमुख है। काव्य में ही उनके प्रौढ़ भाव व्यक्त हुए हैं।

पन्त जी प्रकृति के सुकुमार कवि कहे जाते हैं। ये प्रकृति के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार हैं। प्रकृति का सजीव चित्र उपस्थित करने में इन्हें पूर्ण सफलता मिली है। प्रकृति-चित्रण में इनकी सफलता निम्नलिखित छन्द से ही सिद्ध हो जाती है :—

मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग सुमन फाड़।
अवलोक रहा है बार-बार, नीचे जल में निज महाकार॥

पन्त जी रहस्यवाद और छायावाद के प्रमुख कवि हैं। इनके अतिरिक्त इनके काव्य में गांधीवाद और मार्क्सवाद का भी चित्रण हुआ है। इनका मानवतावादी

दृष्टिकोण भी इनकी रचनाओं में झलक रहा है। इनका यह कथन इनके मानवतावादी विचारों को सिद्ध करता है—

> विश्व प्रेम का रुचिकर राग, पर सेवा करने की आग,
> इसे न माँ मन्द पड़ जाने दे।

पन्त जी की भाषा शुद्ध, साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी है। संस्कृत के सरल और कठिन तत्सम शब्दों के साथ ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग भी इनके साहित्य में दिखलाई देता है। ये आवश्यकता पड़ने पर कुछ नये शब्दों का प्रयोग भी कर लेते हैं। इनकी शैली संगीतात्मक, चित्रात्मक एवं कोमलकान्त पदावली की शैली है। शब्दों की कोमलता तथा इनकी भाषा की मधुरता इनके काव्य को मधुर बनाने में समर्थ है।

पन्त जी अस्वस्थ हैं, फिर भी काव्य-सेवा में रत हैं। इनकी काव्य-कला पर विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि ये हिन्दी के श्रेष्ठ कवि हैं।

रामवृक्ष 'बेनीपुरी'

इनका जन्म १९०२ ई० में मुजफ्फरपुर के बेनीपुर ग्राम में हुआ था। १९२० में असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण शिक्षा का क्रम टूट गया। साहित्यिक ग्रन्थों के पठन-पाठन से साहित्य अथवा काव्य के प्रति रुचि उत्पन्न हुई।

इनका साहित्यिक जीवन पत्रकारिता से प्रारम्भ हुआ। तरुण भारत किसान मित्र, युवक, नईधारा आदि कई पत्र-पत्रिकाओं का इन्होंने सम्पादन किया।

बेनीपुरी जी बहुमुखी प्रतिभा के लेखक हैं। इनकी रचनाओं में कहानी, उपन्यास, नाटक, रेखाचित्र जीवनी आदि प्रमुख हैं। इन्होंने बाल साहित्य पर भी काफी लिखा है।

बेनीपुरी जी की सम्पादित कृतियों की संख्या ८ से अधिक है। इनकी रचनाओं में—माटी की मूरतें, गेहूँ और गुलाब, कैदी की पत्नी, सीता की माँ, अम्बपाली, विजेता प्रसिद्ध हैं।

इनके जीवनी-साहित्य में 'जयप्रकाश' प्रसिद्ध है।

एक विशिष्ट प्रकार की अलंकृत भाषा तथा भावुकता प्रधान शैली के कारण हिन्दी गद्य के इतिहास में रामवृक्ष बेनीपुरी का अपना स्थान है। इस प्रकार की भाषा शैली संस्मरण और रेखा-चित्रों के लिये अधिक उपयुक्त है। इनकी 'माटी की मूरतें' नामक रचना बहुत प्रसिद्ध है। इसमें संकलित विभिन्न रेखाचित्र प्रतिदिन के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं। इनकी अलकृत भाषा-शैली सर्वत्र देखी जाती है। इनकी शैली कहीं-कहीं भाषण शैली की तरह हो जाती है और उसमें उपदेश की प्रवृत्ति भी पाई जाती है।

रामवृक्ष बेनीपुरी के नाटक ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित हैं। 'अम्बपाली', 'तथागत' तथा विजेता की कथावस्तु ऐतिहासिक है। इन नाटकों में अभिनेयता के सारे लक्षण हैं।

बेनीपुरी जी ने विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं की सेवा द्वारा भी हिन्दी की सेवा की है। इनका नाम बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संस्थापकों में लिया जाता है। इनका सम्बन्ध अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन से भी रहा है।

बेनीपुरी जी हिन्दी जगत में प्रसिद्ध कथाकार, उपन्यासकार एवं नाटककार हैं। यदि इनकी भाषा से क्लिष्टता-दोष निकल जाय तो इनका साहित्य और भी अधिक जनप्रिय हो जाता।

हरिवंश राय बच्चन

इनका जन्म ई० १९०७ में प्रयाग में हुआ। एम० ए० पी० एच० डी० की शिक्षा प्रयाग तथा केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में हुई। अनेक वर्षों तक प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में प्राध्यापक रहे। आज ये विदेश मन्त्रालय में विशेषज्ञ हैं।

बच्चन प्रमुखतः कवि हैं। इनका पहला काव्य संग्रह 'मधुशाला' है। इसके प्रकाशन के साथ ही साथ बच्चन का नाम हिन्दी साहित्य में चमक उठा। मधुशाला, मधुबाला और मधुकलश एक के बाद एक, ये तीनों संग्रह शीघ्र ही सामने आ गये। इनके अन्य काव्य ग्रन्थों में निशा निमंत्रण, एकान्त संगीत, आरती और अंगारे, प्रणय पत्रिका आदि प्रसिद्ध हैं। 'प्रारम्भिक रचनायें' ३ भागों में प्रकाशित है। यह कहानियों का संग्रह है।

बच्चन जी हिन्दी-कविता के बड़े लोकप्रिय कवि हैं। इनकी लोकप्रियता का प्रधान कारण इनकी सरलता और संगीतमयता है। प्रारम्भ में बच्चन जी ने आत्मानुभूति पर ही कविता की है। समाज की अभावग्रस्त व्यथा, नियति और व्यवस्था के आगे व्यक्ति की असहायता और बेबसी आदि इनके काव्य विषय हैं।

बच्चन आत्मकेन्द्रित कवि हैं। इसी कारण 'बंगाल के काल', और महात्मा गान्धी की हत्या पर लिखी कविताएँ नीरस तथा कवित्त रहित हैं।

हालावादी बच्चन ने सामान्य बोलचाल की भाषा को काव्य-भाषा का रूप दिया। इनका काव्य-पाठ बड़ा ही मनोरंजक होता है। जनता इनके मधुकलश, मधुबाला आदि ग्रन्थों की कविताएँ इनसे ही सुनकर मन्त्रमुग्ध हो जाती है।

कविता के अतिरिक्त बच्चन समीक्षात्मक निबन्धकार भी हैं। इन्होंने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद 'जनगीता' के नाम से किया है।

इनकी शैली गेय और सुगम है। शैली की सुगमता, संगीतमयता, भाषा की सरलता, जीवन के मार्मिक विवेचन आदि गुण बच्चन के काव्य में महत्व प्रदान करते हैं।

उदाहरण :—]

सत्य हुआ मुखरित जीवन में
मत सपनों का गीत सुनाओ।
मुझे न सपनों में उलझाओ।

मधुबाला का राग नहीं अब,
अंगूरों का बाग नहीं अब।
अब लोहे के चने मिलेंगे,
दाँतों को अजमाओ,
आगे हिम्मत करके आओ।

—